डॉ० विद्याभूषण भारद्वाज
एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशन प्रतिष्ठान
सुभाष बाजार, मेरठ।

शाखाएं :

साहित्य-संस्थान
नवीन शाहदरा
दिल्ली

साहित्य-सदन
नजीबाबाद
(बिजनौर) उ० प्र०

मुद्रक
नव युगान्तर प्रेस
शारदा रोड, मेरठ।

भूमिका

महर्षि दयानन्द इतिहास मे एक महान् समाज सुधारक के रूप मे देखे जाते हैं। पहिले-पहिल इसी रूप मे मैंने भी उनको जाना था। परन्तु जैसे-जैसे मैंने उनके दार्शनिक विचारो का अध्ययन किया मुझे दयानन्द मे उच्च कोटि की दार्शनिक प्रतिभा का दर्शन हुआ। बचपन मे न तो मैं आर्यसमाजी वातावरण मे पला और न मेरी शिक्षा ही किसी आर्यसमाजी सस्था मे हुयी। मेरी शिक्षा का सारा ही काल स्कूल व कालिजो के वातावरण मे बीता। अत मैं यह अनुभव करता हूँ कि यदि मैं किसी विद्वान आर्य सन्यासी अथवा दार्शनिक के चरणो मे दर्शनो का अध्ययन करता तो सम्भवत वैदिक-दर्शन के विषय मे कुछ गहराई से जान पाता। कालिज मे विद्यार्थी काल मे ही मुझे महर्षि के अनुपम ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश को पढने का अवसर प्राप्त हुआ। इससे पूर्व मेरे मस्तिष्क मे भी श्री स्व० शकराचार्य जी के अद्वैतवाद की गहरी छाप थी। परन्तु ज्यो-ज्यो मैंने महर्षि के ग्रन्थो का अध्ययन किया तो मुझे पता चला कि दयानन्द दार्शनिक प्रतिभा मे अपने पूर्वाचार्यो से अधिक ही हैं। स्वामी जी के अकाट्य तर्कों व प्रमाणो के सम्मुख मुझे अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत इत्यादि दार्शनिक मत फीके लगने लगे। मैंने पी–एच० डी० की उपाधि के लिये इसी विषय को सर्वथा उपयुक्त समझा। सात वर्ष के परिश्रम से पूर्वी व पश्चिमी दार्शनिको का अध्ययन कर यह पुस्तक बनाई। इस पर मुझे पी-एच० डी० की मुझे उपाधि आगरा विश्व विद्यालय से प्राप्त हुयी।

स्वामी जी के दार्शनिक विचार उपरोक्त सभी आचार्यों से भिन्न हैं। दयानन्द वैदिक दर्शन को किसी एकाधवाद या मत के आधार पर नही देखते, वरन् उन्होने वैदिक दर्शनो को उनके वैदिक आधार पर रखा। उनकी वैदिक दर्शन को सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होने छहो वैदिक दर्शनो मे समन्वय को बताया है। दयानन्द से पूर्व प्राय सभी आचार्य षड्-वैदिक-दर्शनो मे विरोध को देखते थे। महर्षि ने वेद को आधार बनाकर षड्-वैदिक-दर्शनो मे एक ही दार्शनिक प्रणाली व विचारो का प्रतिपादन कर विश्व-दर्शन को एक नवीन दृष्टिकोण दिया है।

दयानन्द की दार्शनिक विचारधारा को मैंने यथार्थवादी त्रैतवाद की सज्ञा दी है। क्योकि दयानन्द तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्म-जीव-प्रकृति इन तीनो को अनादि सत्य मानते हैं अत यह त्रैतवाद है। तथा आपके मत मे ससार की सत्ता सत्

है। यह शकर की माया के समान मिथ्या नहीं है। इससे मैंने इसे यथार्थवाद कहा है। आपके दर्शन मे आदर्शवाद (Idealism) मे उत्पन्न होने वाली कमियें नही हैं, साथ ही यथार्थवादी होते हुये भी दयानन्द मे भौतिकवाद की कमिये भी नही हैं।

इस पुस्तक मे मैंने दयानन्द के मनोविज्ञान व नीतिशास्त्र सम्बन्धी विचारो का भी सूक्ष्म मे वर्णन किया है। इन विषय को कभी किसी और पुस्तक मे विषद् रूप से उठाऊगा।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण अब से दो माह पूर्व निकला था जिसका आर्य जनता मे स्वागत हुआ। मेरे पास अनेक आर्य सज्जनो व दर्शन प्रेमियो का आग्रह आया कि इस पुस्तक को सस्ते सस्करण मे छपवाया जाय। पहिला संस्करण थोडी मात्रा मे होने से महगा था। प्रकाशक महोदय ने पुस्तक की माग को देखते हुये इसका यह सस्ता सस्करण छपवाया है। इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

मैंने इस पुस्तक को अत्यन्त सरल भाषा मे लिखने का प्रयास किया है जिससे जन-साधारण स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारो को जान सके तथा जिस प्रकार शकर का माया का सिद्धान्त आज जन-साधारण के विचारो मे समाया है उसी प्रकार दयानन्द का यथार्थवाद भी जन-साधारण का दर्शन बन सके।

इस पुस्तक मे जहा भी आवश्यक समझा पूर्वी व पश्चिमी दार्शनिको तथा विभिन्न धर्मों पर निष्पक्ष भाव से समालोचना की गयी है। यह पुस्तक पक्षपात की भावना से हटकर बनाई गयी है। मेरी अल्प बुद्धि मे यदि दयानन्द के विचार भी न आ सके तो मैंने अपनी उनसे असहमति बतायी है। इसमे विद्वान् यह न समझे कि मैं कोई विद्वान हू वरन् यह तो मेरी बुद्धि की अल्प ग्रहण-शक्ति का प्रश्न है। यदि कोई विद्वान मेरी त्रुटियो की ओर सकेत करने की कृपा करेंगे तो मैं उन्हें समझने पर सहर्ष स्वीकार करूंगा।

७७६/११ ब्रह्मपुरी,
निकट ट्यूबवैल ब्रह्मसिह
मेरठ—२।

—वेद प्रकाश

प्रकाशकीय

गुरुडम, पाखण्ड, अन्धविश्वास आदि के सागर मे डूबते हुए हिन्दू धर्म को उबारने वाले एव वैदिक संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने वाले सत्यान्वेषी महर्षि दयानन्द का योगदान अविस्मरणीय है। सत्यार्थ प्रकाश से उन्होने आर्यजनो के मानस मे ज्ञान का प्रकाश फैलाया। ज्ञान के इस प्रकाश से विधर्मी भी चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सके।

महर्षि के इस योगदान से तो सभी परिचित हैं किन्तु उनके दार्शनिक विचारो की सुस्पष्ट एव वैज्ञानिक व्याख्या से अधिकाश आर्यजन अपरिचित हैं। स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारो का विधिवत् गवेषणापूर्ण अध्ययन सरल एव सुबोध शैली मे प्रस्तुत करके, मेरठ कॉलेज के दर्शन विभाग के प्राध्यापक डॉ० वेद प्रकाश गुप्त ने पी एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

आर्य जगत् के प्रतिष्ठित विद्वानो के बराबर आग्रह पर हमने इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया किन्तु कारण विशेष से इसकी प्रतियां अधिक न छपवाई जा सकीं। इस कारण इसका मूल्य अधिक हो गया। प्रथम सस्करण छपते ही आर्य जगत् मे इसका बहुत बडा स्वागत हुआ। मूल्य अधिक होने के कारण आर्य विद्वानो ने इसके सस्ते सस्करण का इसलिये आग्रह किया कि यह प्रत्येक आर्यजन की थाती बन सके। इसी भावना से प्रेरित होकर हमने इसका सस्ता सस्करण प्रकाशित किया है।

इस ग्रथ की विशेषता इसी से लक्षित है कि विभिन्न विश्वविद्यालयो ने इसे एम० ए० के पाठ्यक्रम मे स्थान देने का निश्चय किया है।

नवयुगान्तर प्रेस के अधिष्ठाता श्री वीरेन्द्र जी ने अपने अत्यधिक व्यस्त क्षणों मे जिस निष्ठा के साथ इसका मुद्रण मेरठ मे होने वाले आर्य समाज शताब्दी समारोह से पूर्व कर दिया है वह श्लाघ्य है एव उनके आर्य प्रेम का परिचायक है। एतदर्थ वे बधाई के पात्र हैं।

—डॉ० विद्याभूषण भारद्वाज

एम० ए०, पी-एच० डी०

विद्वानो की सम्मतियां

१—दयानन्द-दर्शन शोध ग्रन्थ प्रत्येक आर्य समाज के पुस्तकालय एवं आर्य समाजी के लिये आवश्यक है।

आचार्य बृहस्पति,
एम ए, वेद शिरोमणि, पूर्व कुलपति
गुरुकुल विश्वविद्यालय-वृन्दावन

ओ३म्

२—पिछली कई शताब्दियों से वैदिक आर्य दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे पर्याप्त भ्रान्तिया चली आ रही थीं। महर्षि दयानन्द जी ने उन भ्रान्तियो को दूर किया। महर्षि के विचारो को भी जनसाधारण को बोधगम्य कराने के लिये और विद्वानों मे उठने वाले विवादो के समाधान के लिये महर्षि दयानन्द के विचारों पर भाष्य-पल्लवन-टीका-टिप्पणी की अति आवश्यकता है।

डॉ० श्री वेद प्रकाश जी गुप्त ने 'दयानन्द-दर्शन' पर शोध ग्रन्थ लिखकर एक बडी खटकने वाली न्यूनता की पूर्ति की है। मैं डॉ० जी को एतदर्थ बधाई देता हू और स्वाध्यायशील सत्यान्वेषी जनसाधारण मे सामान्य रूप से और आर्यसामाजिक पुरुषों तथा आर्य समाज से विशेष रूप मे आग्रह करना चाहता हू कि इस सुन्दर ग्रन्थ को अपनावें। आर्य समाज के पुस्तकालयो के लिये तो यह एक आवश्यकीय संग्रह का ग्रन्थ है।

उमाकान्त उपाध्याय
आचार्य
आर्य समाज—कलकत्ता

५—३—७३
१९, विधान सरणि
कलकत्ता—६

विषय-सूच

—:०:—

१

दयानन्द और वेद



आर्यों के जीवन मे वेदो का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्राचीन काल से ही वेद ईश्वरीय ज्ञान के रूप मे श्रद्धा व आदर की भावना मे स्वीकार किए जाते रहे हैं। परन्तु वेद मन्त्र अत्यन्त गूढ एव रहस्यमय हैं। इनकी एक विशिष्ट छन्द रचना है जो सनातन ज्ञान को अपने मे छिपाये रहती है। वेद-मन्त्रो की इस गम्भीरता तथा विशिष्ट छन्द रचना के कारण साधारण तो क्या सस्कृत भाषा मे पारगत मस्तिष्क भी इनके रहस्यो को नही समझ पाता। इसी कारण प्राचीन काल से ही वेदो के भाष्य करने की पद्धति पायी जाती है। परम्परा के अनुसार रावण हमारे सामने वेदो के सर्वप्रथम भाष्यकार के रूप मे आते हैं, परन्तु इनका वेद-भाष्य पूर्णरूप से उपलब्ध नही है। पश्चात्‌वर्ती भाष्यकारो मे स्कन्द-स्वामी, उद्‌गीथ, वररुचि भट्टभास्कर, महिधर, उव्वट व सायण प्रसिद्ध भाष्यकार हैं। इन भाष्यकारो मे सायण का भाष्य सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इन्होने चारो वेदो का भाष्य किया है। सायण के भाष्य का प्रभाव उनके बाद के भाष्यकारो पर स्पष्ट देखने को मिलता है। परन्तु सायण के वेद-भाष्य मे वेद की आत्मा व विचारधारा का सही-सही विकास नहीं हुआ। इनका भाष्य कर्मकाण्डपरक है, ये वेद-मन्त्रों के कर्मकाण्डात्मक भाष्य की धुन मे मन्त्रो के वास्तविक अर्थ व अभिप्राय—जो मूलरूप मे सनातन ज्ञान-विज्ञान का परिचायक है—को ही भूल जाते हैं।[1] परिणामस्वरूप सायण का वेद-भाष्य एक ऐसा भाष्य है, जिसमे मन्त्रो के वास्तविक अभिप्राय को अत्यन्त सकुचित बना दिया

---

१ "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते। एत विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता' अत कर्माणि वेदस्य विषय। तदवबोध, प्रयोजनम्।"
(सायणाचार्य कृत काण्व सहिता भाष्य की उपक्रमणिका से)

गया है तथा जो वेद की महान् प्रतिष्ठा को, उसके ज्ञान को एकदम बुद्धि विरुद्ध कर देता है ?

उन्नीसवी शताब्दी मे, सायण के भाष्य के आधार पर ही योरोपीय विद्वानो ने वेदो के विषय मे एक नवीन विकासवादी मत का प्रतिपादन किया । इस मत के अनुसार वेद आर्य जाति की प्रारम्भिक अवस्था से विकास का वृत्तान्त हैं । इन विद्वानो की व्याख्या प्रकृतिपरक है, जो कि सायण के भाष्य मे प्राप्त होने वाले प्रकृतिवादी विचारो मे ली गई है। ये लोग यद्यपि प्रतिभाशाली, साहसी और कल्पना की उडान मे स्वच्छन्द थे । परन्तु इनकी प्रतिभा व कल्पना-शक्ति वेद की गम्भीर पहेलियो को सुलझाने मे असमर्थ रही-। इसका मुख्य कारण यह था कि वे वेद की भाषा, छन्द-रचना व अमर काव्य को नही समझ सके। उन्होने अपने भाष्यो मे वेदो मे वर्णित रूपको का ब्राह्मणो, उपनिषदो व पुराणो मे प्राप्त गाथाओं व ऐतिहासिक तत्वो से सम्बन्ध बताकर, वैदिक गाथा शास्त्र, वैदिक इतिहास व वैदिक सभ्यता का नवीन मत खडा किया, तथा भाषा-विज्ञान की पद्धति से इनका सम्बन्ध ग्रीक साहित्य से बनाने की चेष्टा मे तुलनात्मक गाथाशास्त्र एव तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का सृजन किया । योरोपीय विद्वानो के इस निष्कर्ष पर पहुँचने मे तीन मुख्य कारण थे—(१) उन्हे वैदिक परम्परा व साहित्य का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था तथा उन्होने प्राचीन ऋषियो की नैरुक्तिक प्रणाली को छोड दिया था, (२) सायण का भाष्य इनका मार्गदर्शक था तथा (३) पश्चिमी विद्वानो को वेद से कोई सहानुभूति नही थी,[1] जिससे वे

---

१ "वेद की प्राचीन धर्म पुस्तक उस पाण्डित्य के हाथ मे आयी, जो परिश्रमी, विचार मे साहसी अपनी कल्पना की उडान मे प्रतिभाशाली, अपने निजी प्रकाशो के अनुसार सच्चे परन्तु फिर भी प्राचीन रहस्यवादी कवियो की प्रणाली को समझने के अयोग्य था। क्योकि वह उस प्राचीन सस्थान के साथ किसी प्रकार की भी सहानुभूति न रखता था, वैदिक अलकारो और रूपकों के अन्दर छिपे हुये विचारो को समझने के लिए, अपने बौद्धिक व आत्मिक वातावरण मे उसके पास कोई मूल सूत्र नहीं था" वेद रहस्य, भा० १, पृ० ३० ले० श्री अरविन्द । अनुवादक अभय' १६४८ ।

भारतीय विद्याओ के बारे मे वास्तविकता को जानने का प्रयास करते । वेदो के सम्बन्ध मे उनके वास्तविक अभिप्राय को बताने वाले किसी मार्गदर्शक नियम के अभाव मे पश्चिमी विद्वानो ने अपने वैदिक विचारधारा के निर्माण मे अधिकतर अटकलबाजी से काम लिया है । श्री अरविन्द का तो स्पष्ट कहना है कि पश्चिमी वेदज्ञो की वैदिक विचारधारा केवल मात्र कल्पना की रेत पर खडी है ।[1]

उपरोक्त वर्णित इन दोनो ही प्रयासो (पूर्वी व पश्चिमी) का मूल्याकन करने पर पता चलता है कि आचार्य सायण के अनुसार तो वेद केवल कर्मकाण्ड की एक ऐसी पुस्तक है जिसके मन्त्रो मे कोई पारस्परिक सगति नही है । तथा योरोपियन विद्वानो के अनुसार वेद आर्य जाति की आदिम काल से उपनिषदो के प्रारम्भ तक की मानसिक अवस्था का लेखा है, जिसे वैदिक कवियो ने छन्दबद्ध कर दिया है । इसमे कहीं भी ऊचे विचार नही है, बल्कि ये बर्बर, आदिम व असभ्य गडरियो के गीतमात्र हैं ।[2] वेद के रचने वाले प्रकृति की शक्ति की पूजा करते थे, उनके प्रकोपो से बचने के लिये यज्ञ किया करते थे, वैदिक ऋषि मूर्ख परन्तु श्रद्धालु उपासक थे ।[3] वेद गाथा शास्त्र हैं[4] और दार्शनिक विचार, ये तो

---

१. "वेद रहस्य, भाग १ पृ० ३१, श्री अरविन्द . अनुवादक 'अभय' १९४८ ।

२. "वेद के विषय मे आधुनिक सिद्धान्त इस विचार से प्रारम्भ होता है, जिसके लिये सायण उत्तरदायी है, कि वेद एक ऐसे आदिम जगली और अत्यधिक बर्बर समाज की सूक्ति सहिता है जिसके नैतिक व धार्मिक विचार असस्कृत थे, जिसकी सामाजिक रचना असभ्य थी और अपने चारों ओर के जगत् के विषय मे जिनका दृष्टिकोण बिल्कुल बच्चो का था । वही पृ० ३१ ।

३ "This was the final outcome of religious thought ..... ending with a belief in one great power, the unknown rather the unseen God, worshipped though ignorantly worshipped through many years by the poets of vedic age"

(The Vedanta Philosophy, p 22, by Max Muller third reprint, Calcutta)

४ See 'Vedic Mythology' by A. A Macdonell

बाद में उपनिषदों में उत्पन्न हुए। इनके अनुसार वेदों में एकेश्वरवाद नहीं बल्कि बहुदेवतावाद है। वेदों में मांसभक्षण है, यज्ञों में पशु-बलि का विधान है, जुआ है और सोम के रूप में सुरा है।

स्वामी दयानन्द के काल तक वेदों के सम्बन्ध में इन सभी भारतीय व पाश्चात्य विचारधाराओं का समुचित विकास हो चुका था। दयानन्द ने देखा कि इन दोनों ही मतों में, वेद के गूढ़ रहस्यों के प्रकाश में आने के स्थान पर उनके भ्रान्त अर्थों का प्रचार किया जा रहा है। जिसके परिणामस्वरूप वैदिक दर्शन व संस्कृति कलंकित हो रही है। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप स्वामी दयानन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी में (स्वामी दयानन्द मैक्समूलर के समकालीन थे) वेद के विषय में, एक तीसरी महान् विचारधारा का सृजन किया। उनका वेद सम्बन्धी मत इन दोनों ही, सायण द्वारा प्रचलित भारतीय एवं पाश्चात्य विचारधाराओं से एकदम भिन्न था। वे वेद को न तो केवल वैदिक कर्मकाण्ड की पुस्तक मानते थे और न आदिम बर्बर आर्य जाति के गीत। वेद के सम्बन्ध में उनकी दो मुख्य मान्यतायें थी—(१) वेदों के ज्ञान का प्रकाश ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में अग्नि, अंगिरा, वायु व आदित्य नामक चार ऋषियों के अन्तःकरणों में मानव-जाति के ज्ञान व कल्याण के लिये किया तथा (२) सनातन सर्वज्ञ परमात्मा का ज्ञान होने से वेद में सारा ज्ञान-विज्ञान बीज रूप में वर्तमान है, इसी से वेद स्वतः प्रमाण हैं। उनकी यह मान्यतायें उनके वैदिक साहित्य के गम्भीर अध्ययन पर आधारित हैं।

वेद के ईश्वरीय ज्ञान में प्रमाण

वेद ईश्वरीय ज्ञान है दयानन्द की इस मान्यता का विवेचन हमें दो प्रकार से करना है, प्रथम तो वैदिक साहित्य—ब्राह्मण, उपनिषद् व दर्शन ग्रन्थों में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर तथा दूसरे तर्क के आधार पर।

(अ) वैदिक साहित्य के प्रमाण—जहां तक वैदिक साहित्य का प्रश्न है, सारा का सारा वैदिक साहित्य दयानन्द के इस मत की पुष्टि करता है कि वेद सनातन सत्य को अपने अन्दर छिपाये हैं तथा ईश्वर ने इनका प्रकाश सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों के शुद्ध अन्तःकरणों में किया था। शतपथ ब्राह्मण कहता है

कि ऋग्वेद का प्रकाश अग्नि पर, यजुर्वेद का वायु तथा सामवेद का सूर्य नामक ऋषियो पर हुआ।[1]

इसी प्रकार श्वेताश्वेतरोपनिषद् मनुस्मृति, वैशेषिक शास्त्र, योग, साख्य, वेदान्त आदि सभी एक स्वर मे वेदो को ईश्वर से उत्पन्न मानते हैं और इसी से उन्हे स्वत प्रमाण मानते हैं।[2]

परन्तु इसके साथ ही हमारे सामने एक अन्य दुविधा पैदा हो जाती है कि वेदो मे मन्त्रो के साथ-साथ उस मन्त्र के द्रष्टा ऋषियो के नाम सयुक्त पाये जाते हैं। इसमे भी वेदो को मनुष्यकृत मानने वालो को भ्राति हो गई है। उनका कहना है कि वेदो के हर मत्र के साथ उसके निर्माता ऋषि का नाम सयुक्त है इससे ये मनुष्यकृत है।

इसके उत्तर मे स्वामी दयानन्द हमारे सामने यह विचार रखते है कि मन्त्रो के साथ जिन ऋषियो के नाम आते है वे मन्त्र-निर्माता नही वरन् मन्त्र-द्रष्टा थे।[3] मन्त्र-द्रष्टा से स्वामी दयानन्द का तात्पर्य उस ऋषि से है, जिसने उस मन्त्र के रहस्य को साक्षात् किया है, अर्थात् जो मन्त्र के अर्थ का प्रकाशक है। मूल वेद के देखने से पता चलता है कि वेदो मे मन्त्रो के साथ ऋषियो के नाम

---

१ "तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्ने ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद सूर्यात्सामवेद।" श० ब्रा० ११-५-२-३।

२ "यो ब्रह्माण विदधाति पूर्व यो व वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै।" श्वेताश्वेतरोपनिषद् ६-१८।

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रय ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजु सामलक्षणम्।" मनुस्मृति, १-२३।

"तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।" वैशेषिक सूत्र १-१-३।

"स एष पुर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्।" योग सूत्र १-२६।

"शास्त्रयोनित्वात्।" वे० द० १-१-३।

"निजशक्त्यभिव्यक्ते स्वत प्रामाण्यम्।" सा० द० ५-५१।

३. "वे (ऋषिगण) तो मन्त्रो के अर्थ प्रकाशक थे" सत्यार्थप्रकाश, पृ० २०५ दयानन्दकृत (सार्वदेशिक प्रेस सस्करण द्वितीय वार स० २०११)

संयुक्त है। किसी-किसी वेद-मन्त्र के साथ तो सौ-सौ ऋषियों के नाम हैं तथा अनेक वेद-मन्त्र तो ऐसे भी हैं जो वेदों में अनेक स्थानों पर दोहराये गये हैं, साथ ही भिन्न-भिन्न स्थलों में उनके ऋषि भी भिन्न-भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में वैदिक विकासवादी कल्पना का मत मानना निरापद नहीं होगा। क्योंकि इस काल्पनिक मत को मानने पर हमारे सामने यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि क्या एक ही मन्त्र का अनेक ऋषियों द्वारा भिन्न-भिन्न काल में निर्माण हुआ होगा और हमारे विचार से इस प्रकार की यह कल्पना वेदबुद्धि व साधारण बुद्धि दोनों के ही विपरीत है। इस समस्या का हल ऋषियों को मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक मानने पर ही हो सकता है जैसा कि निरुक्त भी कहता है 'साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः' (नि० १—१६)। आधुनिक युग के महान् वेद विचारक श्री अरविन्द और श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड दोनों ही इस विषय पर स्वामी दयानन्द से सहमत हैं।[1]

दूसरे यदि हम तर्क से भी देखें तो मानव जाति के ज्ञान के लिये किसी बीजरूपी ज्ञान की परम आवश्यकता है। विकासवादियों का कथन है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान न होकर आर्यों के बौद्धिक विकास का वृत्तान्त मात्र है, जो उन्होंने अनेक सदियों में प्राप्त किया था। वे किसी भी प्रकार के सनातन-ज्ञान के विरुद्ध हैं। महर्षि दयानन्द विकासवादियों के इस सिद्धांत से सहमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि बिना बीज के जिस प्रकार कोई अंकुर पैदा नहीं होता, उसी प्रकार बिना बीजरूप ज्ञान के ज्ञान का विकास भी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए यदि किसी नवजात बालक को किसी निर्जन स्थान में इस प्रकार रखा जाय कि उससे किसी भी प्रकार का भाषण आदि न किया जाय, भोजनादि की व्यवस्था भी इस प्रकार हो कि कोई पुरुष उसके किंचित भी सम्पर्क में न आये। तब क्या वह किसी प्रकार का ज्ञान स्वमेव उत्पन्न कर सकता है।[2] हमारे

---

१ "ऋषि सूक्त का वैयक्तिक रूप से निर्माता नहीं था, वह तो द्रष्टा था एक सनातन सत्य का और एक अपौरुषेय ज्ञान का।" वेदरहस्य, भा० १ पृ० ११, श्री अरविन्द।

२ "दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृ० २७३, शताब्दी संस्करण।

विचार से ऐसी अवस्था मे ज्ञान की उत्पत्ति असम्भव है। इसका स्पष्ट प्रमाण अन्य जन्तुओ द्वारा पाले जाने वाले वालक हैं, जो यदा-कदा शिकारियो को मिल जाते हैं।[1] दूसरा उदाहरण हमारे सामने अफ्रीका महाद्वीप का है, जिस समय योरोपीय जातियें अफ्रीका के गहन जगलो मे पहुँची, वहा उन्हे अनेक वन्य जातियो मे साक्षात् हुआ जिनका व्यवहार पशुतुल्य था। परन्तु गोरी जातियो के सम्पर्क मे यही जातियें कुछ ही वर्षो मे सभ्य जातियो की श्रेणियो मे आ गयी। यदि विकासवादियो का सिद्धात सही होता तो विकास के सिद्धात के अनुसार इन मे भी ज्ञान-विज्ञान का विकास स्वत ही होना चाहिये था। परतु ऐसी वात नही है। योरोपीय जातियो से ज्ञान प्राप्त कर अफ्रीकियो ने उसका विकास किया है। वेद के विषय मे स्वामी दयानन्द का भी यही कथन है कि 'जैसे वडे वन मे मनुष्यो को विना उपदेश के यथार्थ ज्ञान नही होता किन्तु पशुओ की नाई उनकी प्रवृत्ति देखने मे आती है वैसी ही स्थिति वेद के उपदेश के विना सव मनुष्य जाति की होती"।[2] उपरोक्त विवेचन से पता चलता है कि मनुष्य जाति के वीजरूप ज्ञान के लिये किसी ईश्वरीय ज्ञान की नितात आवश्यकता है।

स्वामी दयानन्द का वेद के सम्वन्ध मे दूसरा दावा यह है कि वेदो मे समस्त ज्ञान-विज्ञान है। इस विषय मे दयानन्द का कहना है कि प्रथम तो ईश्वर का ज्ञान होने से वेद अपने आप मे पूर्ण हैं। दूसरे ईश्वर ने यह ज्ञान मनुष्यो के ज्ञान व कल्याण के लिये दिया अत इनमे मनुष्योपयोगी समस्त ज्ञान-विज्ञान होना ही चाहिये।

वेदो का विषय—दयानन्द ने वेद मे निहित ज्ञान को मुख्य रूप से चार विषयो मे वाटा है, एक विज्ञान अर्थात सव पदार्थों को यथार्थ रूप से जानना, दूसरा कर्म, तीसरा उपासना तथा चौथा ज्ञान।[3]

---

१ इस प्रकार एक भेडिये द्वारा पालित वालक रामू का उदाहरण हमारे सामने है। उस वालक ने वहुत प्रयत्न करने पर भी अपना पशु व्यवहार नहीं छोडा।

२. दयानन्द ग्रन्थमाला, पृ० २७३, शताब्दि संस्करण।

३ दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृ० ३१०।

विज्ञान—विज्ञान मे दयानन्द का तात्पर्य ज्ञान की उस प्रणाली से है, जिसमे ज्ञान, कर्म व उपासना इन तीनो के समुचित उपयोग से परमेश्वर से लेकर तृणपर्यन्त समस्त पदार्थों का साक्षात् बोध होता हो, तथा मानव जाति के अभ्युदय व निश्रेयस की प्राप्ति मे उनका यथावत् उपयोग होता हो। इस प्रकार विज्ञान वेदो का मुख्य विषय है। स्वामी दयानन्द विज्ञान के भी दो रूप मानते हैं (१) ईश्वर का यथावत् ज्ञान एव उनकी आज्ञाओ का पालन तथा (२) पदार्थ-विद्या का ज्ञान अर्थात् पदार्थों के गुणो व उपयोग को जानना। इन दोनों मे दयानन्द ईश्वर-विषय को ही वेदो का मुख्य प्रतिपाद्य विषय बताते हैं।[1]

कर्म—कर्म मे वे कर्मकाण्ड को लेते हैं, जिसमे जीवन मे परमार्थ व लोक व्यवहार की सिद्धि होती है। कर्मकाण्ड से स्वामी जी का तात्पर्य केवल यज्ञ-याग से ही नही है वरन् वे उसमें जीवन की समस्त क्रियाओ को सम्मिलित कर लेते हैं।[2]

उपासना—अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति के उपाय करना।

ज्ञान—ज्ञान का अर्थ है "पृथ्वी और तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थो के गुणों के ज्ञान से ठीक-ठीक कार्य सिद्ध करना'।[3] इसे हम आधुनिक विज्ञान के अर्थ मे ले सकते हैं। वेद की भाषा मे विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान ईश्वर, आत्मा आदि के ज्ञान को कहते हैं जबकि ज्ञान, प्राकृतिक विज्ञानो (Natural sciences) के अर्थों मे आता है।

वेदो मे पदार्थ विद्यायें (Natural sciences) हैं या नही यह विषय गम्भीर अनुसधान का है। अभी तक वेदो मे से वैज्ञानिक तथ्यो की खोज का किसी भी सस्था द्वारा कोई नियमपूर्वक एव गम्भीर प्रयास नही किया गया है। अत. वेदो मे साईन्स को सिद्ध करने के लिये कोई ठोस प्रमाण तो हमारे सम्मुख नही है

१ दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृ० ३१०।

२ 'तत्र द्वितीयो विषय. कर्मकाण्डाख्य, स सर्व क्रियामयोस्ति'। वही पृ० ३१४।

३ वही पृ० ३११।

तथापि दयानन्द ने अपनी पुस्तक ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मे वैदिक मन्त्रो मे से विद्युत, तार-विद्या, विमान विद्या, खगोल-विद्या, भूगोल एव गणित आदि का प्रतिपादन किया है। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे, योरोप मे भी इनमे से अनेक विद्याओ का विकास नही हुआ था और वेतार-विद्या तथा विमान-विद्या का तो प्रारम्भ भी न हुआ था। ऐसी अवस्था मे स्वामी जी का वेदो से विमान आदि विद्याओ का प्रतिपादन करना इस वात का स्पष्ट सकेत करता है कि वेदो मे पदार्थ विद्यायें (Natural sciences) वीजरूप मे अवश्य हैं परन्तु उनको विकसित करने के लिये गम्भीर प्रयासो की आवश्यकता है।[1] वर्तमान युग के महान योगी व विद्वान् श्री अरविन्द तो दयानन्द के इस दावे को हल्का वताते है तथा दयानन्द से भी एक हाथ आगे वढकर कहते हैं कि "मैं तो यहा तक कहूगा कि वेदो मे कुछ वैज्ञानिक सत्य तो ऐसे भी है जिन्हे आधुनिक विज्ञान जानता तक नही"।[2] यहा श्री अरविन्द का सकेत मनोविज्ञान आदि से है। वैदिक मनोविज्ञान वास्तव मे अपने आप मे अद्भुत है तथा भविष्य मे विकसित योग-विद्या का वीजरूप है।

पदार्थ विद्याओ (Natural sciences) के अतिरिक्त वेद मे नीति-धर्म, राजधर्म, समाज-धर्म, योग आदि अनेक विद्यायें पायी जाती हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुचे कि वेद मे समस्त ज्ञान-विज्ञान वीज रूप मे उपस्थित है तथा वाद मे वैदिक ग्रन्थो मे ऋषियो ने उसी का विकास किया है।

दयानन्द के इन महान वैदिक प्रयास का यह फल निकला कि वेद, जो अव

१ इस विषय को मे अपनी दूसरी पुस्तक 'वेदो के दर्शन' मे अधिक विषद् रूप से उठाऊगा।

2 "I will even add my own conviction that the Veda contains other truths of science the modern world does not at all possess, and in that case Dayananda has rather understated the depth and range of the Vedic wisdom"

Sir Aurbindo, Bankim Tilak Davanand p 57 3rd Ed

तक सायण के हाथ मे केवल कर्मकाण्ड की पुस्तक थी तथा पश्चिमी विद्वानो के अनुसार प्रकृतिवादी ग्रन्थमात्र थे, जिनमे केवल प्रकृति की शक्तियो की पूजा है, अब एक अध्यात्म तथा ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक हो जाती है। इसमे एक वैज्ञानिक एव नैतिक धर्म है, जो मनुष्यमात्र के लिये है तथा जिसमें मनुष्य की आध्यात्मिक व सासारिक उन्नति का सही-सही मार्ग बताया गया है।

दयानन्द की वेद-भाष्य-प्रणाली

ब्राह्मण व उपनिषदो में वेदो के रहस्यो का व्याख्यान पाया जाता है। यह सबसे पहले ग्रन्थ थे जिनमे ऋषियो ने वैदिक मन्त्रो मे प्राप्त सूत्रो के आधार पर खोजें की। इनमें ब्राह्मण ग्रथो ने वैदिक कर्म-काण्ड सम्बन्धी सूक्ष्म विधियो की रक्षा की और औपनिषदिक ऋषियो ने वेदो के सूक्ष्म व गंभीर आध्यात्मिक ज्ञान को जो वेद का मुख्य विषय है—प्रकाश मे लाने का प्रयत्न किया। ब्राह्मण ग्रन्थो मे वैदिक कर्मकाण्ड की सूक्ष्म विधि को बताने के साथ-साथ उसकी आध्यात्मिक व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। वेद के मत्र प्रतीकात्मक, आलकारिक व छन्दबद्ध हैं। इन ग्रन्थो मे वेद के प्रतीकवाद व आलकारिक भाषा को खोलने का प्रयत्न किया गया है परन्तु इनकी गति मुख्य रूप से कर्मकाण्ड तक ही सीमित है। दूसरी ओर उपनिषदो में ब्रह्म-ज्ञान को अपना मुख्य विषय बनाया है। उन्होंने वेद-मत्रो मे प्राप्त ब्रह्म को अपनी आध्यात्मिक अनुभूति अर्थात् ध्यानसमाधि द्वारा पुनरुज्जीवित किया तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिये ब्रह्म-ज्ञान की महत्ता पर बल दिया। औपनिषदिक ऋषियो के लिये वेद के मत्र उनके विचार और दर्शन के लिये बीजरूप थे।

इन ग्रन्थो मे वैदिक शब्दो के स्वरूप को ठीक-ठीक जानने के लिए तथा उनके अर्थो को वेद की भावना के अनुकूल समझने के लिये एक विशेष विधि का सहारा लिया गया है। इस विधि के अनुसार शब्दो के धात्वर्थों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। वैदिक शब्द जैसे कि वह मन्त्रो मे प्रयुक्त हुये है अनेकार्थवाची हैं। इनके अर्थ विषय के सन्दर्भ के अनुसार बदलते रहते है। अतः वेद के शब्दो के सही-सही अर्थों को जानने के लिये हमें शब्द की मूल धातु तक जाना पडता है। जैसे यज्ञ शब्द है इसका साधारण अर्थ है एक विशेष धार्मिक कृत्य को पूर्ण करने के लिये अग्नि प्रज्वलित करना और उसमे आहुति डालना।

परन्तु इसके धात्वर्थ को देखें तो सर्व प्रकार के श्रेष्ठतम कर्मों को यज्ञ कहा जा सकता है जैसा कि शतपथ ब्राह्मण कहता है 'यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म' (श ब्रा० १–७–१–५)। यज् धातु के ग्रर्थ हैं देवपूजा, संगतिकरण व दान। तैत्तिरिय ब्राह्मण मे ममस्त भुवनो को यज्ञ का नाम दिया गया है, ('यज्ञो वै भुवनम्' तै० ब्रा० ३–३-७-५)। इससे वक्ता ऋषि का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड परमात्मा द्वारा रचा हुग्रा होने से एक वृहद यज्ञ है। इस प्रकार ब्राह्मण व उपनिषद् ग्रन्थ इस वात का निर्देश करते हैं कि वेद के ग्रर्थों को जानने के लिये भाषा के रूढिगत स्वरूप से कोई सहायता नही मिल सकती। वेद की प्रतीकात्मकता को समझने के लिये, उसके रूपको को खोलने के लिये, वेद के शब्दो का यौगिक ग्रर्थ लेना चाहिये, जो शब्द का सम्बन्ध सीधे उसकी मूल धातु से कराता है। निरुक्त वेद के शब्दो का ठीक इसी प्रकार ग्रर्थ करता है। जैसे देव शब्द को ही लीजिये, निरुक्त कहता है 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्यु स्थानो भवतीतिवा यो देव सा देवता'। (नि० ७-१५) ग्रर्थात दान देने से देव है, प्रकाश करने से देव है, उपदेश करने से देव है तथा द्यु स्थान मे स्थित होने से देव है। इसमे हर वह पदार्थ जिसमे उपरोक्त कोई भी गुण है देव की कोटि मे ग्रा जाता है, फिर चाहे वह जड हो या चेतन।

महर्षि दयानन्द ने वेद-भाष्य की इसी प्राचीन नैरुक्तिक प्रणाली को ग्रपनाया।[1] वे वेद के शब्दो को यौगिक मानते हैं रूढि नही। यौगिक शब्द वह होते हैं जो कि ग्रपने ग्रर्थ निर्णय के लिये ग्रपनी धातु पर निर्भर करते हैं। लेकिन जव शब्द किसी वस्तु या परम्परागत ग्रर्थ से सीमित हो जाते है वह रूढ कहलाते हैं। जैसे वृक शब्द है, इसका रूढि ग्रर्थ है भेडिया, ग्रौर जव भी वृक वोल जाता है हमे तुरन्त भेडिये का स्मरण हो जाता है। परन्तु वृक का धात्वर्थ है चीर फाड देने वाला ग्रर्थात् विदारक। भेडिया विदारक प्रकृति का पशु होने से इस ग्रर्थ मे ग्रा जाता है, परन्तु यहा पर वृक शब्द मे सदैव भेडिया ही ग्रभिप्रेत

---

१ 'इस वेद भाष्य मे ग्रप्रमाण लेख कुछ भी नहीं किया जाता है, किन्तु जो ब्रह्मा से लेकर व्यास पर्यन्त ऋषि ग्रौर मुनि हुए हैं उनकी जो व्याख्या रीति है उससे युक्त ही यह वेद भाष्य वनाया जाएगा।'

दयानन्द ग्रन्थमाला भा० २ पृ० २६१।

नहीं है। हम वृक का प्रयोग हर उस जीवधारी के लिये कर सकते हैं जो विदारक प्रकृति का हो। वेद में शब्दों का प्रयोग इसी रूप में किया गया है और दयानन्द इसमें ठीक हैं। उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से वेद के सम्बन्ध में की जाने वाली मूल त्रुटि को पहिचान लिया और सिंहनाद किया कि वेद के वास्तविक अर्थों को जानने के लिये प्राचीन ऋषि मुनियों के मार्ग पर चलो, जिसके आधार पर प्राचीन ऋषियों ने आध्यात्मिक व वैज्ञानिक सत्यों की खोजें की थी। दयानन्द की भाष्य-प्रणाली के औचित्य को महान योगी अरविन्द ने भली-भांति समझ कर घोषणा की कि 'दयानन्द ने ऋषियों के भाषा सम्बन्धी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया है।'[1]

वेद के शब्द रहस्यों से भरपूर हैं, जिनको दिव्य ज्ञान के आदि स्रष्टा ने रूपकों व अलंकारों में बांध कर अमर कर दिया है। ये एक ऐसे दिव्य ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जो स्वरूप में आध्यात्मिक है तथा जिनको भाषा की साधारण पद्धति समझने में सर्वथा असफल है। और प्राचीन ऋषियों की नैरुक्तिक पद्धति को अपनाते ही वेद के मन्त्र, एक सुपात्र विद्वान के लिये रहस्यों को ढकने वाले अपने किवाड़ खोल देते हैं। फिर तो सारे ही वेद-मन्त्रों में एक नियमबद्ध ज्ञान का बोध हो जाता है और तब वेद एक दिव्य ज्ञान की पुस्तक हो जाती है जिसमें एक उच्च कोटि का दर्शन भी मिलता है। पश्चिमी विद्वानों के अनुसार अभी तक वेदों में किसी भी प्रकार के बौद्धिक दर्शन का अभाव पाया जाता रहा है। परन्तु महर्षि दयानन्द के महान् प्रयास से वेदों का एक बौद्धिक दर्शन हमारे सन्मुख आता है। यह दर्शन, एक ऐसा दर्शन है जो उपनिषदों व वैदिक षड्-दर्शनों का मूल स्रोत है तथा जिसके आधार पर हम वेद व उपनिषदों में तथा वैदिक षट्-दर्शनों में आपस में समन्वय स्थापित कर सकते हैं।

दयानन्द वेदों में एक यथार्थवादी दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। इसको हम त्रैतवाद कहेंगे। त्रैतवाद के अन्तर्गत दयानन्द ईश्वर, जीव व प्रकृति तीन सत्ताओं को अनादि मानते हैं। दयानन्द के अनुसार वेद का मुख्य विषय ईश्वर है। परन्तु वेदों में वे बहुदेवतावाद अथवा बहुईश्वरवाद को नहीं मानते।

---

१ वेद रहस्य, भा० १, पृ० ४३, श्रीअरविंद ।

दयानन्द वेदो मे एकेश्वरवाद को मानते है। वेदो का एकेश्वरवाद ही औपनिषदिक ऋषियो का ब्रह्मवाद है। वेद मे ईश्वर, जीव व प्रकृति, कम व कर्मफल, पुनजन्म और मानव की सबसे बडी समस्या परम नि.श्रेयस के प्राप्ति सम्बन्धी विचार मूलरूप से सुरक्षित पाये जाते है। कुछ विद्वानो का मत है कि वेद मे परा विद्या नही है वरन् इनमे अपरा विद्या पाई जाती है। परन्तु दयानन्द की घोषणा है कि वेदो मे परा और अपरा दोनो विद्यायें हैं,[1] तथा वेदो का परम तात्पर्य सर्वशक्तिमान परमात्मा का बोध कराना है इससे यह परा विद्या प्रधान है।[2]

बहुदेवतावाद-हीनोथियिज्म व एकेश्वरवाद

मध्य युग से ही वेदो के विषय मे यह धारणा चली आ रही है कि इनमे अनेक देवताओ की पूजा है, इससे ये बहुदेवतावादी ग्रन्थ है। पाश्चमी सस्कृतज्ञो ने इस विचारधारा का बहुत प्रचार किया। इसके विपरीत महर्षि दयानन्द वेद मे एकेश्वरवाद को मानते हैं। आपका मत है कि चारो वेद एक ही ब्रह्म को सर्वोच्च मानते हैं और उसी की उपासना का आदेश करते हैं एव वेद मे ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की उपासना का विधान कही भी नही है।[3]

वेदो मे सर्वत्र ही एक परमात्मा को देवानाम् देव, परमेव्योमन् तथा सृष्टि का अध्यक्ष आदि विशेषणों से पुकारा गया है। दयानन्द का कहना है कि वायु, सूर्य, उपा आदि प्राकृतिक देव तथा वरुण, रुद्र इत्यादि आध्यात्मिक देव जो वेदो मे आते हैं, वे पृथक-पृथक् मनुष्य शरीरधारी या अन्य किसी प्रकार के

---

१ दयानन्द ग्रथमाला, भाग–२, पृ० ३११।

२ 'अत परमोऽर्थो वेदाना ब्रह्मैवास्ति।' दयानन्द ग्रथमाला, भाग–२ पृ० ३१२।

३. (प्रश्न) वेद मे ईश्वर अनेक हैं इस बात को तुम मानते हो या नहीं ?

(उत्तर–स्वामी दयानन्द) 'नहीं मानते क्यो कि चारो वेदो मे ऐसा कहीं नहीं लिखा जिससे अनेक ईश्वर सिद्ध हो, किन्तु यह तो लिखा है कि ईश्वर एक है।' (सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७४)

शरीरधारी देव नहीं बल्कि व्यवहार के देव हैं। व्यावहारिक देव से दयानन्द का तात्पर्य है कि ये प्रकृति की शक्तियाँ हैं, जो हमारे जीवन पर प्रभाव डालती हैं या आध्यात्मिक क्षेत्र की कुछ दिव्य शक्तियाँ हैं जिनसे जीवन की आध्यात्मिकता का सम्बन्ध है। लेकिन किसी भी स्थिति में यह शक्तियाँ उपासना का विषय नहीं हैं। उपासना का विषय केवल एक ब्रह्म है।'[1]

वेद में बहुदेवतावाद है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम वेद-भाष्य की कौनसी शैली को ठीक समझते हैं अर्थात् प्राचीन नैरुक्तिक पद्धति को अथवा सायण की कर्मकाण्डात्मक या पश्चिमी विद्वानों की नव-निर्मित प्रकृतिवादी पद्धति को। इसका हम पहिले ही विवेचन कर चुके हैं कि वेद के सम्बन्ध में, यदि हमें सत्य को जानना है तब प्राचीन नैरुक्तिक पद्धति को ही अपनाना पड़ेगा। योरोपीय विद्वानों ने अपनी पद्धति के अनुसार देव शब्द के ईश्वर (God) अर्थ ठहरा लिये हैं। देव को ईश्वर समझकर मैक्डोनल साहब ने अपने ग्रन्थों में एक अद्भुत देवगण बना रक्खा है कि सूर्य देवता का रथ सात घोड़े खींचते हैं, उषा देवी कभी सूर्य की पत्नी और कभी माता बन जाती है, इनके मत में उषा हर देवता की प्रणयदायिनी भी है।[2] इन विद्वानों ने वैदिक देवताओं को ग्रीक गाथा-शास्त्र के अपेलो आदि देवताओं से मिलाकर वैदिक गाथा-शास्त्र को मजबूत बनाने की चेष्टा की है और इस प्रकार एक नये तुलनात्मक गाथाशास्त्र का सृजन किया है।

मैक्समूलर महोदय ने वेदों में एक दूसरे ही प्रकार के देवतावाद का प्रतिपादन किया है। उनके विचार में वेदों में तैंतीस देवताओं की उपासना कही गई है और एक स्थल पर तो ऋषि ने ३३३९ देवता गिनाये हैं। परन्तु फिर भी वे इसे बहुदेवतावाद की संज्ञा नहीं देते। क्योंकि वेदों का बहुदेवतावाद ग्रीक व रोमन बहुदेवतावाद से मेल नहीं खाता। ग्रीक व रोम में बहुदेवतावाद

---

१ 'जो दूसरे में ईश्वर बुद्धि करके उपासना करता है वह कुछ भी नहीं जानता।' (द० प्र० मा०, भाग–२, पृ० ३४३।

२ See 'A Vedic Reader for Students'

P. 92, By A. A Macdonell; Reprint 1954.

का अर्थ है एक परमदेव के शासनान्तर्गत अनेक छोटे-बडे देवताओ का रहना। उनके विचार से वैदिक देवतावाद इसमे इसी प्रकार भिन्न है जैसे ग्रामो मे सम्मिलित प्रजातन्त्र से राजा का एकतन्त्रवाद। उनका आगे कहना है कि वैदिक ऋषि प्रत्येक देवता को परमदव मानकर पूजते थे, फिर चाहे वह कितना छोटा भी क्यो न हो। इस वैदिक देवतावाद का मैक्समूलर ने एक नया नाम दिया और वह है कैथेनोथियिज्म अर्थात् एक देवता के बाद दूसरे की उपासना अथवा हीनोथियिज्म अर्थात् पृथक-पृथक देवताओ की पूजा।'

दयानन्द के विचार मे वेदो मे बहुदेवतावाद या हीनोथियिज्म इन दोनो मे से एक भी नही है। दयानन्द इन दोनो मतो ने एक मौलिक भूल की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। चारो वेदो मे देव शब्द अनेक मन्त्रो मे आया है और प्राय विद्वानो ने इसके अर्थ ईश्वर के रूप मे किये हैं, जिससे वेद के वास्तविक अभिप्राय को समझने मे कठिनाई हो गई है, क्योकि देव से ईश्वर को ग्रहण करने पर उसे उपासनीय बना दिया गया है, जबकि वेदो मे सदैव ही देव उपासनीय नही है और विशेष रूप से जब तक कि इससे परमदेव परमात्मा का तात्पर्य न हो। स्वामी दयानन्द का विचार है कि देवता शब्द से ईश्वर का अर्थ लेना वेद के सम्बन्ध मे एक भारी भूल है।[२] स्वामी जी यहा पूर्णरूप से निरुक्त के अनुसार है। निरुक्त के अनुसार देव शब्द के अर्थ ईश्वर नही होते वरन् निरुक्त कहता है "देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो-

---

१ 'It was necessary, therefore, for the purpose of accurate reasoning to have a name different from polytheism, to signify this worship of single gods, each occupying for a time a supreme position, and I proposed for it the name of Kathenotheism, that is a worship of one God after another or of Henotheism, the worship of single God'

—F. Max Muller 'India what can It teach us ?
P. 146–147. 1892

२. 'यह उनकी (वेदज्ञों की) भारी भूल है जो देवता शब्द से ईश्वर का ग्रहण करते हैं।' सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७५।

भवतीति वा"[1] अर्थात् दान देने से देव है, प्रकाश करने से देव है, उपदेश व पालनादि करने से (माता, पिता) देव है, द्युस्थान अर्थात् सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाशक है, वह देव है। निरुक्त की इस व्याख्या के अनुसार हम उन पदार्थों को देव माना जा सकता है जिनमें उपरोक्त दानादि गुणों में से एक भी हो। इस रूप में सूर्यादि पदार्थ मनुष्यमात्र को लाभकारी होने से देव की कोटि में आ जाते हैं, परन्तु इनमें से शरीरयुक्त अथवा उपासना के योग्य देवता नहीं है। हाँ ये सारे ही विशेषण परमात्मा में प्रयुक्त होने से परमात्मा देवों का भी देव है तथा समस्त व्यवहार के देव सूर्य, चन्द्र, रुद्र, मरुत् आदि को अपने शासन में रखने से महादेव कहलाता है। दयानन्द वेदों में दो प्रकार के देव, व्यावहारिक एवं उपासनीय मानते हैं। उनके मत में सूर्य, चन्द्र, रुद्र आदि व्यवहार के देव हैं तथा किसी भी रूप में उपासना का विषय नहीं हैं वरन् इनमें से कुछ पार्थिव हैं और कुछ प्रकृति की शक्तियाँ हैं तथा कुछ परमात्मा की शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा परमदेव संसार पर शासन करता है। वेदों में उपासना का विषय केवल एक परमात्मा है जिसको ऋषिगण अनेक नामों से पुकारते हैं। महर्षि दयानन्द के अनुसार वेदों में इसी परमदेव (परमात्मा) की उपासना का विधान है अन्य किसी देवता का नहीं।[2] वेदों में एकेश्वर की उपासना है या अनेक देवताओं की इस विषय पर वेदों से सीधा सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण ग्रंथ तो निश्चय ही पश्चिमी वेदज्ञों से अधिक प्रामाणिक होंगे और हम देखते हैं कि शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट कहता है कि जो परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य देवता की उपासना करता है वह पशु के समान है।[3] इस रूप में दयानन्द वास्तविक वैदिक विचारधारा व भावना के बहुत समीप है।

वेदों में प्राय इन्द्र, मरुत्, सूर्यादि देवताओं के लिये उन सभी विशेषणों

---

१. निरुक्त, ७–१५।

२ 'व्यवहार के देवताओं की उपासना कभी नहीं करनी चाहिए किन्तु एक परमेश्वर ही की करनी उचित है।' दयानन्द ग्रंथमाला, भा० २ पृ० ३३९।

३. योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्॥ शतपथ ब्राह्मण १४–४–२, कण्डिका १९, २२।

का प्रयोग किया गया है, जो परमात्मा के लिये ही उपयुक्त हैं। ऐसे ही स्थलो पर मैक्समूलर साहब को हीनोथियिजम की भ्रान्ति हो गई प्रतीत होती है। जबकि तथ्य यह है कि वैदिक द्रष्टा ऋषि उस एक परमात्मा को अनेक नामो से पुकारते हैं और वे सब ईश्वर के यौगिक नाम हैं। दयानन्द कहते हैं कि जहा कही भी इन्द्र या किसी अन्य देवता को परमात्मा के लिये प्रयुक्त होने वाले सर्वशक्तिमान आदि विशेषणो से सम्बोधित किया गया है, वहां उससे परमात्मा का ही बोध करना चाहिए क्योंकि केवल ईश्वर ही सर्वशक्तिमान है तथा वही उपासना का विषय है। आगे दयानन्द कहते हैं कि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से ही इन्द्र, वरुण तथा अग्नि आदि नामो से वेदोक्त प्रमाण के अनुसार एक ही परमात्मा का ग्रहण करते रहे हैं तथा उसी की उपासना करते आये हैं। वेदो मे किन-किन स्थलो पर इन्द्रादि देवताओ के नामो से परमात्मा का बोध करना चाहिये, इसकी कसौटी के रूप मे दयानन्द हमे प्रकरण और विशेषण का नियम बताते हैं कि जिस-जिस स्थल पर वेदो के मन्त्रो मे स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण दिये हैं, वहा पर देवताओं के नामों से परमेश्वर के अर्थ ग्रहण करने चाहिएं क्योकि सर्वज्ञत्व सनातनता, शुद्धता व सृष्टिकर्तृत्व आदि गुण केवल परमात्मा मे ही हो सकते हैं।[१]

इस प्रकार दयानन्द हमे वेद की मूल भावना एकेश्वरवाद को समझाने के लिए, हमारे मार्गदर्शक के रूप मे एक सूत्र दे देते है कि वेद मे "अग्न्यादि नामो से मुख्य अर्थ परमेश्वर ही का ग्रहण होता है"[२] तथा 'जहा-तहा स्तुति, प्रार्थना उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं वही-वही इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है।"[३]

वेद स्वामी दयानन्द के विचार का समर्थन करते हैं या नही, यह निष्पक्ष विचारक एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करने वाले निम्न मन्त्रो से स्वय ही जान सकते हैं।

---

१ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५।
२ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५ सा० प्रे० सस्करण।
३. वही, पृष्ठ ५।

"इस सृष्टि में जो कुछ भी चर-अचर संसार है वह सब सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से व्याप्त है।"¹

"वही (ज्ञान स्वरूप होने से) अग्नि है, (सबको ग्रहण करने से) वही आदित्य है, (अनन्त बलवान होने से) वही वायु है, (आनन्ददायक होने से) वही चन्द्रमा, (शुद्ध भाव युक्त होने से) वही शुभ (महान् होने से) वही ब्रह्म, (सर्वत्र व्यापक होने से) आप और (सबका स्वामी होने से) वही प्रजापति भी है।"²

"हम लोग अपनी रक्षा के लिये उस ईश्वर की, जो जगम और स्थावर सबका स्वामी है, बुद्धि का प्रेरक है, प्रार्थना करते हैं। वह परमात्मा हमारे धनों की वृद्धि के लिये होवे तथा किसी से न दबने वाले हमारे कल्याण के लिये रक्षक व पालक होवे।"³

"विद्वान मेधावी एक सद्रूप परमात्मा का अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं, उसी एक को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि और जो वह अलौकिक उत्तम ज्ञान और उत्तम कर्म वाला गौरवयुक्त है, इसी एक को ही यम और मातरिश्वा वायु भी कहते हैं।"⁴

"हे परमऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर! आप से भिन्न न द्युलोक में और न पृथ्वी पर हुआ और न होगा, घोड़े, हाथी आदि सवारियों की इच्छा रखते हुए दुग्धादिकों के लिये गौवों की इच्छा करते हुए, ज्ञान और अन्न बलादि युक्त होकर हम आपकी प्रार्थना उपासना करते हैं।"⁵

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। यजु ४०।१।

२. तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः। यजु ३२।१।

३. तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेद सामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥
ऋ० अ० १ अ० ६ व० १५ म० ५।

४. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। ऋ० १,१६४,४६।

५. न त्वा वां अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते। अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे। सामवेद उत्तरार्चिक १-४-११।

"तब मृत्यु न थी, न जन्म था, न रात्रि से दिन को पहिचानने का कोई सकेत ही था। वह एक परमात्मा ही अपनी सूक्ष्म सृजन सामर्थ्य के साथ विना श्वास प्रवास के रह रहा था और कोई वस्तु उससे परे या सूक्ष्म नही थी।"[1]

"वह परमात्मा पोषण करने वाला, वही धारण करने वाला, वही महाबली वायु है और सबका नायक अर्यमा है, वही सबसे श्रेष्ठ वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है, वही अग्नि है, वही सूर्य है और निश्चय करके वही सबमे बडा न्यायकारी महायम है।"[2]

"वह परमात्मा समस्त समार को विविध प्रकार मे देखता है जो श्वास लेता है और नही भी लेता, उसको सब प्राप्त है। वह आप ही एक अकेला अपने आप मे एक है। सारे देव इसी मे एक रूप मे स्थित हैं।"[3]

इस प्रकार के अनेक मन्त्र चारो वेदो मे यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जिनसे यह पता चलता है कि वैदिक मन्त्र स्पष्ट रूप से एकेश्वरवाद का ही प्रतिपादन करते हैं।

लेकिन दयानन्द के इस वेद-सम्बन्धी मत पर ग्रीसवोल्ड सरीसे पाश्चात्य और पाश्चात्यो का अन्धानुकरण करने वाले देशी विद्वान् तुरन्त कह देते हैं कि दयानन्द की वेदो की इस प्रकार की व्याख्या एकदम जगली और अवैज्ञानिक है।[4]

---

१ न मत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रेकत ।
आनीदवात स्वधया तदेक तस्मद्धान्यन्न परः किञ्चनास॥
ऋ० अ० ८ अ० ७ व १७ म० २।

२ सधाता सविधर्ता स वायय्ुर्नभ उच्छ्रितम् । सोऽर्यमा स वरुण सरुद्र स महादेवः। सोऽग्नि स उ सूर्यः स उ एव महायम।
अथर्व० १३-४-३, ४, ५।

३. ससर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न। तमिदं नि गत सह स एष एक एकवृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति।
अथर्व० १३-४-१९-२०-२१।

४. 'The Religion of the Rigveda' p 109-110 by Griswold

ग्रीसवोल्ट का यह प्रलाप वेदों की शब्दावली को न समझने के कारण ही है तथा उनके अज्ञान का परिचायक है। ब्राह्मण, उपनिषद् व निरुक्त आदि ग्रन्थों मे वैदिक शब्दों की यथेष्ट व्याख्या मिल जाती है और दयानन्द ने अपनी विधि इन्हीं से ली है। क्या स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य जगली व अवैज्ञानिक है? ग्रीसवोल्ट द्वारा लगाये इस आरोप का उत्तर हम श्री अरविन्द के शब्दों में यहा दे रहे हैं। "बिल्कुल नहीं, यह तो स्वयं वेद का कहना है कि 'एक ही को विद्वान ध्यान रखो मूर्ख नहीं—कई प्रकार से कहते है कभी इन्द्र, कभी यम, कभी मातरिश्वा और कभी अग्नि।'"[१] इसके प्रत्युत्तर मे पश्चिमी विद्वानों का कथन है कि वेद के वे मन्त्र जो एक ईश्वर के दर्शक हैं, बाद के बनाये हुए हैं। इतना ऊचा विचार जो कि अत्यन्त स्पष्ट है या तो किसी तरह से बाद के आर्यों के मस्तिष्क मे पैदा हुआ होगा अथवा उन अज्ञानी, अग्निपूजक, सूर्यपूजक, आकाशपूजक, आर्यों ने इस देश के मूल निवासी तथा अपने से पूर्व बसने वाले सुसस्कृत दार्शनिक प्रतिभायुक्त द्राविडों से लिया होगा। पाश्चात्य विद्वानों की यह कल्पना बड़ी धृष्टतापूर्ण है। उन्हें वेद के सम्बन्ध में साधारण ज्ञान भी न था। वेद के अध्ययन मे इनका मुख्य तात्पर्य वेदों की प्रतिष्ठा को गिराना मात्र था। जिसे वे हर कीमत पर करने को तैयार थे।

जहाँ तक पश्चिमी वेदज्ञो के पहिले आक्षेप का प्रश्न है, हम पिछले कुछ पृष्ठों पर दिखा आये हैं कि एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करने वाले मन्त्र वेदों मे हर स्थान पर मिलते है यथा 'तमीशान जगतस्तस्थुषस्पति' ऋ०म० १ अ० ६ व० १५ म० ५ तथा "एकं सद्विप्रा बहुधावदन्ति···" ऋ० १/१६४/४६ यह दोनो मत्र ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के हैं। फिर हमारी समझ में नही आता कि पश्चिमी विद्वानो ने ऐसा बेहूदा तर्क कैसे दे दिया। दूसरे उनका यह कहना है कि आर्यों ने एकेश्वरवाद द्रविणों से लिया होगा, एक असगत प्रलापमात्र है। पहिले तो भारतवर्ष में आर्यों से पूर्व द्रविणो का होना सन्दिग्ध है, दूसरे यदि दुर्जन तोष न्याय से मान भी लिया जाये, तो अभी तक उनके किसी उच्चकोटि के

---

१ 'Bankim Tilak Dayananda' by Shri Aurobindo, p 55-56 third reprint 1955

धार्मिक विचारो व दर्शन का परिचय तक नही मिला है क्योकि सिन्धु घाटी की खुदाई मे प्राप्त मोहरो की लिपि अभी तक सफलतापूर्वक पढी ही नही गयी है। तब इन विद्वानो ने पता नही आर्यो के लिपिबद्ध ज्ञान को द्रविणो के सदिग्ध ज्ञान से कैसे जोड दिया। वास्तव मे यह सब पश्चिमी विद्वानो की कल्पनामात्र है। ये वेदो मे अपने पूर्वाग्रहो को शक्तिपूर्वक लादना चाहते हैं। इसी कारण वे वेदो मे कही बहुदेवतावाद को देखते है तो कही हीनोथीयिज्म को और कही गाथाशास्त्र को।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि वेद एकेश्वरवादी हैं, तथा इनमे प्राप्त एकेश्वरवाद उपनिषदो के ब्रह्मवाद के समान है, और दयानन्द वेदो के विषय मे सायण व पश्चिमी विद्वानो से अधिक युक्तिसगत हैं।

ब्रह्म

वेदो मे ऐसे मन्त्रो की कमी नही है जिनमे एक ऐसी परम सत्ता का निरूपण किया गया है, जो सारे ससार का अनुपम पति और सब भुवनो का एक ही स्वामी है।[1] इसी परमसत्ता का वर्णन 'परम पुरुष' 'सृष्टि का अध्यक्ष' 'देवो का देव' तथा 'ब्रह्म' आदि नामो से अनेक मन्त्रो मे पाया जाता है।[2]

अब तक के अधिकतर वैदिक विद्वान—विशेषरूप मे आधुनिक काल के

---

१ "पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।"
ऋ० ६। ३६। ४

२ "सूत्र सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्यात्ब्राह्मण महत्।
अथर्व वेद १०। ८। ३७

"यत्र लोकाश्च कोशाश्चापो ब्रह्मजना विदु। यसच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं त ब्रूहि कतम स्विदेव स।" अथर्ववेद १०। ७। १०।

"ब्रह्माण ब्रह्मवाहस गीर्भि सखायमृग्मियम्। गा न दोहसे हुवे।"
ऋ० ६-४५-७।

'रुच ब्राह्म जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्। यस्त्वैव ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे।' यजु० ३१-२१।

"ओ३म् ख ब्रह्म।" यजु० ४०। १७।

पश्चिमी वेदज्ञ यह मानते चले आये हैं कि वेदों में ब्रह्म-विद्या नहीं है, ब्रह्म-विद्या का विकास वेद के बाद वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में हुआ है।"[1]

लेकिन दयानन्द का विचार इसके विपरीत है उनकी तो यह मूल धारणा है कि "वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के ही प्राप्त कराने और प्रतिपादन करने में है।"[2] वह कहते हैं कि "सब वेद वाक्यों में ब्रह्म का ही प्रतिपादन है कहीं साक्षात् रूप से और कहीं परम्परा से।"[3] दयानन्द अपने इस कथन की पुष्टि में उपनिषदों के प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषद भी वेदों में ब्रह्म का ही वर्णन बताती हैं। कठोपनिषद कहता है, 'सारे वेद जिसे गाते वह ओ३म् है।"[4] यही नहीं बल्कि ब्रह्म-विद्या का मुख्यरूपेण व्याख्यान करने वाला वेदान्त दर्शन भी स्पष्ट कहता है "वेदों में ब्रह्म का वर्णन पाया जाता है।"[5]

वेदों में ब्रह्म का स्वरूप—वेद किसी ऐसे ईश्वर से सन्तुष्ट नहीं हो सकते, जिससे अधिक शक्तिशाली कोई और देव हो अथवा उसके बराबर की कोई अन्य शक्ति हो। इनमें ब्रह्म को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक व सर्वज्ञादि विशेषणयुक्त कहा गया है। यही सृष्टि का अध्यक्ष है जो कल्प के आदि में सृष्टि का निर्माण करता है। सृष्टिकाल में पालन करता है तथा प्रलयकाल में संहार कर अपने में लीन कर लेता है। इस परमदेव परमात्मा की ही शक्ति से सूर्यादि पदार्थ अपने-अपने कार्यों में लगे रहते हैं।

---

१. "The conception of Brahaman which has been the highest glory for the Vedanta philosophy of later days had hardly emerged in the Rigveda from the association of the sacrificial mind" S N Das Gupta 'A History of Indian philosophy" Vol. 1, p 20 printed 1922

२. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २ पृष्ठ ३१४।

३ वही, पृ० ३१३।

४. 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।' कठोपनिषद् १-२-१५।

५ 'तत्तु समन्वयात्'। वेदान्तदर्शन १-२-४॥

जिस किसी भी सत्ता को सर्वशक्तिमान माना जाता है उसको निराकार और सर्वव्यापक मानना आवश्यक है। वेद आलकारिक भाषा मे परमात्मा की व्यापकता व निराकारत्व का वर्णन करता है कि 'निश्चय ही आप सर्वत्र मुख वाले हैं सब ओर मे सबको देख रहे हैं, आप सर्वत्र व्यापक है।''[1] 'उसकी महिमा इतनी महान् है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड इस परमपुरुष की महिमा के सम्मुख कुछ भी नही है बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सारी सृष्टि उसके एक पाद (अशमात्र) मे वर्तमान है बाकी तीन अमृतमय हैं'[2] जहा ससार नही है। ब्रह्म के भाग विशेष नही है क्योकि वह सर्वव्यापक है। परन्तु वेद मे गम्भीर रहस्यो को रूपको व अलकारो के द्वारा बताया गया है। ज्ञान को समझाने की यह प्रणाली, भाषा द्वारा परम तत्त्व के निरूपण मे असमर्थता के कारण वैदिक द्रष्टाओ से अपनाई थी। ब्रह्म की सर्वव्यापकता वेद इससे अगले मन्त्र मे स्पष्ट कर देता है कि "ब्रह्म इन चारो पादो मे भी अतिरिक्त है जिसकी कोई सीमा नही है।''[3]

महर्षि दयानन्द के अनुसार चारो वेद इसी एक अद्वितीय परमात्मा की उपासना का आदेश करते हैं। वेदो मे एक ब्रह्म की उपासना शुरू से लेकर अन्त तक भरी पडी है। अथर्व वेद कहता है 'जो प्रकाशस्वरूप सूर्य जिसकी त्वचा है जो देवताओ (अग्नियादि) के कारण होने वाले दु खो को दूर करने वाला पूजनीय देव है। वह जगत् का पालक तथा स्वामी एक ही नमस्कार करने योग्य है, सेवा करने योग्य है वह हमको सुख देवे।''[4] मुमुक्षु लोग ससाररूपी समुद्र से पार उतर दु खो से छूटने के लिये इसी देव की उपासना करते हैं जिससे वह मृत्यु से छूट जाते हैं। वेद निश्चयपूर्वक यह घोषणा करता है कि 'उस आदित्य वर्ण

---

१ 'त्व हि विश्वतो मुख विश्वत परिभूरसि'। ऋ० १-९७-६

२ 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि।' यजु ३१-३

३ 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष पादोऽस्येहाभवत्पुन। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि।' यजु० ३१-४।

४ 'दिवि स्पृष्टो यजत सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य। मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एवं नमस्य सुशेवा। अथर्व वेद २-२-२।

वाले ब्रह्म को जान कर मृत्यु से छूटा जा सकता है, इसके अतिरिक्त मृत्यु के बन्धन से छूटने का और कोई मार्ग नहीं है।[1] उपरोक्त संक्षिप्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द के इस कथन में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि वेद ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ हैं तथा उपनिषदों में ब्रह्म-विद्या वेदों से ही ली गई है।

सृष्टि-रचना

वेदों में सृष्टि रचना के विषय में अत्यन्त जिज्ञासापूर्ण वचन मिलते हैं। वेद के मन्त्र स्वयं ही यह प्रश्न उठाते हैं कि इस जगत का आश्चर्यरूप आधार क्या है? तथा इसकी रचना का आरम्भ-कारण अर्थात् उपादान सामग्री क्या है? और वह किस प्रकार से है, जिससे जगत् का सृष्टा जगदीश्वर भूमि तथा सूर्यादि लोकों को उत्पन्न करता हुआ उन्हें अपनी महिमा से विविध प्रकार से आच्छादित करता है।[2] परन्तु वेद की इस जिज्ञासापूर्ण भाषा से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वैदिक द्रष्टा ऋषि सृष्टि-रचना के विषय में सन्देहास्पद स्थिति में थे और उनको इसके रचयिता एवं उपादान का पता नहीं था। यह तो वेदों की भाषा एवं पद्धति की विशेषता है कि वह पहिले प्रश्न करते हैं और फिर उत्तर देते हैं। इससे अगले ही मन्त्र में उपरोक्त प्रश्नों का उत्तर हमें मिल जाता है कि 'सर्वत्र जिसकी दर्शन शक्ति है, सर्वत्र जिसका उपदेश हो रहा है, जो सब प्रकार से पराक्रमयुक्त है और सर्वत्र जिसकी व्याप्ति है वह अद्वितीय परमात्मा देव परमाणुओं से पृथ्वी व द्यूलोकों की रचना करता हुआ अपने अनन्त पराक्रम से सब जगत को सम्यक् प्राप्त होता है।[3]

---

१. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। यजु० ३१-१८।

२ 'किस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमस्वित्कथासीत्।
यतो भूमिजनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः।'

यजुर्वेद १७-१८

३ 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति स पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः। यजुर्वेद १७-१९
(देखिये महर्षि दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य।)

दयानन्द के विचार मे वेदो मे परमात्मा को सृष्टि का रचयिता माना है, जिसकी महिमा व पराक्रम अपार है।[1] कही-कही तो वेद, उपनिपदो जैसी स्पष्टता से परमात्मा को सृष्टि का अध्यक्ष मानते हैं। परमात्मा जगत के भीतर भी व्याप्त है और सृष्टि से परे भी है अर्थात् यह सान्त सृष्टि उम परम पुरुप के मम्मुख कुछ भी नही है। वेद कहता है कि असीम सा दीख पडने वाला यह ब्रह्माण्ड उस परम देव के केवल एक भाग मे स्थित है तथा तीन भाग अमृतमय हैं।[2] परन्तु परमात्मा की महिमा केवल इन चार पादो तक ही सीमित नही है वरन् वह इससे भी अनन्त गुना अधिक है।[3] इन मन्त्रो मे पता चलता है कि वेद सृष्टि को असीम नही मानते वरन् परमात्मा को अनन्त मानते हैं जो सृष्टि मे व्याप्त है। वेदो की इस विचारधारा मे पश्चिमी ईश्वरवाद (Deism) की सी कमियें नही हैं, क्योकि वेदो के ईश्वरवाद मे ईश्वर जगत का निर्माण कर कही चला नही जाता परन्तु वेदो के अनुसार ईश्वर सृष्टि मे व्यापक है और अनन्त होने से सृष्टि से परे भी है। पश्चिमी ईश्वरवाद (Deism) के अनुसार ईश्वर सृष्टि की रचना शून्य से करता है और सृष्टि रचकर सृष्टि से दूर चला जाता है। महर्षि दयानन्द को वेद के सम्बन्ध मे यह दोनो बातें मान्य नही हैं क्योकि प्रथम तो शून्य से सृष्टि का निर्माण तर्करहित एव कोरी कल्पनामात्र है, इमके अतिरिक्त सृष्टि रचकर ईश्वर का सृष्टि से दूर चला जाना इस बात का द्योतक है कि ईश्वर अनन्त व मर्वव्यापी नही है और जो सत्ता सर्वव्यापक नही है वह सर्वज्ञ भी नही हो सकती। ऐसे पुरुप या शक्ति को, जो न सर्वव्यापक है और न सर्वज्ञ ईश्वर नही कहा जा सकता। इसके अलावा कुछ विद्वानो का मत है कि वेद मे सर्वेश्वरवाद (Pantheism) है। सर्वेश्वरवाद '(Pantheism) कहता है

१ 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्'। ऋ० म० १० सू० १२१ म० १ सत्यार्थप्रकाश २०८ पर दयानन्द द्वारा उद्धृत।

२ 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्य अमृतम् दिवि।' यजु० ३१-३ दयानन्द ग्रथमाला भा० २ पृ० ४०६ पर उद्धृत।

३. 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष पादोऽस्येहाभवत्पुन । ततो विष्वड् व्यक्रामत्साशनानशने अभि।' यजुर्वेद ३१-४

कि ईश्वर ही सब कुछ है अर्थात् ईश्वर की सृष्टि है और ईश्वर ही निर्माता है ।[1] महर्षि दयानन्द इसको भी वेद का सही मत नहीं मानते । स्वामी जी की इसमें आपत्ति यह है कि वेदों में परमात्मा को शुद्ध, द्रष्टा एवं अपरिणामी कहा है ।[2] फिर वह कैसे अपने को सृष्टि के रूप में परिवर्तित करेगा । वह क्यों ज्ञानी से अज्ञानी, आनन्दरूप से दुःखी एवं सन्तुष्ट से असन्तुष्ट बनना चाहेगा ? परमात्मा चेतन है परन्तु सृष्टि जड़ है, परमात्मा सर्वज्ञ है परन्तु सृष्टि ज्ञानरहित है, परमात्मा आनन्द है परन्तु सृष्टि आनन्दरहित है । इसमें सृष्टि का उपादान ईश्वर नहीं हो सकता ।

ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है—महर्षि दयानन्द के विचार से वेदों में ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण माना गया है । परमात्मा पूर्व विद्यमान प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति करता है । और इसी प्रकार जैसे कुम्हार बर्तन बनाने के लिये मिट्टी का प्रयोग करता है । जैसा कि एक वेद मन्त्र में कहा भी है कि 'दो सुपर्ण अर्थात् ब्रह्म और जीव एक ही प्रकृति रूपी वृक्ष पर मित्रतायुक्त साथ-साथ रहते हैं । इनमें से एक (जीव) कर्मफलों का भोग करता है तथा दूसरा (परमात्मा) भोग न करता हुआ केवल उनका प्रकाश करता है ।'[3] इस मन्त्र से द्रष्टा ऋषि तीन अनादि तत्त्वों का संकेत करता है, एक ईश्वर (ब्रह्म) जो सृष्टि का निमित्त कारण है, दूसरा जीवात्मा जिसके भोग के लिये सृष्टि का निर्माण हुआ है तथा तीसरी प्रकृति जो कि सृष्टि की निर्माण सामग्री होने से सृष्टि का उपादान कारण है । दार्शनिक रूप में हम इसी को मूल प्रकृति अथवा प्रकृति

---

1 'Pantheism is the doctrine that God is all and all is God' 'Introduction to Philosophy" p 387 by Patrick—(Revised Edition)

२. देखिये ऋ० ८-९५-७, १-१६४-२० १-१६४-३९ ।

३ 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥'

ऋ० १-१६४-२०

की अव्यक्तावस्था भी कह सकते हैं। इसी को साख्यो ने सत्व-रज व तम की साम्यावस्था वाली अव्यक्त प्रकृति कहा है और स्वामी दयानन्द इसी को परमेश्वर की सामर्थ्य भी कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते है कि स्वामी दयानन्द वेदो मे प्रकृति के अस्तित्व को वताकर, इन ग्रन्थो को यथार्थवाद की शिला पर लाकर खडा कर देते है जिसे आगे चलकर हम देखेंगे कि शकराचार्य द्वारा प्रतिपादित तथा उनके विचार से उपनिषद् सम्मत अद्वैतवाद से लोहा लेना होगा। चाहे आचार्य शकर ने वेदो को न भी छुआ हो, परन्तु उपनिषदो के सम्बन्ध मे वही दार्शनिक व्याख्या सही हो सकती है, जो वेदो की सहिताओ से भी मेल खाती हो। क्योंकि हम देखते हैं कि सब उपनिषदें वेदो को स्वत प्रमाण मानती हैं, अत वह मूल वेदो की भावना के विरुद्ध कैसे जा सकती है ? स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त वेदो मे प्रकृति के अनादित्व को डा० राधाकृष्णन सरीखे विद्वान स्वीकार तो करते हैं।[1] परन्तु उनकी यह स्वीकारोक्ति दबी हुई भाषा मे होने के कारण वैदिक दर्शन के लिये किसी लाभ की नही है।

सृष्टि उत्पत्ति वृत्तान्त (नासदीय सूक्त)—सृष्टि बनने से पूर्व प्रलयावस्था मे प्रकृति का क्या रूप था, वह किसमे स्थित थी, अव्यक्तावस्था से निर्माण की दिशा उसे किसने दी तथा सृष्टि-निर्माण के क्रम मे किन-किन पदार्थों की कैसे-२ उत्पत्ति हुई, इस सब सृष्टि-विद्या का विवरण जितना ऊचा परन्तु अत्यन्त रहस्यात्मक रूप मे वेद के नासदीय सूक्त मे मिलता है ऐसा मेरी दृष्टि मे किसी भी ग्रन्थ मे नही आया। यह सूक्त इतना गभीर एव निर्देशात्मक है कि बौद्धिक स्तर तक रहने वाले विद्वानो के लिए तो इसमे पहेलिया ही पहेलिया हैं, शायद कोई योगी ही उनको समझ सकता है। प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन करते

1. 'In X 121 we have an account of the creation of the world by an omnipotent God out of pre-existent matter' Indian Philosophy V 1 p. 100 by Dr S Radhakrishnan, Reprinted Indian Edition 1951

हुए वेद कहता —

(१) उस समय न असत् था और न सत् परमाणु से भरा अन्तरिक्ष भी नहीं था और न परे का आकाश ही था। उस समय कहां क्या ढका हुआ था और किनके आश्रय से था? क्या बड़ा गंभीर पानी उस समय था?[१]

(२) तब न मृत्यु थी न जीवन, न रात थी न दिन। वह एक (परमात्मा) अपनी शक्ति से ही अथवा स्वधा = प्रकृति के साथ बिना प्राणवायु के प्राणन कर रहा था और उससे परे (श्रेष्ठ) कुछ न था।[२]

(३) (प्रारम्भ मे सब कुछ) अन्धकार था और अन्धकार से व्यापी अव्यक्त प्रकृति थी, और यह सब अज्ञेय अवस्था में जल के समान एकाकार था। जो तुच्छ था (परमात्मा के सम्मुख प्रकृति तुच्छ है) वह परमात्मा के तप से एक अर्थात् व्यक्त होने लगा।[३]

(४) इस पूर्व समय मे मन का रेत जो पहले था उसके ऊपर काम अर्थात् सकल्प हुआ। ज्ञानी लोगो ने जान लिया कि असत् में सत् का भाई-पन था।[४]

(५) इन तीनो का किरण तिरछा फैला, नीचे भी आश्चर्यकारी था और ऊपर भी आश्चर्यजनक। वीर्य के धारण करने वाले थे, बलशाली (जीव)

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नोव्योमाऽपरोयत्।
किमावरीव कुहकस्य शर्म्मन्नम्भ: किमासीद्गहनं गम्भीरम्॥
ऋ० १०-१२९-१

२ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेत।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न पर किञ्चनास॥
ऋ० १०।१२९।२

३ तम आसीत्तमसा गूढहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्। तुच्छ्येनाभ्व पिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्। ऋ० १०।१२९।३

४ कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कव्यो मनीषा। ऋ० १०।१२९।४।

महान् थे। इधर आत्मा की धारणा शक्ति थी और परे प्रयत्न का वल था।[1]

(६) वास्तव मे कौन जानता है और कौन कह सकता है कि कहाँ से बनी और कहा से यह विविध प्रकार की सृष्टि हुई है ? देव (अर्थात् विद्वान व सूर्यादि दिव्य पदार्थ) भी वाद मे वने। अव कौन यह जानता सकता है, कहा से यह सृष्टि वनी ?[2]

(७) जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि उत्पन्न हुई वही इसको धारण करता है, यदि न करे (तो सृष्टि विनष्ट हो जाय, यहा पर वा निश्चय अर्थ मे है।) जो परम व्योम मे इसका अध्यक्ष (परमात्मा) है, हे मित्र जीव उसे जान यदि न जानेगा (तो विनष्ट हो जायेगा)।[3]

(इन मन्त्रो के अर्थ प्राय. स्वामी दयानन्द के ग्रथो से लिये गये हैं जिन पर उनके अर्थ उपलव्ध न हो सके, वे विद्वानो के ग्रथो से लिये हैं। स्वामी जी का भाष्य केवल मन्त्र १–२–३ व ७ पर मिलता है।)

उपरोक्त मन्त्रो मे से पहले मन्त्र पर भाष्य करते हुए दयानन्द लिखते है कि इस प्रलयावस्था मे असत् अर्थात् दृश्यमान जगत् नही था (परिवर्तनशील होने से व्यावहारिक जगत् को यहा असत् कहा है) और सत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति भी नही थी, उस अवस्था मे परमाणु भी नही थे। यहाँ पर यह सशय उत्पन्न होता है कि जव उस अवस्था मे सत्व, रज व तम की अव्यक्त प्रकृति भी नही थी तव प्रकृति को अनादि कैसे माना जाय ? यह प्रश्न उचित ही है। यहा पर महर्षि दयानन्द का यह कहना है कि प्रकृति अतीव सूक्ष्म होकर परमात्मा की

---

१ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः। स्विदासी३दुपरिस्विदासी३त्। रेतोधाआसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।
ऋ० १०।१२९।५

२. को अद्धावेद क इह प्रवोचत्कुतआजाता कुतइय विसृष्टि। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ वभूव। ऋ० १०।१२९।६

३ इय विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्ष. परमे व्योमन्त्सो अग वेद यदि वा न वेद। ऋ० १०–१२९–७

सामर्थ्य मे विद्यमान थी।[1] प्रकृति का परमात्मा की सामर्थ्य मे लीन होने से दयानन्द का तात्पर्य उसके अभाव से नही है वल्कि अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था से है, जो सम्भवत साख्यो के प्रधान से भी सूक्ष्म हो। लेकिन जगत् के उपादान की सामग्री के रूप मे प्रकृति अवश्य विद्यमान थी। प्रलयावस्था मे प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म होकर परमात्मा की सामर्थ्य मे लीन भाव से रहती थी। तीसरे मन्त्र मे 'अप्रेकत सलिल' का अर्थ अनेक विद्वानो ने गम्भीर अस्पष्ट पानी के रूप मे किया है। इनका मत है कि प्रकृति आरम्भ मे अस्पष्ट समुद्र के रूप से थी जिसे अन्धकार ने आवृत्त कर कर रक्खा था।[2] लेकिन इस मन्त्र मे पहले ही कह दिया है कि अव्यक्त प्रकृति तम से व्यापी हुई थी। यहा पर 'अप्रेकतं सलिल' कहकर अस्पष्ट गम्भीर जलो से प्रकृति की केवल तुलनामात्र की गई है इससे इन विद्वानो का मत, कि आरम्भ मे प्रकृति समुद्र के रूप से थी, भ्रान्त है। प्रकृति की इस प्राक् अवस्था मे मृत्यु कैसे हो सकती थी। सूर्य, चन्द्रादि सितारो के न होने से दिन रात भी नही थे। परमात्मा के ईक्षण[3] तथा तप से असत् (अव्यक्त) प्रकति सत् (व्यक्त) अवस्था की ओर अग्रसर होने लगी। प्रकृति की पूर्वावस्था इतनी गम्भीर व अस्पष्ट थी कि विद्वान् भी उसके विषय मे कुछ नही वता सकते और न ही सूर्य, चन्द्रादि चमकीले पदार्थो के आधार पर कोई गणना की जा सकती है, क्योकि इनकी उत्पत्ति सृष्टि मे वहुत वाद मे जाकर हुई है। सातवें मन्त्र के अर्थ कुछ भारतीय व पश्चिमी भाष्यकारो ने इस प्रकार

---

१ "किन्तु परब्रह्मण सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्म सर्वस्यास्य परम कारण संज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत।"　　　　दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ४०१।

२ (i) "Darkness and space enveloped the undifferentiated water." Vedic Mythology　　By A A Macdonell

(ii) "Darkness there was in the beginning all this was a sea without a light" Rigveda X 129

—Max Muller.

३ 'ईक्षण शब्द का प्रयोग ऐतरेय उपनिषद मे परमात्मा के स्वभाव के लिये किया गया है।' "स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।"

ऐ० उपनिषद, अ० १, खण्ड १, मं० १।

किये हैं कि सृष्टि का अध्यक्ष परमात्मा इसे धारण भी करता है या नही तथा वह इसे जानता भी है या नही। परन्तु दयानन्द के विचारानुसार इस मन्त्र मे इस प्रकार की शका नही की जा सकती क्योंकि पूर्व के मन्त्रो मे यह स्पष्ट कहा गया है कि परमात्मा सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व ही विद्यमान था तथा उसी के सकल्प व तप से मूल प्रकृति से सृष्टि रचना का कार्य प्रारम्भ हुआ, तब क्या परमात्मा यह नही जानता होगा कि सृष्टि उत्पत्ति क्रम कहा से प्रारम्भ हुआ। यह तो साधारण मस्तिष्क भी समझ सकता है कि जिसने सृष्टि का निर्माण किया है वह इसके क्रम को भली-भाँति जानता ही है। अत. हमे इस विषय मे स्वामी दयानन्द का भाष्य सर्वथा सुसगत लगता है। इसके अतिरिक्त 'यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अग वेद यदि वा न वेद' का स्वामी दयानन्द अर्थ इस प्रकार करते हैं, 'जिस परमेश्वर के रचने मे जो यह नाना प्रकार का जगत् उत्पन्न हुआ है, वह ही इस जगत् को धारण करता, नाश करता और मालिक भी है। हे मित्र लोगो! जो मनुष्य उस परमेश्वर को अपनी बुद्धि से जानता है, वही परमेश्वर को प्राप्त होता है, जो उसको नही जानता वही दुख मे पडता है।'[1] दयानन्द इस मन्त्र मे दोनो स्थलो पर 'वा' को निश्चयार्थ मे लेते है जब कि पश्चिमी भाष्यकार इसको सशयार्थ मे ग्रहण करते है।[2]

पुरुष सूक्त मे सृष्टि वर्णन—नासदीय सूक्त के अतिरिक्त यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त म भी सृष्टि उत्पत्ति का वृत्तान्त पाया जाता है। सूक्त बताता है कि परमात्मा ने ब्रह्माण्ड को इक्कीस प्रकार की सामग्री से रचा और एक-एक लोक के चारो ओर सात-सात परिधियो का निर्माण किया।[3] सूर्य, चन्द्र, भूमि आदि

---

१ "प्रलयावसरे सर्वस्यादिकारणे परब्रह्म सामर्थ्ये प्रलीना च भवति। (सोध्यक्ष) स सर्वाध्यक्ष परमेश्वरोऽस्ति। (अगवेद) हे अंग! मित्र जीव! त यो वेद स विद्वान् परमानन्दमाप्नोति। यदि त सर्वेषा मनुष्याणा परमिष्टं सच्चिदानन्दादिलक्षण नित्य कश्चिन्नैव वेद, वा निश्चयार्थे, स परम सुखमपि नाप्नोति।" दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ४०९।

२. वही, पृ० ४१८।

३ "एक समुद्र, दूसरा त्रसरेणु, तीसरा मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टि जल और पाँचवा वृष्टि और जल के ऊपर एक प्रकार का वायु, छटा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनञ्जय कहते हैं, सातवाँ सूत्रात्मा वायु जो कि धनञ्जय से भी सूक्ष्म है। ये सात परिधि कहाते हैं।" वही पृ० ४१८।

पदार्थों की रचना कर पश्चात् जीवधारियों के शरीरों की पृथक्-पृथक जाति के अनुसार रचना की, यथा मनुष्य, घोड़ा, गौ इत्यादि। सब प्रकार के अन्न, जल आदि भूमि व अन्तरिक्ष में पैदा किये और ग्राम व वनों में रहने वाले पशु भी उत्पन्न किये।

इस प्रकार उपरोक्त विवरण से प्रतीत होता है कि सृष्टि-उत्पत्ति-विद्या वेदों में अत्यन्त वैज्ञानिक रूप में मिलती है। इसके अतिरिक्त रूपक व अलकारों के रूप में सृष्टि का काफी वर्णन और भी मिलता है। स्वामी दयानन्द इन सब को यौगिक अर्थों से सहज ही वैज्ञानिक रूप दे देते हैं।

पुनर्जन्म, कर्म व कर्मफल

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि दयानन्द के विचार से वेदों में जीवात्मा, परमात्मा से भिन्न एव अनादि है। आत्मा को शाश्वत मानने पर पुनर्जन्म और पुनर्जन्म के हेतु कर्म सिद्धान्त को मानना आवश्यक हो जाता है।

प्रयोजनवाद का अर्थ है कि सृष्टि का कोई उद्देश्य है। वेद के अनुसार ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण निष्प्रयोजन नहीं किया है। दयानन्द के विचार से सृष्टि का प्रयोजन जीव के लिये भोग व मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना है। ईश्वर जीव के शुभ व अशुभ कर्मों के फलभोग तथा भविष्य में शुभ कर्मों द्वारा मोक्ष प्राप्ति के लिये सृष्टि का निर्माण करता है। मोक्ष प्राप्ति से पूर्व जीव अपने कर्मों के फल भोगने के लिये ससार में पुन पुन जन्म धारण करता रहता है।

पुनर्जन्म—कतिपय विद्वान् वेदों में पुनर्जन्मवाद को स्वीकार नहीं करते। वेदों में पुनर्जन्मवाद पर लिखते हुये डा० राधाकृष्णन् कहते हैं कि वैदिक आर्यों के मस्तिष्क में इह-जीवन ही सब कुछ था, अत उन्हें मृत्यु के पश्चात् पुनर्जन्म पर विचार करने में कोई रुचि न थी। राधाकृष्णन आगे कहते हैं कि वेद के आर्यों के पास पुनर्जन्म के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त न था। हां मृत्यु के पश्चात जीवन के बारे में वे अवश्य विचार करते थे परन्तु स्वर्ग व नरक के रूप में। आपके विचार से जीव को मृत्यु के पश्चात स्वर्ग अथवा नरक की

प्राप्ति होती है जहा यम का शासन है।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि डा० राधाकृष्णन् वेद-सम्बन्धी अपने विचारो मे विशुद्ध रूप से पश्चिमी वेदज्ञो पर आश्रित हैं। इसके विपरीत महर्षि दयानन्द वेदो मे पुनर्जन्मवाद को पूर्णरूप से स्वीकार करते हैं। दयानन्द पुनर्जन्म सम्बन्धी वेद मन्त्रो का भाष्य करते हुये कहते हैं "हे सुखदायक परमेश्वर आप कृपा करके पुनर्जन्म में हमारे बीच मे उत्तम नेत्र आदि सब इन्द्रियो का स्थापन कीजिये तथा प्राण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, वल, पराक्रम आदि युक्त शरीर पुनर्जन्म मे कीजिये।'[2] इस मन्त्र मे स्पष्ट ही पुनर्जन्मवाद का उल्लेख है। चारो वेदो मे ऐसे मन्त्र एक नही अनेक हैं। यजुर्वेद कहता है 'पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुन प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षु पुन श्रोत्र म आगन्।'[3] अर्थात् हे परमेश्वर, जब-जब हम जन्म लेवें, तव-तव हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हो। इसी प्रकार अथर्ववेद मे कहा है "पुनर्मैत्विन्द्रिय पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।"[4] अर्थात् हे प्रभो हमे आपकी कृपा से पुनर्जन्म मे मन सहित ग्यारह इन्द्रियें प्राणो को धारण करने सामर्थ्ययुक्त आत्मा, धन एव वेद का ज्ञान प्राप्त हो।

वेदो के उपरोक्त मन्त्रो से स्पष्ट हो जाता है कि पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त

---

1 "They had no special doctrine about life after death though some vague conceptions about heaven and hell could not be avoided by reflective minds Rebirth is still at a distance" I. P. vol. I. p 113–114, Dr. S Radhakrishnan, India Ed 1940 Reprinted 1951

२. 'असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुन. प्राणमिह नो धेहि भोगम्।'
(ऋ० अ० ८ अ० १ व० २३ मं० १)
(इस मन्त्र पर दयानन्द का भाष्य। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० २१८, २१६ स० १६८५ अजमेर सस्करण)

३ देखिये यजु० ४–१५।

४ अथर्व वेद, काँ० ७ सूक्त ६७ म० १।

वेदों से ही चला आ रहा है तथा पश्चिमी वेदज्ञो एव उनका अनुकरण करने वाले आधुनिक भारतीय वेदज्ञो के इस मत मे कोई सार नही है कि वेद में पुनर्जन्म का विचार नही है और पुनर्जन्मवाद बाद मे उपनिषदो व दर्शन ग्रथो मे विकसित हुआ है। हमारे विचार से उपनिषदों मे जो पुनर्जन्मवाद आता है उसका मूल स्रोत वेद ही है और यहा दयानन्द अन्य किसी भी वेदज्ञ से अधिक तर्कसंगत एवं वेद के वास्तविक दर्शन के अनुरूप हैं।

कर्म व कर्मफल—पुनर्जन्म के साथ-साथ वेदो मे कर्म व कर्मफल का सिद्धान्त भी पाया जाता है। तथ्य तो यह है कि पुनर्जन्मवाद व कर्म का सिद्धांत आपस मे गुथे हुये हैं। जीव जैसे-जैसे कर्म इस जीवन में करता है उन्ही के अनुसार उसे अगला जन्म प्राप्त होता है। शुभ कर्मों से शुभ जन्म तथा अशुभ कर्मों के आधार पर निम्न कोटि का जन्म प्राप्त होता है।

कुछ विद्वान् वैदिक कर्म के नियम को एक अद्‌भुत रूप में लेते हैं। वे वेदो मे प्राप्त कर्म व कर्मफल को केवल यज्ञो तथा उनसे प्राप्त स्वर्ग व नरक तक ही सीमित रखते हैं। ये वेद मे प्रतिपादित कर्मवाद की कर्मकाण्डात्मक व्याख्या करते हैं क्योकि कर्मो के फलो के भोग के लिये इनके पास पुनर्जन्म का कोई सिद्धान्त ही नहीं है।

दूसरी ओर दयानन्द वैदिक कर्मवाद को पूर्ण वैज्ञानिक रूप मे वैसे ही बताते हैं जैसा कि अन्य उपनिषदादि आर्ष ग्रथो में।

आ यो धर्माणि प्रथम. ससाद ततो वपू पि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनि प्रथम आविवेशा यो वाचमनुदिता चिकेत।
(अथर्व० का० ५ सूक्त १ म० २)

उपरोक्त मन्त्र के भाष्य मे महर्षि दयानन्द लिखते हैं "जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है, उस धर्माचरण के फल मे अनेक उत्तम शरीरो को धारण करता है और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है। जो पूर्वजन्म मे किये हुये पाप-पुण्य के फलो को भोग करने के स्वभावयुक्त जीवात्मा है, वह पूर्व शरीर को छोड के वायु के साथ रहता है। जल, औषधि वा प्राण आदि मे प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुन जन्म लेता है।"[1]

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २, पृ० ५१६।

दो मार्ग पितृयान व देवयान—जीव के आचरण के लिये दयानन्द वेदो मे दो मार्गों को बताते हैं, पितृयान व देवयान । उनके अनुसार पितृयान वह मार्ग है जिस पर चलकर जीव माता-पिता के ससर्ग से देह धारण कर अपने पूर्व किये पाप और पुण्य कर्मों का फल भोगता तथा पुनः-पुन शरीर धारण करता रहता है तथा देवयान वह मार्ग है जिस पर चलकर जीव कर्म बन्धन से मुक्त होकर फिर जन्म धारण नही करता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।[1] यहा हम पाते हैं कि वेदो मे पाप और पुण्य कर्मों का फल इस या आगे के जन्मो मे भोगा जाना माना है तथा साथ ही एक ऐसे मार्ग का भी उल्लेख है जिस पर चलकर फिर जन्म-मरण का बन्धन समाप्त हो जाता है जो पाप-पुण्य से सर्वथा पृथक है । इसको यजुर्वेद एक अन्य स्थल पर और भी स्पष्ट करता है कि "कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की कामना करो परन्तु कर्म इस प्रकार करो कि वे तुम्हारे लिये बन्धनकारी न हो ।"[2] अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये वेद निष्काम कर्म करने का आदेश करते हैं । इस प्रकार गीता मे प्रतिपादित निष्काम कर्म का मूल स्रोत भी हमे वेदो ही मे मिल जाता है ।

मोक्ष

वेदो मे स्थान-स्थान पर यज्ञ करने और यज्ञ द्वारा धन, मान व प्रजा आदि सभी ऐश्वर्यों की प्राप्ति करने का आदेश मिलता है । इससे कतिपय आधुनिक वेदज्ञो को यह भ्राति हो गई कि वेद के मानव का लक्ष्य धरती पर सरलपूर्ण

---

१. देखिये यजु० १९-१ पर दयानन्द भाष्य ।

'अस्मिन् संसारे···द्वौ मार्गौ स्तः एक पितृणा ज्ञानिनां, देवाना विदुषा च द्वितीयः··· तयोरेकः पितृयानो, द्वितीयो देवयानश्चेति । ··· अर्थात् पूर्वापर जन्मानि च धारयति सा पितृयानाख्या ··· तथा यत्र मोक्षाख्यं पदं लब्ध्वा जन्ममरणाख्यात् संसाराद्विमुच्यते सा द्वितीया ।'

(वही पृ० ५१६–५१७)

२ 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छ्‌त ᳚ समा. ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।' यजु० ४०-२ ।।

जीवन की प्राप्ति तथा स्वर्ग में देवताओं के सान्निध्य मे सुखोपभोग-मात्र है ।[1] उनके विचार से वैदिक मानव यज्ञो को स्वर्ग की प्राप्ति के लिये किया करते थे, जिससे वे स्वर्ग मे पितरो के पास चले जायें तथा स्वर्ग मे प्राप्त सभी भौतिक ऐश्वर्यों का व्याधिरहित बलिष्ठ व सुन्दर शरीर से भोग करें। इनके विचार मे वेदो मे कर्मों के दो रूप पाप व पुण्य हैं एव फलस्वरूप कर्मों की दो ही गतियें, नरक व स्वर्ग हैं। और मुक्ति की धारणा, जिसमे जीवात्मा जीवन-मरण के चक्र से छूट कर अमरत्व को प्राप्त होता है तथा सुख-दु ख, पाप-पुण्य व भोग-त्याग सबसे छूट जाता है, वेदो के ही नहीं वरन् ब्राह्मणो के भी पश्चात् उपनिषदो में विकसित हुई है।

यहां पर भी महर्षि दयानन्द वेद के सम्बन्ध में हमारे सामने एक नवीन विचार रखते हैं, जो आधुनिक युग मे सर्वथा मौलिक है तथा वेद-विद्या मे वेद के धर्म व वेद के दर्शन मे क्रान्ति पैदा करने वाला है। दयानन्द का कहना है कि वेद यज्ञ व उत्तम कर्मों द्वारा सर्व प्रकार के सुख ऐश्वर्यों का आदेश करता है, यह बिल्कुल ठीक है क्योंकि उन्नत जीवन व सभ्य समाज के लिये यह सब आवश्यक भी है लेकिन अभ्युदय की गति को वेद मे अन्तिम नही कहा गया है। वरन् इन सबसे ऊपर उठ कर वेद उस अमृत-पद का निर्देश भी करता है जिसकी प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ से अर्जित किये गये समस्त ऐश्वर्यों का सर्वथा त्याग-पूर्वक भोग करना चाहिये और हम दयानन्द के इस मत की पुष्टि मे वेदो मे स्थल-स्थल पर अनेक ऐसे मन्त्र पाते हैं जिनमे परम नि श्रेयस के रूप मे ब्रह्म की प्राप्ति का निर्देश किया गया है। जीवन की राह के सच्चे पथिक को वाणी में वेद कहता है "द्विजो की पवित्र वेदमाता की मैं स्तुति करता हूँ, यह मुझे आयु, प्राण (स्वास्थ्य), सन्तान, पशु, कीर्ति, धन तथा ब्रह्मज्ञान को देवे, जिससे मैं ब्रह्म लोक को प्राप्त होऊं।"[2]

१. देखिए-"वैदिक धर्म एव दर्शन" भा० २ पृ० ७२२ ले० ए० बी० कीथ, अनुवादक सूर्यकान्त।

२ 'स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् आयु. प्राणं प्रजा पशुं कीर्ति द्रविण ब्रह्म वर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।' अथर्व० १९।७१।१

यह हम कह चुके हैं कि दयानन्द वेदो को मुख्यतया ब्रह्म-विद्या के ग्रन्थ मानते हैं, इससे उनके मत मे ब्रह्म की प्राप्ति कराना चारो वेदो का मुख्य तात्पर्य है और यह युक्तिसगत भी प्रतीत होता है क्योकि मनुष्यो का सर्व प्रमुख कर्त्तव्य परम लक्ष्य की प्राप्ति है, जिसके लिये संसार मे मनुष्य का अवतरण हुआ है और वेद, जोकि आदि ज्ञान के रूप मे मनुष्यो को दिये गये, यदि मानव लक्ष्य को प्राप्त कराने की कला का व्याख्यान नही करते, तव इनका ईश्वरीय ज्ञान के रूप मे स्वीकार करना एक भ्रम होगा। वेद के विषय मे यह विचारधारा उपनिषद्-काल तक चलती रही। उपनिषद्-काल के लोप से साथ-साथ वेद के सम्वन्ध मे इस मान्यता का लोप भी हो गया था कि वेद मुख्य रूप से ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग का प्रतिपादन करते हैं। दयानन्द ने सदियो से चली आ रही इस भूल को फिर से सुधारा और कहा कि वेद के अनुसार मानव के लिये ब्रह्म की प्राप्ति से वढ़कर और कोई प्राप्ति नही है तथा चारो वेद विशेष रूप से उसी की प्राप्ति कराने का प्रतिपादन कर रहे हैं।[1] और हमारा मत यह है कि वेदो मे ब्रह्म-प्राप्ति के लिये आवश्यक ज्ञान-विज्ञान व गूढतम मानसिक विद्याओ का वर्णन अतिशय से भरा पडा है, वस आवश्यकता है उसे समझने की। वीसवी शताब्दी के ऋषि महायोगी अरविन्द इस विषय मे महर्षि दयानन्द से पूर्णरूप से सहमत हैं। वे लिखते हैं कि वेद के अध्ययन करने पर "हम यह पायेंगे कि सारा का सारा ऋग्वेद क्रियात्मक रूप से इस द्विविध विषय पर ही सतत् रूप से चक्कर काट रहा है—मनुष्य की अपने मन और शरीर मे तैयारी और सत्य तथा नि श्रेयस की प्राप्ति और विकास के द्वारा अपने अन्दर देवत्व और अमरत्व की परिपूर्णता।"[2]

मुक्ति के साधन ज्ञान व कर्म—वेदो मे ज्ञान को मुक्ति का मुख्य साधन वताया है। तथा उपनिषदो का यह सिद्धान्त, कि "विद्या द्वारा समस्त वन्धनकारी ग्रन्थियो को काट दिया जाता है" वेदों मे यथावत् प्राप्त होता है। महर्षि दयानन्द एक वेद मत्र के भाष्य मे वेद के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि 'जो मनुष्य विद्या व अविद्या के स्वरूप को साथ ही साथ

१. महर्षि दयानन्द कृत दयानन्द ग्रन्थ माला भा० २ पृ० ३१३।

२ श्री अरविन्द का 'वेद रहस्य' भा० १ पृ० १०२।

जानता है, वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।"[1] हम देखते हैं कि उपरोक्त मन्त्र में दयानन्द वेद में ज्ञान-मार्ग को ही नहीं वरन् कर्म-मार्ग को भी साथ ही मानते हैं। वास्तव में बिना कर्म के ज्ञान की प्रतिष्ठा अधूरी है। ज्ञान और कर्म द्वारा प्राणी परमात्मा की उपासना से समस्त बन्धनों व हृदय की ग्रन्थियों को नष्ट कर मोक्ष को प्राप्त करता है। यजुर्वेद अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से मुमुक्षुओं को मुक्ति का मार्ग बताता हुआ द्रष्टा ऋषि की भाषा में कहता है, 'जो सबसे बड़ा, सबका प्रकाश करने वाला और अविद्या अन्धकार अर्थात् अज्ञानादि दोषों से अलग है उसी पुरुष को मैं परमेश्वर और इष्टदेव मानता हूं। उसको जाने बिना कोई मनुष्य यथावत् ज्ञानवान् नहीं हो सकता, क्योंकि उसी परमात्मा को जान के और प्राप्त होके जन्म-मरणादि क्लेशों के समुद्र समान दुःख से छूट के परमानन्द-स्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है। अन्यथा किसी प्रकार से मोक्ष सुख नहीं हो सकता।"[2]

इस विवेचना में हम यह भी देखते हैं कि वेदों में मुक्ति का जिस रूप से वर्णन किया गया है उसमें और उपनिषदों में वर्णित मुक्ति में कोई अन्तर नहीं है। वेद ब्रह्म-पद को ही परमपद मानते हैं। वेद कहता है "यही विष्णु का परमपद है जिसे मुक्त ज्ञानी पुरुष सदैव देखते हैं।"[3] जो विद्वान् वेदों में केवल स्वर्ग व नरक की कल्पना का प्रतिपादन करते हैं वे इससे भली-भांति समझ सकते हैं कि उनकी ये कल्पनायें कितनी भ्रान्त हैं, और हम पाते हैं कि दयानन्द वेद के अपने गम्भीर व गहन अध्ययन के आधार पर वेदों में मानव-जीवन के परम लक्ष्य के रूप में, मुक्ति का सफलतापूर्वक प्रतिपादन करते हैं।

---

१ सत्यार्थ प्रकाश पृ० २३६।

२ 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥' यजु० ३१।१८ इस पर दयानन्द का भाष्य (द० ग्र० मा० भाग २ पृ० ४२१)।

३ 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।' ऋ० अष्टक १। अध्याय २। वर्ग ७। मं० ५।

मुक्ति से पुनरावृत्ति

इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द मुक्ति के विषय मे एक नया विचार हमारे सम्मुख रखते हैं, वह है मुक्ति से पुनरावृत्ति। दयानन्द का कथन है कि वेदो के अनुसार जीव की मुक्ति अनन्त काल के लिये नही होती वरन् मुक्ति की अवधि समाप्त कर जीवात्मा फिर जन्म-मरण के चक्र मे आ जाता है। इसमे दयानन्द युक्ति देते हैं कि जिस कार्य का आरम्भ होता है उसका अन्त भी निश्चित है। मुक्ति का प्रारम्भ है अत इस अवस्था का अन्त भी होना चाहिये। इस सम्वन्ध मे दयानन्द ऋग्वेद के दो मन्त्र हमारे सामने रखते हैं। वेद प्रश्न करता है कि हम किसका नाम पवित्र जानें ? कौन नाशरहित, पदार्थों के मध्य मे वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है, जो हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुन इस ससार मे जन्म देता और माता-पिता के दर्शन कराता है।"[1] अगले ही मन्त्र मे वेद उत्तर देता है कि 'हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें, जो हमें मुक्ति मे आनन्द भुगाकर पृथिवि मे पुन माता-पिता के सम्वन्ध मे जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है।'[2]

मुक्ति को प्राप्त कर जीव एक अवधि—चाहे वह कितनी ही लम्बी क्यो न हो—के बाद पुन ससार मे लौट आता है, दयानन्द का यह मत दार्शनिक जगत् में एकदम नया है। महर्षि के विचार से उपनिषद् व दर्शन ग्रन्थों मे भी मुक्ति से पुनरावृत्ति का प्रतिपादन है। इस प्रश्न पर हम यहा पर विचार नही करेंगे, वरन् आगे मुक्ति विषय मे इसको उठायेंगे।

---

१ "कस्य नून कतमस्यामृताना मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितर च दृशेय मातर च।" ।1।

२ "अग्नेर्वय प्रथमस्यामृताना मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितर च दृशेय मातर च।।" ऋ० मं १।
सूक्त २४। म० 1-२।

इन दोनो मन्त्रो पर हमने दयानन्द का भाष्य उद्धृत किया है। देखिये सत्यार्थप्रकाश पृ० २४४-२४५।

२

दयानन्द और उपनिषद्



वेद-ब्राह्मण और उपनिषद्

वेद की आलंकारिक व प्रतीकात्मक भाषा अपने आप में एक पहेली है। तथा इसमें पाये जाने वाले अलंकार अनेक रहस्यपूर्ण निर्देशों से भरपूर हैं जो वेद के जिज्ञासु को अनेक प्रलोभनों में डाल देते हैं। इससे वह वेद को खोलने वाले वास्तविक पथ से भटक जाता है। जो विद्वान् वेद की इस अलंकारपूर्ण, निर्देशात्मक भाषा के प्रलोभन से पार हो जाता है वेद उसके लिये अपनी अमूल्य ज्ञान-निधि को खोल देता है।

वेद की भाषा को समझने के लिये केवल संस्कृत के ज्ञान से काम नहीं चलता। साधारण मस्तिष्क की तो वहाँ पहुँच ही नहीं हो सकती। वेद के सनातन ज्ञान को प्राप्त करने के लिये दो बातों की नितान्त आवश्यकता है; (१) संस्कृत भाषा के वैदिक रूप के ज्ञान की, तथा (२) समाधि की अवस्था की प्राप्ति की। भाषा व प्रतीकों की कठोर दीवार के पीछे छिपे वैदिक सत्यों को खोलने के लिये, बाद के ऋषियों ने इसी प्रणाली का प्रयोग किया। इस महान् प्रयास के दो मुख्य रूप हमारे सामने आये—प्रथम ब्राह्मण ग्रन्थ तथा दूसरे उपनिषद् ग्रंथ। यह दोनों ही ग्रंथ वेद के दो मुख्य विषय कर्म व ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं।

ब्राह्मण ग्रंथ—ब्राह्मण ग्रन्थों में वैदिक कर्मकाण्ड की आध्यात्मिक व लौकिक दोनों ही प्रकार से व्याख्या एवं व्यवस्था की है। ब्राह्मण, वेद (संहिता भाग) के व्याख्यान मात्र हैं। महर्षि दयानन्द इन्हें वेदों में स्वीकार नहीं करते

क्योकि ब्राह्मण ग्रन्थ ऋषियो के द्वारा निर्मित हैं तथा वेद ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान है ।[1] ब्राह्मणो मे वैदिक मन्त्रो की प्रतीकें धर-धर कर उनकी व्याख्या की गई है जैसे शतपथ ब्राह्मण मे 'ईषेत्वोर्जेत्वा' की 'ईषेत्वोर्जेत्वेति' यह प्रतीक धर कर व्याख्या की गई है, ऐतरेय ब्राह्मण मे ऋग्वेद के मन्त्र की 'अभित्वादेव सवितरिति' यह प्रतीक देकर व्याख्या की गई है । परन्तु ब्राह्मण ग्रथो मे ऋषियो ने वैदिक प्रतीको को एक नये प्रतीकवाद से बताने की चेष्टा की है। यद्यपि यह वेद के अर्थों को खोलने का प्रयास है तथापि वाद के विद्वानो के लिये यह वेदो के रहस्यवाद से भी अधिक कठिन सिद्ध हुआ । इससे पश्चातवर्ती विद्वानो ने ब्राह्मण ग्रथो की यज्ञो की आध्यात्मिक व्याख्या को तो दृष्टि से ओझल कर दिया और नये प्रतीकवाद से ढके लौकिक अर्थों को ले लिया। इससे ये ग्रन्थ केवल यज्ञ-याग सम्बन्धी ग्रन्थ समझे जाने लगे, जबकि हम देखते हैं कि इनमे दार्शनिक तत्त्व भी हैं ।

उपनिषद् ग्रन्थ—उपनिषदों मे ऋषियो ने ज्ञानकाण्ड को पकड़ा । उन्होने वेदो मे प्राप्त होने वाले आध्यात्मिक सूत्रो के रहस्यो का समाधि तथा आध्यात्मिक अनुभूतियो द्वारा साक्षात्कार किया । उन्होने वेद के प्रतीको की आध्यात्मिक व्याख्या की। उपनिषद् के ऋषियो ने भाषा की अधिक परवाह नही की, अतः इनकी भाषा वेद व ब्राह्मणो से अधिक सरल है। इन्होने भाषा के सामने ज्ञान पर अधिक बल दिया तथा वेद के परम तात्पर्य ब्रह्म को अपना सीधा लक्ष्य बनाया । उपनिषदो मे ब्रह्म का व्याख्यान पाया जाता है ।

ब्राह्मण और उपनिषद् वेद की संहिताओ के वाद मे ऋषियो द्वारा बनाये गये ग्रथ है । ये वेद के भाग नही हैं, जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं। महर्षि दयानन्द उपनिषदो को भी वेद का भाग नहीं मानते ।[2] परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही हैं कि दयानन्द इन्हे प्रमाण न मानते हो । हा दयानन्द ब्राह्मणो

---

१ देखिये ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ९९। वेद संज्ञा विचार विषय ।

२ 'मैं वेदो मे एक ईशावास्य को छोडकर अन्य उपनिषदो को (वेदो मे) नहीं मानता किन्तु अन्य सब उपनिषद ब्राह्मण ग्रन्थो मे हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं ।'
(दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २ पृ० ८५७)

व उपनिषदों को ऋषियों के वचन होने से परत: प्रमाण मानते हैं,[1] वेद के समान स्वत: प्रमाण नहीं।

क्या उपनिषदों में वेद के विरुद्ध क्रान्ति की गई है?—कुछ विद्वानों का विचार है कि उपनिषदों में वेदों के विरुद्ध क्रान्ति की गई है। वेद कर्मकाण्ड प्रधान ग्रन्थ हैं तथा उपनिषदें ज्ञान-प्रधान हैं। इनके मत में वेद की कर्मकाण्ड व यज्ञात्मक प्रणाली को उपनिषदों में न केवल उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया वरन् उसे व्यर्थ और शरारतभरी भी बताया है।[2] इनके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कि उपनिषदें वेदों को अपरा-विद्या के ग्रंथ बताती हैं तथा परा अर्थात् ब्रह्म विद्या का उनमें अभाव मानती हैं।[3]

स्वामी दयानन्द इन विचारों से बिल्कुल सहमत नहीं हैं। वेद, ब्राह्मण व उपनिषदों के मध्य विद्वत्-कल्पित द्वन्द के विषय में महर्षि दयानन्द का अन्य विद्वानों से मुख्य मतभेद यह है कि दयानन्द न तो वेदों को केवल कर्मकाण्ड व यज्ञ की पुस्तक मानते हैं और न उनमें कल्पित केवल यज्ञों द्वारा मुक्ति के सिद्धान्त को ही। यह हम पहिले ही कह आये हैं कि वेदों में कर्म और ज्ञान दोनों विषय उपलब्ध होते हैं तथा बाद में ब्राह्मण ग्रंथों व उपनिषदों ने इनमें से एक-एक को अपना मुख्य विषय बना लिया। ब्राह्मणों ने कर्म विषय का विस्तार किया और उपनिषदों ने ज्ञान का। सायण सरीखे भारतीय तथा

---

१. "वेद स्वत: प्रमाण हैं और ब्राह्मण परत: प्रमाण।" वही पृ० ८५८।

२. In these Upanishads the whole ritual and sacrificial system of the Veda is not only ignored, but directly rejected as useless, nay, as mischievous."

(The Vedanta Phil by Max-Muller P. 16 Cal. 1955)

३ 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।'

मु० उ० १–१–५।

(मुण्डकोपनिषद के इस मन्त्र से विद्वान यह मानते हैं कि उपनिषदें वेदों को अध्यात्म विद्या के ग्रन्थ नहीं मानतीं।)

सायण का अनुकरण करने वाले पश्चिमी विद्वानो ने वेद और उपनिषदो का जो आपस मे विरोध प्रदर्शित किया है वह उनके वेद के विषय को सही-सही रूप मे न समझने के कारण है तथा साथ ही वे औपनिषदिक ऋषियो की वेद के सम्बन्ध मे श्रद्धा व आदर से पूरित भावना को भी नही समझ पाये।

परन्तु इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब वेदो मे कर्म के साथ-साथ ज्ञान विषय भी है और वेद ज्ञान को कर्मकाण्ड से श्रेष्ठ भी मानते हैं (जैसा कि दयानन्द कहते हैं), तब उपनिषदो मे यह कहकर कि 'यज्ञो की नाव भारी है"[1] वेदो की निन्दा क्यो की गई है? तथा वेदो को अपरा विद्या के ग्रथ क्यो गिनाया गया है? इन दोनो प्रश्नो के समाधानार्थ हमारे विचार मे उपनिषदो के उन मन्त्रो पर विचार करना अधिक ठीक होगा, जिनके आधार पर यह मिथ्या धारणायें बनी हैं। मुण्डकोपनिषद् १—२—७ मे कहा गया है कि 'निश्चयपूर्वक इस प्रकार की यज्ञ रूप नौकायें (जो पार उतरने का साधन कही गई हैं) जिनमे बैठे सोलह ऋत्विक, यजमान व यजमान पत्नि सहित अठारह यज्ञ करने वाले अविवेकी पुरुष इनको श्रेय मानकर प्रसन्न होते हैं वे निश्चयपूर्वक जरा और मृत्यु को पुन पुन प्राप्त होते हैं।[2] इस मन्त्र मे केवल यज्ञो से मुक्ति प्राप्त करने वाले अविवेकी जनो के मत का खण्डन है। जिसका वर्णन इस उपनिषद् के वक्ता ऋषि ने पिछले तीन मन्त्रो (१-२-४, १-२-५ व १-२-६) मे किया है। इस मन्त्र में ऋषि ने उस मत की तुच्छता दिखाई है कि केवल यज्ञ करने से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नही है। वास्तव मे उपनिषद् यज्ञ-कर्मों के विरुद्ध नही है वरन् अग्निहोत्र मात्र से मुक्ति प्राप्ति की आशा के विरुद्ध है। इसका स्पष्ट प्रमाण हमे मुण्डकोपनिषद् के (१-२-१, १-२-२ व १-२-३) मन्त्रो मे मिल जाता है जिनमें ऋषि ने पुण्य कर्मों के साधनभूत अग्निहोत्रादि कर्मों का उल्लेख किया है।

अब यदि ऋषि को अग्निहोत्र सर्वथा त्याज्य होता तो वह यहा क्यो इसका

---

१ 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञ रूपा।' मु० १—२—७।

२ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यन्ति।
मु० १—२—७।

वर्णन करता। इसके अतिरिक्त अन्य उपनिषदो मे भी अग्निहोत्रादि यज्ञीय कर्मो की उपयोगिता को स्वीकार किया गया है। कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम से द्वितीय वर के रूप में वैदिक अग्निहोत्र को मागा था तथा यम ने नचिकेता के लिये उसका व्याख्यान किया। यदि वैदिक यज्ञ उपनिषदो को बिल्कुल ही मान्य न होते तब यम ने उसको हेय क्यो नही बताया। वास्तविकता क्या है, जब हम इस पर विचार करते हैं तब ईशोपनिषद् का मन्त्र हमारी सारी समस्या का समाधान कर देता है। मन्त्र कहता है कि 'कर्म करते हुये सौ वर्ष तक जियो परन्तु कर्म इस प्रकार करो कि वह तुम्हे लिप्त करने वाले न हो।'[1] इस मन्त्र मे सौ वर्ष तक जीवित रहकर निष्काम भाव मे कर्म करने का आदेश है। सकाम भावना से किया गया कर्म सदैव बन्धनकारी होता है फिर चाहे वह वैदिक कर्मकाण्ड ही क्यो न हो। ब्रह्म की प्राप्ति के साधन के रूप मे यज्ञो का खण्डन करने मे उपनिषदो का तात्पर्य सकाम भावना से प्रेरित होकर किये गये यज्ञो से है। स्वामी दयानन्द उपनिषदो मे यज्ञो के इसी निष्काम रूप को मानते हैं। उपनिषद् के एक मन्त्र का अर्थ करते हुये वे कहते हैं कि "जो बहुधा अविद्या मे रमण करने वाले बाल-बुद्धि हम कृतार्थ हैं ऐसा मानते हैं जिसको केवल कर्मकाण्डी लोग राग से मोहित होकर नही जान और जना सकते, वे आतुर होकर जन्म-मरण रूप दुख मे घिरे रहते हैं।"[2] अब, यज्ञो के द्वारा मुक्ति-प्राप्ति के विषय में, वेद क्या कहते हैं, इस पर भी विचार कर लिया जाय। जहा तक सकाम भावना से किये गये कर्म और स्वर्ग की भावना से किये गये यज्ञो का प्रश्न है, वेद इस सम्बन्ध मे उपनिषदो से सहमत है। वेद कहता है "जो उस ब्रह्म को नही जानता वेद की ऋचा उसका क्या लाभ करेगी?"[3] इस स्थल पर वेद स्पष्ट रूप मे कह रहा है कि केवल वेद पढ लेने मात्र से मुक्ति नहीं मिल सकती। वेद के अनुसार मुक्ति का एक ही मार्ग है और वह है ब्रह्म

१ "कुर्वन्नेहवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे"॥ ईशोपनिषद २।

२ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १२४।

३. "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।" (ऋ० म० १, सूक्त १६४, मन्त्र ३९)

की प्राप्ति। ऋग्वेद स्पष्ट शब्दो में घोषणा कर रहा है कि "ब्रह्म के जानने से ही मृत्यु से छुटकारा प्राप्त हो सकता है, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग मृत्यु से छूटने का नही है।"[1] अर्थात् वेद निर्देश करता है कि मृत्यु से तभी छूटा जा सकता है जब कि सत्य ज्ञान को प्राप्त कर लिया जाये, इससे पूर्व नही, फिर चाहे कितने भी यज्ञ क्यो न किये जायें। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यज्ञो की मान्यता के विषय मे वेद और उपनिषदो मे कोई मतभेद नही है।

इसके उपरात अब हम इस दूसरे प्रश्न की, [कि क्या उपनिषदें वेदो को अपरा विद्या के ग्रन्थ मानती है, समीक्षा करेंगे। इसमे कोई सन्देह नही कि मुण्डकोपनिषद् १-१-५ 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेद' दिखायी पड़ने मे, चारो वेदो को अपरा विद्या के ग्रन्थ बता रहा है। परन्तु किसी ग्रन्थ के किसी विषय मे वास्तविक अभिप्राय का उसके किसी एकाध वाक्य को देखने मात्र से पता नहीं चल सकता। इसके लिये हमे उस ग्रन्थ की मूल भावना को अपने विचार का केन्द्र बनाना चाहिये। इसी उपनिषद् के एक अन्य मन्त्र मे चारो वेदो को ब्रह्म की वाणी बताया है[2] तथा एक अन्य मन्त्र मे वेदो को इसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ कहा है।[3] अब जबकि मुण्डकोपनिषद् का ऋषि वेदो को साक्षात् ब्रह्म से उद्भूत मानता हो तब यह समझ मे नही आता कि वह इन्ही वेदो को अपरा विद्या के ग्रन्थ कैसे कह सकता है। तथ्य यह है कि वेदो मे परा और अपरा दोनो ही विद्यायें विद्यमान हैं। परन्तु समाज मे साधारण जन प्रेय अर्थात् अपरा विद्या से अधिक सम्बन्ध रखते हैं और फिर वेदो की भाषा भी कुछ ऐसी है, जो ऊपर से दीखने पर साधारण मस्तिष्क को प्रेयात्मक लगती है इसी से साधारण जन उन्हे अपरा विद्या से पूरित मानते हैं। यहा पर वेदो को अपरा विद्या कहने से ऋषि का केवल इतना ही तात्पर्य है कि साधारण जन

१. "तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽनाय।"
य. ३१-१८।

२. मु० २-१-४

३. "तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः।" मु० २-१-६॥

वेदो मे अपरा विद्या को ही देखते हैं और जो परा विद्या है वह भी वेदो मे ही पायी जाती है, वह वो है जिससे अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

इसके विपरीत विपक्षियो—पश्चिमी विद्वानो—का तर्क यह है कि उपनिषद् के उक्त मन्त्र की इस प्रकार की व्याख्या करना स्पष्ट ही अर्थों की खीचातानी है तथा वास्तव मे वेदो मे ब्रह्म-विद्या नहीं है और उपनिषदो के अनुसार वेद अपरा विद्या के ही ग्रन्थ हैं। इस आपत्ति के विरुद्ध दयानन्द हमारे सम्मुख एक और तर्क रखते हैं। उनका कहना है कि 'जो ब्रह्म-विद्या वेदो मे न होती तो उपनिषद् के ऋषियो को इसका ज्ञान नही हो सकता था।'[1] दयानन्द का यह तर्क ठीक भी है क्योकि ब्रह्म-विद्या अत्यन्त सूक्ष्म विद्या है और जिस रूप मे यह उपनिषदो मे पायी जाती है वह तो अत्यन्त परिष्कृत रूप मे है। अतः यह मानना कि उपनिषद् के रचयिता ऋषियो ने इसे विना किसी पूर्ववर्ती ज्ञान के स्वतन्त्र रूप से रच लिया, नितान्त असगत है। यदि हम विकास वाद को लें, तो जिस प्रकार विना बीज के अकुर नही होता उसी प्रकार विना बीजरूप ब्रह्मज्ञान के उपनिषदो का विस्तृत, स्पष्ट एवं परिष्कृत ब्रह्मज्ञान कैसे हो सकता था। इस विषय मे श्री अरविन्द का कथन पूर्णरूप से दयानन्द के मत का समर्थन कर रहा है। वह कहते हैं 'ऐसे गम्भीर और चरम सीमा तक पहुँचे विचार, ऐसे सूक्ष्म और महाप्रयत्न द्वारा निर्मित अध्यात्म विद्या की पद्धति जैसा कि भारत उपनिषदो मे पायी जाती है किसी पूर्ववर्ती शून्य से नहीं निकल आयी।'[2] इसके लिये पूर्व विद्यमान आधार की आवश्यकता है, जिससे औपनिषदिक ऋषियो को प्रेरणा व विचार-सामग्री मिली है और इस आधार के रूप में हमारे पास वेद के ग्रन्थ हैं।

वेदो मे ब्रह्म-विद्या अर्थात् परा-विद्या है या नहीं, इस विषय को अब हम दूसरे उपनिषदों मे भी देखेंगे। कठोपनिषद् कहता है, "सारे वेद जिसे गाते हैं, योगी लोग जिसके लिये तप करते हैं, जिसकी प्राप्ति की कामना से मुमुक्षु ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं वह पद सक्षेप मे कहना है कि वह ब्रह्म है।"[3]

१. दयानन्द ग्रथमाला, भाग २ पृ० ८६५।

२. वेद रहस्य, ले० श्री० अरविन्द, भा० १ पृ० ४।

३. "सर्वे वेदा यद् पदमामनन्ति तपासि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्"॥ कठ० १-२-१५।

इस स्थल पर कठोपनिषद् बहुत ही स्पष्ट रूप से कह रहा है कि सारे वेद ब्रह्म का ही व्याख्यान कर रहे हैं। अत हमारी समझ मे नही आता कि वेदो को विशुद्ध अपरा-विद्या के ग्रन्थ कैसे कहा जा सकता है और यहाँ हमे महर्षि दयानन्द का ही मत अधिक युक्तियुक्त लगता है कि वेदो मे परा और अपरा दोनो ही विद्यायें हैं परन्तु इनमे परा विद्या (ईश्वर) का व्याख्यान करना वेदो का मुख्य लक्ष्य है।[1]

दयानन्द की उपनिषदो के सम्बन्ध मे इस विचार-सरणि से बाध्य होकर हम को यह मानना ही पडता है कि वेदो मे जिस परम सत्ता का वर्णन 'सृष्टि का अध्यक्ष', 'देवो का देव' व अनेक स्थलो पर 'ब्रह्मादि' नामो से किया जाता है, वही परम तत्त्व उपनिषदो का ब्रह्म है। इसी को उपनिषदें 'सबका आत्मा', 'नित्यो का नित्य' इत्यादि नामो से पुकारती हैं। डा० पी० के० आचार्य सरीखे विद्वानो के लेखो मे भी दयानन्द के इसी मत का प्रभाव प्रतीत होता है, जब वह कहते हैं कि 'पीछे के दार्शनिको को उपनिषदो के सिद्धान्तो मे वेदो का अन्त नही वरन् चरम तात्पर्य दिखाई पडा'।[2]

---

१ "अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति। विज्ञान कर्मोपासना ज्ञानकाण्ड भेदात्। ... ...अत्रैव सर्वेषा वेदाना तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वस्य पदार्थेभ्य प्रधानत्वात्।" (दयानन्द ग्रथमाला, भा० २ पृ० ३०२)

२ (i) 'उपनिषदो मे औदार्य'' लेख। लेखक महामहोपाध्याय डा० पी० के० आचार्य, एम ए, पी एच डी, डी लिट (कल्याण का उपनिषदाक जनवरी १९४९ पृ० ८७)

(ii) 'The chief reason why the Upanishad's are called the end of the Vedas is that they represent the central aim and meaning of the teaching of the Vedas'
(The Principal Upanishads P 24, London 1953) By Dr. S Radhakrishnan

(iii) "सन्ति खलु उपनिषदो वेदमूला इति सर्वेषामेव निर्विवादमभिमतम्।" (सस्कृत साहित्य विमर्श पृ० १४८, ले० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, १९५६)।

दयानन्द और उपनिषद्-दर्शन

वैदिक दर्शन के महान् आचार्य शकर, रामानुज, मध्व आदि ने उपनिषदो को अपनी विचारधारा का आधार बनाया है। शकर, मध्व आदि ने मुख्य-मुख्य उपनिषदो पर भाष्य भी लिखे हैं। जिन आचार्यों ने इन पर भाष्य नही लिखे उन्होंने भी अपने दर्शन का प्रेरणा-स्रोत इन्ही ग्रन्थो को बनाया। वैदिक दर्शन के आचार्यों मे यह एक परिपाटी सी दिखाई पडती है कि वे या तो उपनिषदो पर भाष्य लिखते हैं अथवा अपने विचारो के समर्थन मे उपनिषदो को आधार बनाते हैं। यद्यपि इन आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तो मे भारी मतभेद हैं तथापि इनमे से हरएक अपने सिद्धात को उपनिषदो का सही सिद्धान्त बताता है। शकराचार्य के अनुसार उपनिषद् अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं तो रामानुज के विचार से इसमे विशिष्टाद्वैतवाद है, मध्व इन्ही मे द्वैतवाद का दर्शन करते हैं। इन ग्रन्थो के सम्बन्ध में विचारो की इतनी विविधता का कोई न कोई कारण अवश्य है। विचार करने पर पता चलता है कि उपनिषदो मे विभिन्न मतो का दर्शन कराने वाली श्रुतिया काफी मात्रा मे मिलती हैं। कोई श्रुति स्पष्ट अद्वैतवाद का प्रतिपादन करती है तो कोई द्वैतवाद के पक्ष मे है। कुछ श्रुतियें ऐसी भी हैं जो रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुकूल हैं। सम्भवत. इसी लिये मैक्समूलर महोदय ने उपनिषदो के विषय मे यह धारणा बनायी कि इनमे नियमित व सुस्पष्ट रूप से कोई एक विचारधारा नही मिलती।[1] इनके विचार से भिन्न-भिन्न उपनिषदो का निर्माण विभिन्न कालो मे अलग-अलग ऋषियो ने किया है अतः इनमे विचारो की भिन्नता का होना कोई आश्चर्य की बात नही।

उपरोक्त विचारधारा मे ऊपर से देखने पर बल तो प्रतीत होता है परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर हमे इसमे एक बडी भारी कमी का पता चलता है। स्वामी दयानन्द के अनुसार उपनिषदो मे वर्णित आध्यात्मिक ज्ञान साधारण विचारक्रिया का फल नहीं है बल्कि इसकी प्राप्ति ऋषियो ने, अपने गम्भीर पाडित्य एव मनोयोग द्वारा समाधि की गहन अवस्था मे की थी। 'अयमा-

1 See Vedant Philosophy Max Muller, p 20 & 24

त्मा-ब्रह्म"[1] इस उपनिषद् वाक्य को जिसका अर्थ है कि यह जो मेरे मे व्यापक है वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, समाधि-अवस्था से नीचे कोई इतनी स्पष्टता, दृढता व निर्भीकता से नही कह सकता जैसा कि उपनिषद् का द्रष्टा ऋषि अपने तदात्मा से साक्षात् के आधार पर कहता है।[2] उपनिषदे, सुने हुये या बुद्धि के स्तर पर प्राप्त किये हुये ज्ञान को सदैव ही सत्य नही मानती तथा स्पष्ट रूप से कहती है कि 'यह आत्मा न तो पठन-पाठन से प्राप्त होता है न बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है और न ही बहुत सुनने से।"[3] सत्य ज्ञान की प्राप्ति का कौन सा सही मार्ग है इस विषय मे उपनिषदें हमे श्रवण, मनन व निदिध्यासन का मार्ग बताती हैं। परम सत्य को जानने के लिये सर्वप्रथम उन आचार्यों से जिन्होने सत्य का साक्षात् किया है, इसके विषय मे श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिये, इसके अनन्तर उस श्रवण किए हुये ज्ञान पर बुद्धिपूर्वक मनन करना चाहिये पश्चात् निदिध्यासन करना चाहिये। इस प्रक्रिया मे प्रथम स्थिति इन्द्रियो द्वारा ज्ञान की प्राप्ति की है, दूसरी अवस्था मे जो कि पहले से सूक्ष्म है जिज्ञासु बुद्धि से श्रुत ज्ञान पर मनन करता है। परन्तु, उपनिषदे ज्ञान की प्राप्ति एव उसकी सत्यता की परीक्षा को यही समाप्त नही कर देती, वरन् ये बुद्धि से भी सूक्ष्म समाधि की अवस्था मे, विषय के साक्षात्कार को अन्तिम मानती है। समाधि की अवस्था बुद्धि को पार कर आन्तरिक ज्ञान की वह अवस्था है जहाँ द्रष्टा का अपने विषय से साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है। यह एक ऐसी आध्यात्मिक अनु-

१ माण्डूक्योपनिषद् मन्त्र–२।

२ (i) सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६५।

(ii) "उन्होने (उपनिषदो के ऋषियो ने) विलुप्त हुये या क्षीण हुये ज्ञान को ध्यानसमाधि तथा आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया।" श्री अरविन्द, वेद रहस्य, प्रथम भाग पृ० १७।

३ 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।' कठोपनिषद् २-२३।

भूति है जहां द्रष्टा के आत्मा के साथ परम सत्य का सीधा सम्बन्ध होता है। इस अवस्था में वाणी समाप्त हो जाती है और मन की शक्ति भी वहा ठप्प हो जाती है।[1]

उपरोक्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदो मे वर्णित परम तत्त्व के ज्ञान का आधार, विचार की साधारण प्रणाली नही, वरन् ध्यान की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था समाधि है। समाधि अवस्था मे ज्ञाता का वस्तु के स्वरूप से सीधा सम्बन्ध होता है। इससे समाधि अवस्था का ज्ञान निर्भ्रान्त होता है। अतः उपनिषदों मे परस्पर विरोध देखने की प्रवृत्ति उचित नही है।

अब हमारे सामने फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि उपनिषदें परम सत्य पर एक मत हैं, तब उनमे परस्पर विरोधी श्रुतियें क्यो मिलती हैं? तथा दूसरे, भिन्न-भिन्न आचार्य उनमे भिन्न-भिन्न मतो की स्थापना क्यो करते हैं? यह ठीक है कि भिन्न-भिन्न भाष्यकार अपने-अपने मतो की स्थापना इन्ही उपनिषदो मे करते हैं, परन्तु कोई भी भाष्यकार मुख्य ग्यारह उपनिषदो मे विरोध को स्वीकार नही करता। आचार्य शकर के अनुसार सारी मुख्य उपनिषदें अद्वैतवाद का प्रतिपादन करती हैं और मध्व के अनुसार ये सब द्वैतवादी हैं। तथ्य यह है कि उपनिषदो की आपस मे विरोधी दीख पडने वाली श्रुतियो मे वास्तविक विरोध नही है वरन् इनमे एक ही सत्य के विभिन्न पक्षो का वर्णन है। जैसे श्री शकराचार्य द्वैत प्रतिपादक श्रुतियो को व्यावहारिक व पारमार्थिक अवस्था का भेद करने वाली बताते हैं तथा अद्वैतवादी श्रुतियो को निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली श्रुति। प्रतीत यह होता है कि पश्चिमी विद्वानो की यह आदत पड गई है कि वे ग्रन्थो मे विरोध देखने का प्रयत्न करते हैं और यही नही वल्कि जहा उन्हें विरोध दिखायी पडता है उन्हे इससे प्रसन्नता होती है।[2] लेकिन ऋषि प्रणीत ग्रन्थो को योग-बुद्धि द्वारा ही सफलतापूर्वक समझा

---

१ 'यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह।' तै० उपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली अनुवाक-४

2 "To us Upanishads have, of course, a totally different

जा सकता है, जिसका उनमे सर्वथा अभाव था।

क्या उपनिषदो मे शकर का अद्वैत है?—स्वामी शकराचार्य अद्वैतवाद के प्रवर्तक थे। उनके विचार से उपनिषदें अद्वैतवाद के ही ग्रंथ हैं। स्वामी शकराचार्य के मतानुसार उपनिषदो ने एक ही ब्रह्म को सत्य बताया है जिसकी कोई व्याख्या नही की जा सकती क्योकि ब्रह्म निर्गुण है। ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई तत्त्व अनादि नही है। ब्रह्म ही अपनी माया से अनेक प्रकार की सृष्टि रचता है। माया के विषय मे उनका कहना है कि यह न सत् और न असत् क्योकि ब्रह्म के समान इसकी सत्ता न होने से यह सत् नहो है और आकाश पुष्प के समान मिथ्या न होने से यह असत् भी नही। उनके विचार से माया सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है अर्थात इतनी दुरुह है कि उसके बारे मे कुछ भी नही कहा जा सकता। ब्रह्म माया के द्वारा अनेक रूप में प्रतीत होता है।[1] वास्तव मे ब्रह्म का परिणाम नही होता, क्योकि ब्रह्म निराकार व निष्कलक है, अत इसमे परिणाम नही हो सकता। आचार्य शकर विवर्तवाद के समर्थक हैं। विवर्तवाद के अनुसार कारण अपना स्वरूप तजे विना कार्यरूप मे दिखाई देता है। यह जगत् ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् शकर के मतानुसार ब्रह्म मे जगत् की प्रतीती होती है परन्तु इससे ब्रह्म के स्वरूप पर कोई प्रभाव नही पडता, जैसे मृत्तिका के घटपटादि अनेक रूप हो जाते हैं परन्तु मृत्तिका वैसी ही रहती है।[2] विचार करने पर पता चलता है कि शकराचार्य का अद्वैतवाद

---

interest We watch in them the historical growth of philosophical, thought and are not offended, therefore, by the variety of their opinions On the contrary, we expect to find variety, and are even pleased when we find independent thought and apparent contradictions between individual teachers, although the general tendeney of all is the same." The Vedanta Philosophy P 24 Max Muller Ist Edition, 3rd reprint

१ "इन्द्रोमायाभि पुरुरूप ईयते।" बृहदारण्यकोपनिषद् २।५।१९

२ "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वमृन्मय विज्ञातस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्"। (छा० उ० ६-१-४)

उपनिषदो मे जगत् की सत्ता को स्वप्नवत् मिथ्या मानता है अन्य नहीं।

दूसरी तरफ, हमें उपनिषदो मे ऐसी श्रुतियें भी दिखाई पडती हैं जो संसार के अस्तित्व व उसके कारण को सत्य मानती है।[1] स्वामी शंकराचार्य का मायावाद—जिस प्रकार से वह उसका वर्णन करते हैं, उपनिषदो मे हमे कही दिखाई नही पडता। यही कारण है कि श्री रामानुजाचार्य ने अपने ग्रन्थो मे मायावाद की तर्कपूर्ण आलोचना की है। वे वैदिक साहित्य मे शंकराचार्य द्वारा आरोपित मायावाद को नितान्त असंगत बताते हैं। वे विशिष्टाद्वैतवाद को उपनिषदो का सही मत बताते हैं।

इन आचार्यो से भिन्न, महर्षि दयानन्द का औपनिषदिक दर्शन के बारे मे एक अलग मत है। वे उपनिषदो को त्रैतवादी मानते है। इनके अनुसार इन ग्रन्थो मे ब्रह्म, जीव व प्रकृति इन तीनो को अनादि माना गया है। स्वामी दयानन्द का कहना है कि उपनिषदो मे शंकर के मायावाद का कही भी उल्लेख नही है। यह ठीक है कि इनमे कही-कही माया शब्द का उल्लेख आया है परन्तु जहा कही भी इस प्रकार का उल्लेख आया है वहा माया शब्द का तात्पर्य शंकर की माया से नही है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् कहता है कि "माया को प्रकृति जानो",[2] अर्थात् माया यहा त्रिगुणमयी प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदें जगत् के मिथ्यात्व का वर्णन नही करती, और ना ही जगत् को ब्रह्म का विवर्त ही कहती हैं। परन्तु इसके विपरीत इनमे परिणामवाद का बार-बार जिक्र आता है। उपनिषदो मे पायी जाने वाली इसी यथार्थवादी विचारधारा के अनुकूल सांख्य शास्त्र अपने सिद्धांत, कि प्रधान सृष्टि का मूल कारण है, को श्रुति सम्मत बताता है।[3] उपनिषदो मे सृष्टि-रचना का वर्णन जिस रूप मे किया गया है

१ "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।" श्वेताश्वेतरोपनिषद् १।६

२ 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।' श्वेताश्वेतरोपनिषद ४-१०

३. 'श्रुतिरपि प्रधान कार्यत्वस्य।' सांख्य सूत्र ५।१२

वह विशुद्ध यथार्थवादी है, जगत् को मिथ्या अथवा स्वप्नवत् या भ्रम मानने वाला ऋषि कभी भी सृष्टि रचना का ऐसा यथार्थवादी भाषण नही करता। उपनिषदो मे प्रकृति श्रौर जीव को भ्रम तो नही कहा गया, हा यह अवश्य कहा गया है कि ब्रह्म नित्यो का नित्य है,[1] अर्थात् जीव श्रौर प्रकृति, इन अनादि तत्त्वो का स्वामी अनादि ब्रह्म है। डा० राधाकृष्णन् का तो यह मत है कि उपनिषदो मे प्राप्त होने वाले यथार्थवादी तत्त्वो को आगे चलकर सांख्य शास्त्र मे श्रौर भी वल मिला।[2] इससे स्पष्ट है कि उपनिषदे मायावादी न होकर यथार्थ-वादी हैं।

स्वामी दयानन्द ने यद्यपि उपनिषदो पर कोई भाष्य नही लिखा तथापि इनके सम्वन्ध मे आपका यह त्रैतवादी मत आपके द्वारा रचित ग्रन्थों मे उद्धृत उपनिषदो के मन्त्रो की व्याख्या मे स्पष्ट देखने को मिलता है। स्वामी जी अपने मत की पुष्टि मे उपनिषदो के मन्त्रो को स्थान-स्थान पर उद्धृत करते है।

उपरोक्त विवेचन मे अब यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदो के विषय मे दयानन्द का यथार्थवादी-त्रैतवाद अपने मे वल रखता है। साथ ही यह भी पता चलता है कि यह कोई उनकी एकदम नई विचारधारा नही है, जिसे उच्छृङ्खल कहा जा सके, वरन् उससे पूर्व भी अनेक आचार्य इसे मानते थे, लेकिन कुछ भिन्न रूप मे। दयानन्द के त्रैतवाद की उपनिषदो मे प्राप्ति होती है या नही इसका हम आगे विवेचन करेंगे।

उपनिषदो मे दयानन्द का त्रैतवाद-ब्रह्म, जीवात्मा व प्रकृति

उपनिषदो मे शकर मत की आलोचना—स्वामी दयानन्द उपनिषदो मे त्रैतवाद के पोषक हैं। उनके विचार मे मुख्य ग्यारह उपनिषदो मे ब्रह्म-जीव-

---

१ 'नित्यो नित्यानास् चेतनश्चेतनानामेको वहूना यो विदधाति कामान्।' श्वेत० उ० ६-१३

2 "The realistic tendencies of the Upanishads receive emphasis in the Samkhya conception of the Universe" Indian Philosophy, Vol 2, p. 250 —

Dr S Radhakrishnan

प्रकृति इन तीनो के अनादित्व का वर्णन है। ब्रह्म को उपनिषदो मे 'एकमेवाद्वितीयम्' के रूप मे अद्वितीय कहा है। अद्वैतवादी आचार्य इस वाक्य को व्यावर्तक अर्थो मे लेकर यह बताते हैं कि ब्रह्म अद्वितीय है अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नही है।। शकराचार्य इस पद का भाष्य करते हुए लिखते हैं कि जिस प्रकार मृत्तिका को घटादि में परिणत करने वाला निमित्त कारण कुम्हार देखा जाता है, उसी प्रकार सत् से भिन्न सत् का कोई अन्य सहकारी कारणरूप पदार्थ होता है, इस वाक्य मे अद्वितीय शब्द से उसका प्रतिषेध किया गया है अर्थात् सत् से अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है, इसे श्रुति अद्वितीय शब्द से बताती है।[1]

उपरोक्त पद की आचार्य शकर द्वारा की गयी इस व्याख्या को स्वामी दयानन्द स्वीकार नही करते। उनके विचार मे विशेषण का कार्य केवल भेद करना मात्र ही नही होता वरन् विशेषण प्रवर्तक और प्रकाशक भी होता है। वह कहते हैं कि यहा पर व्यावर्तक धर्म से अद्वितीय विशेषण, ब्रह्म को अन्य तत्त्वो, जैसे जीव व प्रकृति से अद्वितीयता अर्थात् पृथकता दिखाता है और प्रकाशक धर्म से ब्रह्म के एक होने का बोध कराता है।[2] परन्तु ब्रह्म के एक होने से उपनिषद् के ऋषि का तात्पर्य यह कदापि नही है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई तत्त्व है ही नही। यह ठीक है कि ब्रह्म के समान सामर्थ्य व शक्ति किसी अन्य में नही है, तथा साथ ही ब्रह्म से अधिक भी कोई नही है परन्तु ब्रह्म से न्यून जीव व प्रकृति का निषेध इस वाक्य मे नहीं है। स्वामी दयानन्द और शकराचार्य मे यहा पर यही अन्तर है कि स्वामी दयानन्द अद्वितीय और अद्वैत शब्द से ब्रह्म

१ देखिये छा० उ० ६।२।१ पर शकर भाष्य।

२ "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।" (छान्दोग्योपनिषद् ६।२।१) के इस वाक्य पर स्वामीजी कहते हैं 'इनसे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सदा एक है और जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं। उनसे भिन्न कर ब्रह्म के एकत्व को सिद्ध करनेहारा अद्वैत वा अद्वितीय विशेषण है।' सत्यार्थ प्रकाश पृ० १६८।

की सर्वशक्तिमत्ता व सर्वोत्तमता को मानते हैं जबकि जगद्गुरु शकराचार्य इससे ब्रह्माद्वैतवाद की स्थापना करते हैं, तथा इस श्रुति वाक्य से ब्रह्म के अलावा अन्य सभी तत्त्वो की सत्ता का निषेध करते हैं। अपनी इस व्याख्या व मान्यता मे स्वामी दयानन्द यहा पर श्री रामानुज व मध्व मे मेल खाते हैं। दयानन्द कहते हैं कि "अद्वैत शब्द परमेश्वर का विशेषण है जैसे एक-एक मनुष्यादि जाति जगत् मे अनेक व्याप्तिया हैं वैसा परमेश्वर नही। किन्तु वह तो सब प्रकार से एक मात्र ही है"।[1] तात्पर्य यह है कि दयानन्द के मत मे उपनिषदो मे परमेश्वर सर्वोच्च व सर्वशक्तिमान होने से अद्वितीय कहा गया है ब्रह्माद्वैत के रूप मे नही हैं।

ब्रह्म समस्त पदार्थों से अति सूक्ष्म है तथा आकाश के समान सर्वत्र व्यापक है और समस्त पदार्थों मे सबके अन्तरात्मा से समान रहता है। उपनिषद् स्पष्ट कहता है "सर्वं खल्विद ब्रह्म" (छा० ३।१४।१) अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र ओत-प्रोत है। अद्वैतवादी इस पद का अर्थ करते हैं कि यह सारा जगत् ब्रह्म ही है। प्राय अद्वैतवादी इस पद का 'नेहनानास्तिकिंचन' (क० २।१।११) को मिला देते हैं। वे कहते है "सर्वं खल्विद ब्रह्म। नेह नानास्तिकिंचन" अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही हैं इसमे नानात्व कुछ भी नही है और जो इसमे बहुत्व को देखता है अर्थात् द्वैतवादी है वह बार-बार मृत्यु को प्राप्त होता है।[2] इन औपनिषदिक पदो के विषय मे स्वामी दयानन्द कहते हैं कि "सर्वं खल्विद ब्रह्म" व "नेह नानास्ति किंचन" यह दो वाक्य दो पृथक उपनिषदो के है। तथा इनको प्रकरणानुसार पढने पर इनका अर्थ उस अर्थ से सर्वथा भिन्न होता है जैसा कि अद्वैतवादी करते हैं। 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' के साथ 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' पद है जिसका स्वामी दयानन्द इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'हे जीव तू (सर्वव्यापक) ब्रह्म की उपासना पर जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति,

---

१ दयानन्द ग्रथमाला, भाग २, पृ० ९०२।

२ 'मृत्यो स मृत्यु गच्छति य इह नानेव पश्यति।' कठ० उ० २।१।११

स्थिति और जीवन होता है"।[1] "नेह नानास्ति किंचन" यह पद कठोपनिषद् का है। स्वामी दयानन्द के अनुसार इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार होना चाहिये कि 'इस चेतनमात्र अखण्डैकरस ब्रह्म मे नाना वस्तुओं का मेल नहीं है। परन्तु यहा पर भी छान्दोग्योपनिषद् ब्रह्म के 'एकमेवाद्वितीयम्' के समान ही कठोपनिषद् भी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्ताओ के अस्तित्व का विरोध नही कर रहा वरन् यह बता रहा है कि अखण्डैकरस ब्रह्म में किसी अन्य वस्तु का मेल नही है। जैसे शुद्ध सोना वही होता है जिसमे किञ्चितमात्र भी किसी अन्य धातु का मेल न होता हो उसी प्रकार से ब्रह्म भी एकरस है। अर्थात् ब्रह्म मे किसी अन्य वस्तु का मेल नही इससे वह सर्वत्र समानरूप होने से एकरस है। जीव व प्रकृति पृथक-पृथक अपने-अपने स्वरूप में परमेश्वर के आधार से उसमे स्थित है इससे ब्रह्म की शुद्धता का बाध नहीं होता।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द उपनिषदो के इन वाक्यो से सफलता-पूर्वक त्रैतवाद की सिद्धि कर देते हैं।

उपनिषदो मे ब्रह्म को भोग प्रदान करने वाला कहा गया है, जबकि जीवात्मा को भोक्ता। मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट कहता है "दो सुन्दर गतियुक्त पक्षी एक ही प्रकृतिरूपी वृक्ष पर स्थित हैं उनमे से एक प्रकृति के स्वादो का उपभोग

---

१ सत्यार्थ प्रकाश पृ, २१२

इसी सम्बन्ध मे 'वेदविरुद्धमतखण्डनम्' दयानन्द ग्रथमाला ना० २ पृ० ८०६ का निम्नलिखित उद्धरण स्वामी जी के मत को और भी स्पष्ट करता है। 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' पर स्वामी दयानन्द कहते हैं समाधि के सयम करने मे विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्मस्वरूप जाना जाता है उस समय किया विद्वानो का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है जैसे किसी ने कहा कि यह स्वर्ण है इसमे पीतल आदि धातु नहीं मिले हैं वैसे सच्चिदानन्दस्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच मे नाना वस्तुयें मिली नहीं कि यह सब ब्रह्म एक रस है ऐसा जानना चाहिये।'

२ दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ९०२।

करता है।"[1] इस मन्त्र के अर्थ मे स्वामी जी लिखते हैं "इन जीव और ब्रह्म मे से एक जो जीव है वह वृक्षरूप ससार मे पाप-पुण्यरूप फलो को अच्छी प्रकार भोक्ता है और दूसरा परमात्मा कर्मों के फलो को (अनशनन्) न भोक्ता हुआ चारो ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है।"[2] अगले मन्त्र मे मुण्डक उपनिषद् और भी स्पष्ट कहता है कि "प्रकृति रूपी वृक्ष पर भोक्ता जीवात्मा निमग्न है, प्रकृति की आवरणात्मक शक्ति से मोह को प्राप्त हो रहा है। जब योगी शुद्ध होकर ईश्वर को अपने से भिन्न देखता है और इसकी विशाल अनन्त महिमा को देखता है तब शोक से रहित हो जाता है।[3] इन मन्त्रो मे हम देखते है कि उपनिषद् स्पष्ट कह रहा है कि ब्रह्म जीवात्माओ के पाप-पुण्य रूप कर्मो के फलो का देने वाला है। जबकि जीवात्मा ब्रह्म मे अन्य भोक्ता है तथा प्रकृतिरूपी वृक्ष का भोग करता है। श्री द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री का विचार है कि उपनिषदो मे भोक्ता जीव भोग्या प्रकृति तथा सब पर शासन करने वाले ब्रह्म का व्याख्यान पाया जाता है। आपका मत है कि इनमे ब्रह्म सर्वज्ञ, विभु, सर्वशक्तिमान तथा सृष्टि का रचयिता, पालनकर्त्ता व सहर्ता है। जीवात्मा अल्प शक्तिवाला, अणु व परिच्छिन्न, कर्म मे स्वतन्त्र परन्तु फलभोग मे परतन्त्र है, तथा प्रकृति अचेतन, पराधीन, परिणामी एव जगत् का उपादान कारण व नित्य है।[4] (शास्त्री जी पर स्वामी दयानन्द का पूर्ण प्रभाव मालूम पडता है।)

इसके अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि अद्वैतवादी आचार्य, द्वैतभाव प्रतिपादित करने वाली श्रुतियो को व्यवहार की श्रुतिया कहते हैं परमार्थ की नही। क्योकि

---

१ 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते। तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।' मु० उ० ३—१—१।

२ सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २०६।

३. 'समाने वृक्षे पुरुषोनिमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान। जुष्ट यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमीति वीतशोक'। (मु० ३-१-२। इन मन्त्रो पर आर्य मुनि देखिये।)

४ देखिये सस्कृत साहित्य विमर्श, पृष्ठ १५०।

उनके मत में परमार्थ मे तो केवल ग्रद्वैत है। लेकिन इस पर हम प्रश्न कर सकते हैं कि उपनिषदों मे कहा पर पारमार्थिक व व्यावहारिक इन दो सत्ताओ के तात्त्विक भेद की बात कही गई है ? क्या उपनिषद् सृष्टि-रचना का वर्णन नही करते ? यदि करते हैं तब ससार को स्वप्नवत् मिथ्या क्यो माना जाय और व्यावहारिक व पारमार्थिक स्तरो को मानने का क्या आधार है ? व्यावहारिक स्तर पर ग्रद्वैतवादी भी त्रैतवाद को ही मानते हैं। ग्रद्वैतवादियो के व्यावहारिक स्तर पर भेद मानने से उपनिषदो मे स्वामी दयानन्द की त्रैतवादी विचारधारा को ही वल मिलता है और हम कह सकते हैं कि उपनिषदो मे त्रैतवाद के समर्थक मन्त्र हैं इसीलिये तो ब्रह्मवादी उन्हे व्यावहारिक स्तर का बताते हैं। जो इस प्रकार के मन्त्र न होते तो क्यो व्यवहार की कल्पना करते। उपनिषदो मे सृष्टि का वर्णन जितने यथार्थवादी ढग से पाया जाता है उससे कोई भी अनुभव कर सकता है कि इनमे भ्रमवाद को तनिक भी स्थान नही है।[1]

ब्रह्म सृष्टि का रचने वाला है—स्वामी दयानन्द के अनुसार उपनिषदो मे ब्रह्म को सृष्टि का रचयिता कहा गया है कि जिससे सारे भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर उसी मे रहते हैं, पश्चात् प्रलयकाल मे नष्ट होकर ब्रह्म के गर्भ मे (ग्रव्यक्तावस्था मे) चले जाते हैं।[2] स्वामी जी उपनिषदो मे वर्णित ब्रह्म को सृष्टि का निमित्त कारण मानते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म प्रकृति मे जो कि प्रारम्भ मे ग्रव्यक्तावस्था मे थी, ग्रनेक प्रकार की सृष्टि करता है, जैसा कि तैत्तिरीयोपनिषद् भी कहता है कि प्रारम्भ मे यह सब ग्रसत् ग्रर्थात् ग्रव्यक्त-

---

१ "This idea that the world is only Maya and illusion, a vision, a nothing was what Colebrooke meant when he said it was absent from the Upanishads, and the original Vedanta philosophy and so far he is right"

The Vedanta philosophy, P. 70, Max Muller

२ 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।' तै० उ० भृगुवल्ली ग्रनु० १।

रूप असत् था उससे सत् अर्थात् व्यक्त हुआ और इसको अव्यक्त से ब्रह्म ने व्यक्त किया।'[1] यहा पर औपनिषदिक ऋषि इस वात पर वल दे रहा है कि सृष्टि का उत्पन्न करने वाला ब्रह्म ही है। लेकिन ब्रह्म सृष्टि का उपादान वा अभिन्न-निमित्तोपादान कारण नही जैसा कि ब्रह्मवादी कहते हैं, वरन् ब्रह्म सृष्टि का निमित्त कारण है। उपनिषदो मे सृष्टि का उपादान कारण प्रकृति को माना गया है।

सृष्टि ब्रह्म का विवर्त नहीं है—स्वामी दयानन्द परिणामवाद को मानते हैं, उपनिषदो मे भी आपका यही विचार है। यदि इस वात को मान लिया जाता है कि उपनिषद् ग्रन्थो मे विवर्तवाद नही वल्कि परिणामवाद है तव यह भी मानना आवश्यक हो जाएगा कि ब्रह्म के साथ-साथ प्रकृति भी अनादि पदार्थ है। स्वामी दयानन्द नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाले ब्रह्म को परिणामी नही मानते, क्योकि इससे उसका स्वरूप विकृत हो जायगा। परिणामवाद के अनुसार उपादान कारण के गुण, कर्म व स्वभाव कार्य मे वैसे ही आ जाते हैं। स्वामी जी का कहना है कि ससार जड है अत इसका उपादान भी जड ही होना चाहिए और वह प्रकृति ही हो सकती है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् (४–५) का भाष्य करते हुये स्वामी दयानन्द कहते हैं "यह उपनिषद् का वचन है। प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनो अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नही होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीन सव जगत् के कारण है। इनका अन्य कोई कारण नही, इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फसता है और उसमे परमात्मा न फसता और न उसका भोग करता है।'[2]

उपनिषदो मे यथार्थवादी विचारधारा कोई नई विचारधारा नही है और न ही उपनिषदो के विरुद्ध ही प्रतीत होती है। साख्य शास्त्र का द्वैतवादी सिद्धान्त

१ 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मान स्वयमकुरुत।'
तै० उ० ब्रह्मानन्द वल्ली अनु० ७ म० १।

२ 'अजामेका लोहित शुक्ल कृष्णा वह्वी प्रजा सृजमाना सरूपा'। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्त भोगामजोन्य।' इस मन्त्र पर दयानन्द-भाष्य के लिये देखो सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २१०। श्वेताश्वेतरोपनिषद् ४-५।

भी उपनिषदों में वर्तमान बताया जाता है। साख्य प्रधान को त्रिगुणात्मक मानता है। ठीक इसी प्रकार के मन्त्र उपनिषदों में भी प्राप्त होते हैं जिनमें प्रधान को त्रिगुणात्मक कहा गया है जैसे "एक अनादि रक्त, श्याम व श्वेत वर्ण वाली है।"[१] रक्त, श्याम व श्वेत वर्ण को क्रमशः रज, तम व सत्व लिया जा सकता है आगे मन्त्र कहता है यह अत्यन्त मनोहारी अनेक प्रजा का सृजन करती है। साख्य शास्त्र भी उपनिषदों मे प्रकृति के अनादित्व को मानता है।[२] साख्य का सत्कार्यवाद का सिद्धान्त भी उपनिषदों मे यथावत् उपलब्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् कार्य मे कारण का वर्णन करते हुये कहता है "हे श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथ्वी कार्य से जलरूप मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है और यह सब ससार सृष्टि से पूर्व असत् के समान प्रकृति मे लीन होकर वर्तमान था।"[३] इस मन्त्र में कार्यकारणवाद की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार है जिससे यह प्रतीत होता है कि साख्यों का सत्कार्य का सिद्धान्त इसी मन्त्र पर आधारित है। इनके अतिरिक्त उपनिषदों मे यत्र तत्र अनेक और भी इस प्रकार के मन्त्र मिलते हैं जिनसे साख्य विचारधारा की पुष्टि होती है। एक अन्य स्थल पर श्वेताश्वतरोपनिषद् कहता है "जिस प्रकार मकडी अपना जाला बुन कर स्वय को जाले के पीछे आवृत कर लेती है उसी प्रकार देव ने प्रधानरूपी तन्तुओं से अपने को आवृत कर लिया है।"[४] उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट

१ "अजामेका लोहित शुक्ल कृष्णा बह्वी प्रजा सृजमाना सरूपा।"
श्वेताश्वतरोपनिषद् उ० ४-५

२ 'श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य।' सां सूत्र ५-१२।

३ '[एवमेव खलु] सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूला सोम्येमा सर्वा प्रजा सदायतना सत्प्रतिष्ठा।' छा० उ० ६-८-४।

४ 'यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभि प्रधानजै स्वभावतो देव एक स्वमावृणोत्।'
श्वेत० उ० ६-१०।

ोता है कि उपनिपदो मे कई मन्त्र ऐसे है जिनसे यह पता चलता है कि प्रकृति—नोकि वाद मे साख्यो का प्रधान बनी—ब्रह्म के साथ-साथ अनादि है। यही ोकृति प्रलयावस्था मे ब्रह्म के गर्भ मे अव्यक्तावस्था मे वर्तमान रहती है इसका सर्वथा अभाव नही होता।

उपनिपदो मे ब्रह्म व जीव का भेद

दयानन्द त्रैतवादी है, आपके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म व जीवात्मा दोनो अनादि तत्त्व है तथा तीसरा पदार्थ प्रकृति भी अनादि है। उनका यह सिद्धान्त दर्शन की भाषा मे यथार्थवाद (Realism) कहा जा सकता है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है दयानन्द उपनिपदो के मन्त्रो का भी त्रैतवादी अर्थ करते है। आपका विचार है कि उपनिपदो मे जीव को ब्रह्म से पृथक माना गया है। आपके अनुसार ये ग्रन्थ जीव को भी ब्रह्म के साथ ही अनादि मानते है। उपनिषद्-शास्त्रो मे ब्रह्म व जीव के भेद का कथन करने वाली श्रुतिया अनेक स्थलो पर मिलती है। भोक्ता जीव अपने कर्मफलो को भोगने के लिये विवश है। जबकि परमात्मा कर्मफलो को जीव के लिये देता है। जीव कर्म करता तथा कर्मों के फलो को यथायोग्य ब्रह्म के शासन मे भोक्ता है। परन्तु ब्रह्म कर्त्तापन के राग मे नही पडता क्योंकि वह आप्तकाम है, उसके लिए कोई भी कार्य करने के लिये बाकी नही है। मुण्डकोपनिषद् कहता है कि "एक ही (प्रकृति-रूपी) वृक्ष पर (जीवात्मा व परमात्मारूपी) दो पक्षी बैठे है जिनमे से एक उस वृक्ष के फलो को खाता है अर्थात् जीवात्मा प्रकृति के भोगो को भोगता है और दूसरा परमात्मा प्रकृति के फलो को न खाता हुआ साक्षीरूप से देख रहा है।"[2] उपनिषद् के इस मन्त्र मे स्पष्ट परमात्मा व जीवात्मा का भेद प्रदर्शित किया गया है।

स्वामी जी का यह मत मायावादी अद्वैतवाद के विरुद्ध है। अपने उपनिषद् भाष्य मे शकराचार्य जी स्थान-स्थान पर ब्रह्म व जीव की एकता का प्रतिपादन

१ 'ईश्वर नाम ब्रह्म का और ब्रह्म से भिन्न अनादि अनुत्पन्न और अमृत-स्वरूप जीव का नाम जीव है।' दयानन्द, सत्यप्रकाश १६७।

२ 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्व जाते। तयोरन्य. पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।' मुण्डकोपनिषद ३-१-१।

करते हैं। इनके मत से जीवात्मा ब्रह्म का प्रतिबिम्बमात्र है, जो अविद्या में पड़ता है अथवा अन्तः करणोपाधि से परिच्छिन्न ब्रह्म ही जीव है जैसे घटाकाश, महाकाश इत्यादि। शांकर मत में अविद्या वास्तव में माया ही है। मायावाद के विचारक माया के स्वरूप को आज तक भी निश्चित नहीं कर पाये। इनके विचार से माया एक अद्भुत शक्ति है जो ब्रह्म पर अविद्यात्मक प्रभाव डालती है। स्वामी दयानन्द के विचारों के अनुसार शंकर के मायावाद में सबसे बड़ी कमी यही है कि इनके मत से माया अपना प्रभाव अविद्या के रूप में ब्रह्म पर डालती है तथा ब्रह्म जो शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सर्वज्ञ आदि स्वभाव वाला है, अपना स्वभाव भूलकर अल्पज्ञ, पाप-पुण्य कर्मों का कर्त्ता एवं भोक्ता, अणु आदि अल्प स्वभावों वाला हो जाता है। संक्षेप में ब्रह्म अपने स्वरूप से च्युत हो जाता है। हमारे विचार से ब्रह्म व जीव के सम्बन्ध में इस प्रकार की मायावादी कल्पना उपनिषदों में कहीं भी नहीं है। हाँ, दूसरी ओर ऐसे मन्त्र तो बराबर मिलते हैं, जिनमें कहा गया है कि ब्रह्म अपने शान्त, शिव व अद्वैत (अद्वितीय) रूप में सदैव वर्तमान रहता है।'

इसके अतिरिक्त यदि हम दूसरे साधनों से भी देखें तो भी उपनिषदों में ब्रह्म व जीव का अद्वैत भाव सिद्ध नहीं होता। उपनिषदों में ब्रह्म की उपासना का आदेश दिया गया है। ब्रह्म केवल उपासना से ही प्राप्त हो सकता है अन्य किसी साधन से नहीं। परन्तु यदि ब्रह्म व जीव को एक ही मान लिया जाय तब कौन किसकी उपासना करेगा, क्या ब्रह्म-ब्रह्म ही की उपासना करे। ब्रह्म व जीव को पृथक माने बिना उपास्य-उपासक सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। उपनिषदों में उपासना का परम लक्ष्य ब्रह्म बताया गया है जिसे जीवात्मा को प्राप्त करना चाहिये। इससे ब्रह्म का जीव से पृथक होना ही सिद्ध होता है।

तप व उपासना के द्वारा जो ऋषि परमात्मा के समीप तक पहुँच जाते हैं, उस स्थिति का वर्णन उपनिषद् ग्रंथों में अनेक स्थानों पर मिलता है। समाधि

---

१. 'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'

माण्डूक्योपनिषद् ७।

की अवस्था मे योगी के सम्मुख केवल उसका लक्ष्य होता है, ससार व उसका स्वय का भाव समाप्त हो जाता है।[1] समाधि की अवस्था इतनी गूढ होती है कि इसमे योगी के सामने केवलमात्र ज्ञान होता है। लेकिन इससे भी गहरी असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति होती है, इसमे द्रष्टा परमात्मा मे इतना निमग्न हो जाता है कि वह स्वयं को बिल्कुल भूल जाता है तब उपनिषद् की भाषा मे 'कौन किसको देखे' (क केन पश्यति) और ऐसी अवस्था मे ऋषि कह उठता है 'मैं ब्रह्म हूँ।' देखने पर यह उपनिषद् वाक्य अद्वैत समर्थक लगते हैं, परन्तु त्रैतवादी इनके अर्थ ब्रह्म व जीव के भेद मे लगाते हैं। उनका कहना है कि सारे उपनिषद् कह रहे हैं कि ब्रह्म का ज्ञान कर लेने पर द्रष्टा के सारे सशय, कर्म व दुखो का नाश हो जाता है, वह सकल्पमात्र से अपने सारे कामो को पूर्ण कर लेता है, उनको जानने के लिये और कुछ भी बाकी नही रह जाता, वह महान् व सर्वज्ञ हो जाता है, परन्तु ब्रह्म नही होता। क्योकि परमात्मा परम ब्रह्म है "यो परम ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३–२–९) अर्थात् जो परम ब्रह्म परमात्मा को जान लेता है वह ब्रह्म अर्थात् महान् हो जाता है। यही नही बल्कि इसको और भी स्पष्ट करता हुआ यही उपनिषद् आगे कहता है कि 'जब द्रष्टा ज्योतिरूप कर्त्ता ईश्वर को, परम पुरुष को और ज्ञान के आदि स्रोत को देख लेता है। तब वह विद्वान् पाप-पुण्य के बन्धन को झाड कर निर्मल हो भगवान की परम समता को प्राप्त होता है।'[2] इस मन्त्र से भी यही स्पष्ट होता है कि मुक्ति की अवस्था मे जीवात्मा ब्रह्म नही हो जाता वरन् ब्रह्म के साथ परम साम्यता को प्राप्त होता है। दयानन्द कहते है कि जीव जब ब्रह्म के आनन्दआदि गुणो को अपने मे धारण कर लेता है तब वह ब्रह्म के समान दिखाई पडने लगता है, जैसे एक लोहे का गोला अग्नि के गुणो को अपने मे धारण कर अग्निवत् दिखाई पडने लगता है।

---

१ 'तदेवार्थ मात्र निर्भास स्वरूप शून्यमिव समाधि।'

योगदर्शन पा० ३, सू० ३।

२. 'यदा पश्य पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीश पुरुष ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरजन परम साम्यमुपैति।' मु० उ० ३-१-३

इसके अतिरिक्त नव्य वेदान्ती (महर्षि, शंकर आदि को नव्य वेदान्ती मानते हैं) बृहदारण्यक उपनिषद् में आये वाक्य 'अहम् ब्रह्मास्मि'[1] का अर्थ 'मैं ब्रह्म हूँ' के रूप में करते हैं। इससे यह सिद्ध करते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म ही है। महर्षि दयानन्द 'अहम् ब्रह्मास्मि' इस उपनिषद् वाक्य का अर्थ करते हुये कहते हैं कि यहां पर तात्स्थ्योपाधि है, जैसे कोई कहे कि 'मंचा क्रोशन्ति' अर्थात् मचान पुकारते हैं। लेकिन मचान तो जड़ हैं, इनमें पुकारने का सामर्थ्य नहीं होता, अतः इसका तात्पर्य हुआ कि मचान पर बैठे हुये मनुष्य पुकारते हैं। ठीक इसी प्रकार यहां भी जानना चाहिये। परन्तु इस पर वेदान्ती प्रश्न कर सकते हैं कि ब्रह्मस्थ तो सारे ही पदार्थ हैं पुनः जीव को ब्रह्मस्थ कहने में क्या विशेषता है? स्वामी दयानन्द इसके उत्तर में कहते हैं कि यह ठीक है कि सब पदार्थ ब्रह्मस्थ ही हैं तथापि ब्रह्म से जितनी अधिक साधर्म्यता जीव की है उतनी किसी की नहीं इसमें जीव ब्रह्म के अधिक निकटस्थ हैं। जीव मुक्ति में ब्रह्मज्ञानी होता है तथा ब्रह्म के साक्षात् सम्बन्ध में रहता है। ऐसी अवस्था में स्थित जीव ही कहता है 'अहम् ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् मैं ब्रह्म में स्थित हूँ। आगे दयानन्द कहते हैं इनसे जीव और ब्रह्म एक नहीं। जैसे कोई किसी से कहे कि मैं और यह एक हैं अर्थात् अविरोधी हैं, वैसे जो जीव समाधिस्थ परमेश्वर में प्रेमबद्ध होकर निमग्न होता है वह कह सकता है कि मैं और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी एक आकाशस्थ हैं। जो जीव परमेश्वर के गुण, कर्म व स्वभाव के अनुकूल अपने गुण, कर्म व स्वभाव करता है वही साधर्म्य से ब्रह्म के साथ एकता कह सकता है।[2] यहां पर स्वामी दयानन्द स्पष्ट हैं कि उपनिषदों का ज्ञान ऋषियों द्वारा समाधि अवस्था की साक्षात् अनुभूतियों द्वारा किया गया है। इससे उपनिषदों के गूढ़ वाक्यों का रहस्य समाधि अवस्था में ही खुल सकता है। इसी माण्डूक्योपनिषद का वाक्य 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्योपनिषद् २) है। यहां पर स्वामी जी अयमात्मा में जीवात्मा का ग्रहण नहीं करते जैसा कि अद्वैत वेदान्ती करते हैं। परन्तु आपका कहना है कि 'अयमात्मा' शब्द

---

१ बृह० उ० १–४–१०।

२ सत्यार्थप्रकाश पृ० १९३।

ब्रह्मात्मा के लिए प्रयोग किया गया है। आगे स्वामी जी लिखते हैं "समाधि अवस्था मे जब योगी को परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है तब वह कह सकता है कि जो मेरे मे व्यापक है वही ब्रह्म सर्वज्ञ व्यापक है।"[1] स्वामी जी का आशय यह है कि समाधि की गहरी अवस्था मे जब योगी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, उस समय की स्थिति के विषय मे वह कहता है कि जिस आत्मा को (आत्मा शब्द से 'योऽतति व्याप्नोति स आत्मा' के अनुसार ब्रह्मात्मा का अर्थ है। उपनिषदो मे आत्मा शब्द प्रायः ब्रह्म के लिये प्रयोग किया जाता है।) मैं प्रत्यक्ष कह रहा हूँ, वह ब्रह्म है। नवीन वेदान्ती (अद्वैतवादी) एक अन्य उपनिषद् वाक्य 'तत्त्वमसि' (छा० प्र० ६ ख०८ म०-७) पद की व्याख्या मे 'तू वह है' से 'तू ब्रह्म है' का अर्थ लेकर यह सिद्ध करते हैं कि जीव ब्रह्म ही है। दयानन्द यहा ब्रह्मवादी से पूछते हैं कि तुम यहा तत् शब्द से ब्रह्म की अनुवृत्ति कहा से लाये ? दयानन्द तत् का अर्थ निम्न प्रकार लेते हैं। मन्त्र इस प्रकार है "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद सर्वं तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति। छा० उ० ६-८-७। इसका अर्थ है "जो वह अत्यन्त सूक्ष्म और इस सब जगत् और जीव का आत्मा है। वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है। हे श्वेतकेतो प्रिय पुत्र! (तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि) उस परमात्मा अन्तर्यामी से तू युक्त है।"[2] इस प्रकार दयानन्द इस पद से भी ब्रह्म व जीव के एकत्व को स्वीकार न कर उसका भेद ही दर्शाते हैं।

उपनिषदो मे जीवात्मा का परिमाण अणु तथा परमात्मा को विभु वर्णित किया गया है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् जीवात्मा के वर्णन मे कहता है कि "बाल के अग्रभाग के सौ भाग करो, उनमे से एक के फिर सौ भाग करो। इस प्रकार जो सूक्ष्म टुकडा हो उसके समान आत्मा है।"[3] अर्थात् जीवात्मा का स्वरूप परमाणु के समान है। परन्तु ब्रह्म का स्वरूप उपनिषदो मे सर्वत्र ही विभु कहा गया है।

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० १९३।   २ वही, पृ० १९४।

३ 'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीव' स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।' (श्वेत० उ० ५–९)

उपनिषदो मे ब्रह्म व जीव का भेद हमें और भी अनेक स्थलों पर मिलता है। ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म है इससे वह समस्त पदार्थों मे ओत-प्रोत है। जीव से भी अति सूक्ष्म होने से ब्रह्म जीव मे भी व्यापक भाव से रहता है। अपने में व्यापक ब्रह्म का जीवात्मा तप के बल से साक्षात् करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार का सवाद आता है, जिसमे याज्ञवल्क्य कहते हैं "जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव मे स्थित है परन्तु जीवात्मा से भिन्न है, जिसको मूढ जीवात्मा नहीं जानता, जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर है, जीवात्मा के अन्दर रहकर जो नियम सचालन करता है वही अविनाशी तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है।"[1] इस मन्त्र मे ब्रह्म को जीव के अन्दर व्यापक तथा पृथक कहा गया है। श्री रामानुजाचार्य ब्रह्म व जीव में शरीरी-शरीर सम्बन्ध को मानते हैं, उनके मत का आधार उपनिषद् का यही मन्त्र है। यदि इसमें रामानुजाचार्य जी के शरीरी-शरीर भाव की अभिव्यक्ति है तब और भी स्पष्ट रूप से इसमे क्यो नहीं दयानन्द के ब्रह्म-जीव भेदवाद का प्रतिपादन है। दयानन्द व रामानुज मे केवल इतना भेद है कि रामानुज ब्रह्म मे स्वगत भेद को मानते हैं जबकि दयानन्द अखण्ड एकरस ब्रह्म मे कोई भेद मानने को तैयार नहीं हैं।

उपरोक्त विचार विवेचन से पता चलता है कि दयानन्द के मतानुसार ब्रह्म व जीव एक दूसरे से पृथक है परन्तु ब्रह्म जीवात्मा मे व्यापक है और परमाणु

---

१. 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्। आत्मनोन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृत' (स्वामी दयानन्द ने यह मन्त्र बृहदारण्यक के हवाले से सत्यार्थप्रकाश पृ० १९४ मे दिया है। परन्तु खोज करने पर निर्दिष्ट स्थल पर नहीं मिला। लेकिन यह मन्त्र यजुर्वेदीय माध्यन्दिनी शाखा के शतपथ ब्राह्मण मे प्राप्त हुआ। प्रचलित बृहदारण्यकोपनिषद् काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण का है। यह ध्यान रहे कि बृहदारण्यकोपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का ही एक भाग है। मन्त्र के लिये देखो शतपथ ब्राह्मण १४-६-७।

(अच्युताश्रम संस्करण ख० २ पृ० १४ पर)

२, तद् यत्तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ। (बृ० उ० ५-५-२।)

के समान जीवात्मा ब्रह्म मे स्थित है या हम यो कहे कि ब्रह्म व जीव एक दूसरे मे प्रतिष्ठित है। उपनिषद् दयानन्द के इस विचार की पुष्टि करता हुआ स्पष्ट उल्लेख करता है कि "जो आदित्य (सूर्य मे) और जो दाहिने नेत्र मे पुरुष है वह एक दूसरे मे प्रतिष्ठित है। ब्रह्म सवत्र व्यापक होने से सूर्य मे भी है और पुरुष अर्थात् जीवात्मा मे भी और ये दोनो एक दूसरे मे स्थित हैं, कठोपनिषद् का ऋषि कहता है कि अपने मे व्यापक परम ब्रह्म को योगी अपने हृदय की गहनतम गुहा मे स्पष्ट अपने से पृथक छाया व सूर्य की तरह देखते हैं।"[1] अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म के सम्मुख ऐसा प्रतीत होता है जैसे सूर्य के प्रकाश मे छाया। इस मन्त्र पर स्वामी जी लिखते हैं "गुहा प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके" इत्यादि उपनिषद् के वचनो से जीव और परमात्मा भिन्न है, वैसा उपनिषदो मे बहुत ठिकाने दिखाया है।"[2]

उपरोक्त विवेचन मे अब स्पष्ट हो गया है कि महर्षि दयानन्द का त्रैतवाद कि ईश्वर, जीव व प्रकृति तीनो अनादि हैं—उपनिषदो मे यथावत् प्राप्त होता है। यह कुछ अश तक सत्य है कि इनमे अभेदवादी श्रुतिये भी पायी जाती हैं परन्तु दयानन्द के अनुसार ये उपासना की गहन अवस्था की श्रुतियें है, जिनमे जीवात्मा ईश्वर के आनन्दादि गुणो को धारण कर परमात्मा के साथ तादात्म्य भाव से रहता है। दूसरी ओर जो भेदपरक श्रुतियें हैं, वे स्पष्ठ दयानन्द के मत की पुष्टि करती हैं। उपनिषदो मे भेदपरक श्रुतियो के मुकाबले अभेदपरक श्रुतिया बहुत कम सख्या मे हैं। परन्तु इन अभेदपरक श्रुतियो से भी अद्वैतवाद की सिद्धि किसी प्रकार नही होती। किसी शास्त्र का वास्तविक मत, उसमे प्राप्त एक या दो वाक्यो को उससे अलग कर प्राप्त नही हो सकता। उसके लिये तो सारे ही शास्त्र को देखना होगा। उपनिषदो की प्रवृति स्पष्ट ही त्रैतवाद की ओर है। यह प्रवृति उपनिषदो के एक या दो मत्रो से नही वरन् सारे ही शास्त्र से प्राप्त होती है। दयानन्द स्पष्ट कहते हैं कि इनमे ब्रह्म को नित्यो का नित्य कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म के अतिरिक्त

---

१ 'छायाऽऽतपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता।'
क० उ० ३–१

२ सत्यार्थप्रकाश पृ० ३०६।

सब कुछ अनित्य नहीं वरन् और भी कोई सत्ता नित्य है जिस पर ब्रह्म शासन करता है। यह सत्ता क्या है? यह हमे मुण्डक स्पष्ट बताता है, "एक (अजा) अनादि सत्व, रज व तम वाली प्रकृति है जो अपने मे से बहुत प्रकार की प्रजा को पैदा करती है, एक (अज) अनादि जीवात्मा है जो प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों का भोग करता है तथा एक (अज) नित्य परमात्मा है जो इन भोगो का भाग नही करता।"[1] अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त जीवात्मा व प्रकृति दो नित्य पदार्थ और भी हैं। इन श्रुतियो से दयानन्द के त्रैतवाद की पुष्टि होती है।

उपनिषदो मे ज्ञान, कर्म व उपासना

विद्या चाऽविद्या च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ ई० उ० ११॥

'जो मनुष्य विद्या व अविद्या को साथ ही जानता है व अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर कर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।''[2]

स्वामी दयानन्द उपनिषद् ग्रन्थो मे ब्रह्म-प्राप्ति के लिये ज्ञान, कर्म व उपासना तीनो के समुच्चय को प्रतिपादित करते हैं। उपनिषद जीवन-विद्या के सर्वोच्च ग्रन्थ हैं फिर इनमे जीवन के किसी भी अग की उपेक्षा कैसे की जा सकती है। कर्म और उपासनारहित ज्ञान केवल बुद्धि का कौशल है, जिसके लिये उपनिषदें स्पष्ट ही कहती हैं, "यह आत्मा बहुत पठन-पाठन मे प्राप्त नहीं होता, न यह बुद्धि से जाना जाता है और न वह शास्त्रो के सुनने से। (वरन्) परमात्मा जिसका वरण करता है उसी के द्वारा यह प्राप्त किया जाता है। उस (साधक) के लिये (यह) अपने स्वरूप को अभिव्यक्त कर देता है।"[3] जो साधक श्रद्धापूर्वक

---

१ अजामेका लोहित शुक्ल कृष्णा बह्वीः प्रजा सृजमाना सरूपा।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्य॥
श्वेत० उ० ४-५॥

२. स० प्र०, पृ० २३६।

३. 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥'
कठ० उ० १-२-२३॥

परमात्मा का वरण करते हैं उनके लिए यह दुर्बोध नही है। उपरोक्त मंत्र के सम्बन्धित अर्थ मे दयानन्द ब्रह्म-प्राप्ति मे पवित्र ज्ञान व पवित्र उपासना पर बल देते हैं।"[1]

स्वामी शंकराचार्य जी उपनिषदो मे मुमुक्षु के लिये कर्म-मार्ग को वर्जित बताते हैं। वह कहते हैं कि उपनिषदो मे "ज्ञान व कर्म का विरोध पर्वत के समान अविचल है"[2] स्वामी जी आगे कहते हैं कि "ईशावास्यमिद—इस मन्त्र के द्वारा सम्पूर्ण एषणाओ के त्यागपूर्वक ज्ञाननिष्ठा का वर्णन किया है, यही वेद (उपनिषद्) का प्रथम अर्थ है। तथा जो अज्ञानी और जीवित रहने की इच्छा वाले हैं उनके लिये ज्ञाननिष्ठा सम्भव न होने पर "कुर्वन्नेवेह कर्माणि"··· इत्यादि मन्त्र से कर्म निष्ठा कही है। यह वेद का दूसरा अर्थ है।"[3] शकराचार्य का कहना है कि इनमे सन्यास मार्ग ही उत्कृष्ट है क्योकि कर्म मार्ग नि श्रेयस का देने वाला नही है। उनके अनुसार श्रुति उपदेश करती है, "जीवन या मरण का लोभ न करे, वन को चला जाये और फिर वहा से न लौटे।"[4] स्वामी जी का कहना है कि इन वाक्यो से श्रुति मे सन्यास का ही विधान है। लेकिन इसके विपरीत स्वामी दयानन्द 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि ··' से कहते है कि "परमेश्वर आज्ञा देता है कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न बैठे।"[5] परन्तु कर्म सकाम भावना से न करे वरन् यथार्थता को जानकर कर्मफल

---

१. पवित्र कर्म, पवित्रोपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति और अपवित्र मिथ्या भाषणादि कर्म पाषाण मूर्त्यादि की उपासना और मिथ्या ज्ञान से बन्ध होता है।" स० प्र० पृ० २३७।

२ 'ज्ञान कर्मणोर्विरोध पर्वतवदकम्पयं यथोक्त न स्मरसि किम् ?' ईशोपनिषद, म० २ पर शकरभाष्य।

३ ईशोपनिषद् शांकर भाष्य म० ८ के आगे। उपनिषद् भाष्य सानुवाद खण्ड १ पृ० २०-२१, गीता प्रेस गोरखपुर।

४ वही पृ० १८।

५ सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ १८३।

का त्याग ही करे। ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों मे ही फल की भावना का त्याग सम्भव है क्योकि इससे कर्मफल की तुच्छता तथा उसके बन्ध का हेतु होने का ज्ञान हो जाता है। उपनिषदो में कहीं भी कर्म छोडने का आदेश नही किया गया है बल्कि कर्म करने का आदेश तो पाया जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् मे पांच प्रकार की उपासना (अधिलोक, अधिज्योतिष् अधिविद्य, अधिप्रज, अध्यात्म) का व्याख्यान किया गया है कि 'जो वीर पुरुष इन उपासनाओ को जान कर यथावत् व्यवहार मे लाता है वह सब प्रकार के सुख ऐश्वर्यों को प्राप्त कर लेता है।।"[1] यदि उपनिषदो को कर्म करना अभिप्रेत न होता तो स्पष्ट घोषणा कर देते कि कर्मों को छोड देना चाहिये और कही वन में बैठकर बिना दैनिक कर्म किये तप करना चाहिये लेकिन यह बात नहीं है। उपनिषदें व्यावहारिक जीवन के विरुद्ध नही हैं तथा उसे जीवन की वास्तविकता जानकर उसमे रहने का निषेध नहीं करते। याज्ञवल्क्य स्वय तत्त्वदर्शी महर्षि थे परन्तु गृहस्थावस्था में ही रहते थे। डा० राधाकृष्णन् भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उपनिषदो मे ससार के त्याग की बात नहीं कही गई है।[2]

ब्रह्म-प्राप्ति मे कर्म व ज्ञान के साथ-साथ उपनिषदें उपासना को भी प्रमुख अग मानती हैं। ज्ञान बुद्धि से ही प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु ब्रह्म मे चित्त का स्थिर करना केवल बुद्धि का विषय नहीं है। यह तब तक सम्भव नही होता, जब तक साधक परमात्मा के सम्मुख अनन्य भक्ति से पूर्ण आत्मसमर्पण नही कर देता। बुद्धि के कौशल और चित्त को परमात्मा में स्थिर रखने में बडा अन्तर है। चित्त के शुद्ध होने पर ही चित्त मे ध्यान की शक्ति प्राप्त होती है जिससे चित्त निरन्तर शुद्धि की ओर प्रवृत्त होता है। शुद्ध चित्त ही आध्यात्मिक ज्ञान का अधिकारी होता है। अशुद्ध मन विद्वान पुरुषो को

१. 'इतिसा महासंहिता य एवमेता महासहिता व्याख्याता वेद। सधीयते प्रजया पशुभि। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।' तैत्ति० उ० १-३-४।

२ "The general impression that the upanishads require world denial is not quite correct" The Principal Upanishads p 106, by Dr S Radhakrishnan

भी दुष्ट अश्व के के समान पथ से हटा देता है।[1] बुद्धि की पहुँच विद्या के क्षेत्र मे अधिक गहरी नही है। केवल बुद्धि-कौशल से आत्मा प्राप्त नही होती। कठोपनिषद् कहता है कि 'यह आत्मा प्रवचन से प्राप्त नही होता, ना ही बुद्धि से और ना ही अधिक सुनने से।'[2] श्रुत ज्ञान का साक्षात् कैसे हो इसके लिये उपनिषदें उपासना का मार्ग बताती हैं।

इन ग्रन्थो मे अत्यन्त ही हृदयस्पर्शी भाषा मे श्रद्धापूर्वक भक्ति का विवरण मिलता है यथा मुण्डकोपनिषद् का ऋषि पूर्ण तन्मयता से ब्रह्मरूपी लक्ष्य को प्राप्त करने का आदेश देता है "प्रणव (ओ३म्) को धनुष बनाओ, आत्मा को तीर के समान मानो ब्रह्म को लक्ष्य समझकर आलस्य छोडकर पूर्ण तन्मयता से ब्रह्मरूपी लक्ष्य को भेदो।"[3] यही नही बल्कि श्वेताश्वेतरोपनिषद् में उपासक भगवान से विनती करता है, "हे परमात्मन् हमारी बुद्धि को तत्त्व की प्राप्ति के लिये अपने रूप मे लगाइये।"[4]

उपनिषदें ज्ञान, कर्म व भक्ति के समुच्चय के विषय मे अत्यन्त स्पष्ट हैं कि इन तीनो के सम्यक् पालन से ही रहस्यमय अध्यात्म की प्राप्ति हो सकती है। मुण्डकोपनिषद् श्रद्धा की महिमा को इस प्रकार कहता है, "जो विद्वान् लोग वनो मे शान्त भिक्षावृत्ति का आचरण करते हुए तप और श्रद्धा से परमात्मा की उपासना करते हैं वे सूर्य-मार्ग (प्राणमार्ग) मे प्रवेश कर पर-ब्रह्म को

---

१ 'दुष्टाश्व युक्तमिव वाहमेन विद्वान्मानो धारयेताप्रमत्तः।'
(श्वेत: उ० २-६)

२. "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न वहूना श्रुतेन।"
कठ० १-२-२३।

३ 'प्रणवो धनु शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत्। (मु० उ० २-२-४)
'यदोकारः तस्माद्विद्वानेतेनैवा यतनेनैकतरमन्वेति' (प्र० उ० ५-२)

४. 'युञ्जानः प्रथम मनस्तत्त्वाय सविता धियः। अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत।' (श्वेत० उ० २–१)

प्राप्त होते हैं।"[१] प्रश्नोपनिषद् मे पाँचवे प्रश्न में महर्षि पिप्लाद तीन प्रकार की उपासना पृथक्-पृथक् बताकर कहते हैं "जो ज्ञान, कर्म व भक्तिपूर्वक ओंकार की उपासना करता है वह उस परमात्मा को प्राप्त कर लेता है जहाँ जरा, अशान्ति व मृत्यु नहीं होती।"[२]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महर्षि दयानन्द का उपनिषदों मे ज्ञान, कर्म व भक्ति का समुच्चय ही सही अर्थों मे औपनिषदिक उपासना का रूप है।



१. 'तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति यत्रामृत. स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।'
(मु० उ० १-२-११)

२. 'ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोंकारेणै-वायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभय पर चेति' (प्र० उ० ५७-)

३

स्वामी दयानन्द व षड्दर्शन



षड्दर्शन समन्वय

उपनिषदो मे ज्ञान की जिस प्रक्रिया का श्रीगणेश हुआ था उसको दर्शनो ने एक दूसरे स्तर पर रखा है। औपनिषदिक साहित्य मे हमे गम्भीर ज्ञान मिलता है जोकि ऋषियो द्वारा समाधि अवस्था मे प्राप्त किया गया था। इन ग्रथो मे तर्क का आश्रय नही लिया गया था वरन् जैसा ऋषियो की अनुभूति हुई वैसा ही उन्होने कही काव्य और कही अर्घकाव्य मे व्यक्त कर दी। उपनिषदो के इसी ज्ञान को वैदिक षड्दर्शनो मे वर्णित किया गया है। दर्शन-निर्माता ऋषियो का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि वे वैदिक तत्त्वज्ञान को तर्क का सुदृढ आधार देना चाहते थे। इस प्रकार का प्रयास यो तो सभी दर्शनो मे दिखलाई पडता है परन्तु अधिक सुस्पष्ट व सीधे रूप मे सांख्य व वेदान्त दर्शनो मे मिलता है।

वैदिक दर्शन सख्या मे छ है—न्याय, वैशेषिक, साख्य, योग, पूर्व मीमासा व उत्तर मीमासा। उत्तर मीमासा को ही ब्रह्मसूत्र तथा वेदान्त दर्शन भी कहते हैं। न्याय शास्त्र के रचयिता महर्षि गौतम, वैशेपिक के महर्षि कणाद, सांख्य के महर्षि कपिल, योग दर्शन के पतञ्जलि मुनि, पूर्व मीमासा के जैमिनी तथा ब्रह्मसूत्र के रचयिता महर्षि बादरायण है। ये सभी दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। परम्परा के अनुसार जो दर्शन वेदो को स्वत प्रमाण मानते हैं वे आस्तिक दर्शन कहलाते हैं तथा जो वेद की निन्दा करते हैं वह नास्तिक हैं।[1] उपरोक्त छओ दर्शन वेदो को स्वत प्रमाण मानते हैं अत यह आस्तिक हैं तथा

---

१ 'नास्तिको वेदनिन्दक ।' मनु० २-११ ।

बौद्ध, जैन व चार्वाक दर्शन वेदों का उपहास व उनकी निन्दा करते हैं अतः नास्तिक कहलाते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा व ब्रह्मसूत्र यह सभी दर्शन सूत्ररूप में रचे गये हैं। सूत्र का तात्पर्य ऐसे अल्पाक्षर वाक्यों से है जिनमे विषय साररूप मे परन्तु स्पष्ट तौर पर बताया जाता है।[1] सूत्र के द्वारा, दर्शन का रचयिता ऋषि, थोड़े शब्दों मे विषय का निर्देश मात्र कर देता है, परन्तु इसका रहस्य जानने के लिये काफी विचार और परिश्रम की आवश्यकता होती है। दर्शन सूत्ररूप मे क्यो लिखे गये हैं? ऐसा प्रतीत होता है, प्रथम तो प्राचीन काल मे छापेखाने के अभाव मे ग्रन्थो को कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। स्मृति को सरल बनाने तथा सुरक्षित रखने के लिये सूत्र-पद्धति को अधिक उत्तम समझा गया। दूसरे, सूत्ररूप मे दार्शनिक रहस्यो को हृदयांगम करना सरल हो जाता है क्योंकि सूत्रों में उस विषय के सभी प्रमुख विचार आ जाते हैं।

परन्तु दूसरी ओर शास्त्रो को सूत्ररूप में लिखने की प्रथा ने काफी हानि भी की है, प्रथम तो इनमे इन ग्रंथो के वास्तविक अर्थ अत्यन्त गूढ हो गये हैं जिससे इन्हें समझने मे काफी कठिनाई होती है। दूसरे, सूत्रो मे पूर्वपक्ष व सिद्धान्तपक्ष का भेद नहीं किया गया है इससे इनके सूत्रों मे पूर्वापर संदर्भ बनाना कठिन हो जाता है। सूत्र-पद्धति की इन्ही कठिनाइयो के कारण, विभिन्न भाष्यकार एक ही ग्रन्थ मे वर्णित सूत्रों के अलग-अलग अर्थ करते हैं। कोई किसी सूत्र को पूर्वपक्ष का बताता है तो दूसरा भाष्यकार उसे सिद्धान्तपक्ष का बताता है। षड्दर्शनो की इसी दुर्बोधता के कारण अनेक प्रसिद्ध भारतीय व पश्चिमी विचारकों का यह विचार बना कि इन छहो दर्शनो मे आपस मे विरोध है यथा वैशेषिक के परमाणुवाद व असत्कार्यवाद का सांख्य के गुणवाद व सत्कार्यवाद से विरोध है, सांख्य नास्तिक दर्शन है, मीमांसा केवल कर्मशास्त्र है तथा वेदान्त मायारूपी ग्रन्थ, इत्यादि इत्यादि। यह विचारधारा मध्य युग से चली आ रही है। श्री शंकराचार्य जी ने दर्शनो में विरोध की इस भावना को

१. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

वेदान्त दर्शन पर किये अपने भाष्य मे विपद् रूप मे लिखा है जो बाद मे व्यापक रूप मे भारत तथा भारत मे बाहर प्रचलित हुई। दर्शनो मे विरोध के सिद्धान्त को श्री रामानुजाचार्य भी मानते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विचार रामानुजाचार्य ने शकराचार्य से लिया है, क्योकि जिन सूत्रो मे शकराचार्य दर्शनो मे विरोध का प्रतिपादन जिस रूप मे करते हैं, ठीक उसी रूप मे उन्ही सूत्रो मे रामानुजाचार्य भी करते हैं।

उन्नीसवी शताब्दी मे स्वामी दयानन्द ने वैदिक दर्शनो को एक ऐसे आधार पर रखा जो सदियो से आई परम्परागत विचारधारा के विरुद्ध था। दयानन्द की दृढ मान्यता है कि षड् दर्शनो मे आपस मे विरोध नही है बल्कि इनमे से प्रत्येक सत्य के भिन्न-भिन्न पहलुओ की व्याख्या करता है।[1] स्वामी जी की इस विचारधारा का आधार यह है कि प्रथम, छहो दर्शन वेद को स्वत॰ प्रमाण मानते हैं अत यह वेद की केन्द्रीय विचारधारा के विपरीत नही जा सकते।[2] दूसरे इनके रचयिता ऋषिगण हैं जिनका दृष्टिकोण निभ्रान्त व स्पष्ट होता है। ऋषि उसी को कहा जाता है जिसने अपने विषय का हस्तामलकवत् साक्षात् किया हो और बिना किसी पक्षपात की भावना के सत्य का प्रतिपादन किया हो। स्वामी दयानन्द कहते हैं कि 'दर्शनशास्त्र जो कि वेदो के उपाँग कहे जाते हैं ऐसे ही ऋषियो के बनाये हुए हैं।'[3] स्वामी जी का यह स्पष्ट मत है कि इन शास्त्रो में आपस मे कोई विरोध नही है। उनका कहना है कि न्याय के परमाणुवाद तथा साँख्य के गुणवाद मे कोई विरोध नही है, साख्य नास्तिक दर्शन नही है बल्कि आस्तिक है, वेदान्त अद्वैतवादी दर्शन नही है बल्कि इस दर्शन मे ब्रह्म व जीव का भेद कहा है और प्रकृति सर्वथा एक पृथक् पदार्थ है। हम देखते हैं कि स्वामी जी षड्दर्शनो को एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण से देखते है। वैदिक षड्दर्शनो मे समन्वय को पुष्ट करना नि सन्देह बडा कठिन कार्य है जो गम्भीर विचार व गहरे अध्ययन की अपेक्षा रखता है। लेकिन इस विषय मे

---

१ सत्यार्थ प्रकाश, २२२।

२ सस्कृत साहित्य विमर्श, पृ० २५५, प० द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री।

३ "मीमाँसादि छ वेदो के उपाग॰ इत्यादि सब ऋषि मुनि के किये ग्रन्थ हैं।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ६६।

दयानन्द का दृष्टिकोण सर्वथा एक नवीन विचार है जो विद्वानो के लिये मनन का विषय है। यद्यपि प्राचीन काल मे षड्दर्शनो मे समन्वय की झलक प्रतीत होती है। परन्तु मध्य युग मे वह धूमिल हो गई थी। आधुनिक काल मे ऋषि दयानन्द ने इस विचारधारा को पुन अनुप्राणित किया है। यह हम आगे देखेंगे कि इस दृष्टिकोण मे पर्याप्त बल है, जिसे असिद्ध करना सरल काम नहीं है। षड्दर्शनों मे आपसी विरोध नहीं है यह प्रवृति दयानन्द के बाद आज अनेक विद्वानो में भी पाई जाती हैं।[1]

दयानन्द षड्दर्शनो मे एक समन्वयित दार्शनिक विचारधारा को मानते हैं। समन्वयित विचारधारा मे उनका तात्पर्य अक्षरश समानता मे नही है। वैदिक दर्शन सत्य तक पहुँचने के लिये, विचार स्वतन्त्रता को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व मानता है। दयानन्द का षड्दर्शनो मे समन्वय मे तात्पर्य है कि यह छओं दर्शन एक ही सत्य का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से वर्णन करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से इनके मुख्य-मुख्य सिद्धान्तो मे आपस मे कोई मतभेद नही है। प्रतीत होने वाला भेद केवल विषय की भिन्नता एव वर्णन की भिन्न-भिन्न प्रणालियो के कारण है। प्रत्येक दर्शन का अपना अलग विषय व अलग प्रणाली है। इसमे हो सकता है कि दिखाई पडने वाला विरोध प्रणालीमात्र का विरोध हो जिसे विचार करने पर आसानी मे दूर किया जा सकता है। दिखाई पडने वाले विरोध का का कारण भिन्न-भिन्न दर्शनो की अपनी-अपनी पृथक् शब्दावली भी हो सकती है। जैसे न्याय व वैशेषिक शास्त्र आत्मा शब्द मे ही परमात्मा का ग्रहण करते हैं। यथा 'विभावान्महानाकाशस्तथा चात्मा। वैशेषिक ७-१-२२। अर्थात् व्यापक होने मे आकाश और परमात्मा महत् परिणामयुक्त

---

१ (i) The Sacred book of Hindus, Vol VI Vaishasik Sutra, Introduction P VIII, Edited by Major Vasu

(ii) सस्कृत साहित्य विमर्श, पं० द्विजेन्द्र नाथ शास्त्री, पृ० २५६।

(iii) पातजल योग प्रदीप, ले० ओमानन्द तीर्थ, पृ० १०।

(iv) Max Muller refers Vijyan Bhiksu Indian Philosophy Vol I P 80 Six Systems

हैं। यहा पर आत्मा शब्द परमात्मा के लिये आया है, जिसे जीव के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इसी प्रकार साख्य पुरुष शब्द से जीव व ब्रह्म दोनो का ग्रहण करता है। लेकिन यदि सब स्थानो पर प्रकरण को देखे बिना न्याय-वैशेषिक के आत्मा शब्द का तथा सांख्य के पुरुष शब्द का सब स्थानो मे जीवात्मा मे प्रयोग करें तब ये तीनो शास्त्र नास्तिक शास्त्र दिखाई पडने लगते है।[1] दयानन्द कहते है कि "वैशेषिक और न्याय भी आत्मा शब्द से अनीश्वरवादी नही, क्योकि सर्वज्ञत्वादि धर्मयुक्त और 'अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा' जो सर्वत्र व्यापक और सर्वज्ञादि धर्मयुक्त सब जीवो का आत्मा है उसको मीमासा, वैशेषिक और न्याय ईश्वर मानते हैं" (सत्यार्थप्रकाश पृ० १८८)। और इस प्रकार शब्दावली के इस रहस्य को न समझने पर ही विद्वानो को इन शास्त्रो का वेदान्त व योग मे विरोध दिखाई पडता है। परन्तु दयानन्द की उपरोक्त विधि से शास्त्रो को सावधानीपूर्वक पढने पर छहो शास्त्रो मे समान सिद्धान्तो का पता चल जाता है।

शास्त्रो मे साधारण विरोध, जो कि मूलभूत सिद्धान्तो पर प्रभाव नही डालते, माने जा सकते हैं। उदाहरण के रूप मे वेदान्त मे इस विषय पर कि मुक्ति मे मन का आत्मा से सग रहता है या नही, बादरायण अपने से अतिरिक्त अन्य आचार्यो बादरि व जैमिनी के परस्पर विरुद्ध मतो का हवाला देते है। परन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिये कि बादरि व जैमिनी मे विरोध था और इनमे से एक भ्रान्त था क्योंकि अगले ही सूत्र मे बादरायण कहते हैं कि हम दोनो को ही ठीक मानते हैं।[2] इसी प्रकार साख्यो के गुणवाद व वैशेषिक के गुण मे भेद हैं जिससे विचारक इनमे विरोध ढूढते हैं परन्तु यह तो स्वय साख्य शास्त्र कह रहा है कि इस शास्त्र मे वैशेषिको के समान पदार्थ-भेद नही किया है।[3] अत साख्य के गुणो को वैशेषिक के गुण की परिभाषा की दृष्टि से समझना हमारी दृष्टि मे भूल होगी।

---

१ शकराचार्य वेदान्त सूत्रो के भाष्य मे साख्य के साथ-साथ वैशेषिक व न्याय को भी नास्तिक दर्शन मानते हैं। देखिये वेदान्त २-२-१२, शकराचार्य।

२ वेदान्त सूत्र, ४-४-१०, ११ व १४।

३ देखिये, साख्य सूत्र, ६-३८ व ३९ तथा इन पर तुलसीराम स्वामी का भाष्य।

स्वामी दयानन्द छहों वैदिक दर्शनों में मौलिक समन्वय को देखते हैं उसका समन्वय का मुख्य आधार त्रैतवाद है। उनका कहना है कि षड्वैदिक दर्शन ईश्वर (ब्रह्म) जीव व प्रकृति को अनादि मानते हैं। फिर इनमें यदि इस बात पर मतभेद हो कि प्रमाण कितने हैं, अभाव भी एक पदार्थ है या नहीं अथवा मुक्ति के लिये कौन-सा मार्ग उत्तम है ज्ञान का, कर्म का या उपासना का अथवा तीनों के समन्वय का, इसमें उनकी एकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह तो वैदिक धर्म में विचार स्वातन्त्र्य का परिणाम है कि ऋषि स्वतन्त्रतापूर्वक सिद्धान्तों का निरीक्षण करता है और उनको सत्य पाने पर सम्पादन करता है यह तो उनकी सत्यता है कि जो भी वे सत्य पाते थे निर्भय होकर कह देते थे इसमें भेद व आपसी विरोध की बात नहीं है, वरन् उनका आदि स्रोत एक (वेद) है, विचार प्रक्रिया समान है तथा मूलभूत सिद्धान्त एक हैं। श्री नन्दलाल सिन्हा इन दर्शनों में विरोध देखने वालों को उत्तर देते हुए, मैक्समूलर के हवाले से, विज्ञान भिक्षु के इस विचार को लिखते हैं कि ये दर्शन एक समान स्रोत से निकले हैं।[1]

उपरोक्त विवेचन से यही प्रतीत होता है कि वैदिक षड्दर्शनों के विषय में मध्यकाल के पश्चात् स्वामी दयानन्द का समन्वयात्मक दृष्टिकोण दर्शन शास्त्र में एक नवीन विचारधारा है। इसकी पूर्ण पुष्टि के लिये गम्भीर अध्ययन व काफी खोज की आवश्यकता है। लेकिन प्रतीत यह होता है कि स्वामी जी के विचारों में तथ्य है। आर्यमुनि व तुलसीराम स्वामी प्रभृति विद्वानों ने छहों दर्शनों पर भाष्य लिखे हैं, जिनमें उनका दृष्टिकोण स्वामी दयानन्द के अनुकूल

---

1 And to those who think that these systems are at daggers drawn with one another, the reply may be given once for all in the felicitious language of Max Muller, "The longer I have studied the various systems ··· that there is behind the variety of the six systems a common fund·········

(Introduction P, VIII of the Sacred books of Hindu Series Vaisheshika Sutras, Vol VI).

है। इसके अलावा श्री ओमानन्द तीर्थ ने पातजल-योग-प्रदीप व द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री ने सस्कृत साहित्य विमश नामी अपने ग्रन्थो मे भी षड्दर्शन समन्वय दिखाने की चेष्टा की है। इन विद्वानो पर स्वामी दयानन्द का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पडता है।

षड्दर्शन मे प्रकृति

दयानन्द का समन्वयात्मक दृष्टिकोण

सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद—साख्य दर्शन का विचार है कि ससार की सारी वस्तुओ का कोई न कोई कारण अवश्य है और उस कारण का भी कोई कारण होगा, इस प्रकार कार्य से कारण की खोज करते हुए हमे एक ऐसे तत्त्व को मानना पडता है कि जो सब पदार्थों का आदि कारण ह परन्तु किसी का कार्य नही। इसी तत्त्व को सांख्यो ने प्रकृति कहा है तथा ससार के समस्त जड पदार्थ इसी के विकार है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कहना है कारण मे कार्य अव्यक्तावस्था मे विद्यमान रहता है। यही व्यक्त होने पर कार्य कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि साख्यो के अनुसार कार्य किसी पूर्ववर्ती शून्य से उत्पन्न नहीं होता वरन् अपने कारण मे शक्तिरूप से पहले से ही विद्यमान रहता है, जिसका विकास या व्यक्त होना कार्य कहा जाता है। सांख्य दर्शन मे इस सिद्धात को सत्कार्यवाद की सज्ञा दी गई है। साख्यो का सारा दर्शन इसी सिद्धान्त पर आधारित है। इसी से उन्होने प्रकृति के अनादित्व का प्रतिपादन किया है कि समस्त जड पदार्थों का कोई न कोई आदि कारण अवश्य है जिसमे ये सृष्टि से पूर्व ही अव्यक्तावस्था मे विद्यमान थे। यह तत्त्व साख्यो के मत मे (जड-सृष्टि पक्ष मे) प्रकृति है। हम देखते हैं कि सत्कार्यवाद के नियम से प्रकृति अनादि तत्त्व सिद्ध होता है। सांख्यो का यह मत उपनिषदो मे अनेक स्थलो पर यथावत् विद्यमान मिलता है। छान्दाग्य उपनिषद् कहता हैं 'हे श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथ्वी कार्य से जलरूप मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति स्थान है।"[1]

---

१. '(एकमेव खलु) सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छा · सर्वा प्रजा· सदायतना· सत्प्रतिष्ठाः।' छा० उ०, ६-८-४।

(इस मन्त्र पर स्वामी दयानन्द के विचार, देखिये स० प्रकाश, पृ० २११)

न्याय-वैशेषिक भी प्रकृति की सत्ता को मानते है परन्तु वे साख्यो की तरह सत्कार्यवाद के सिद्धात को नहीं मानते बल्कि असत्कार्यवाद के पोषक है। असत्कार्यवाद के अनुसार कारण में कार्य पूर्व ही विद्यमान नहीं होता वरन् बीज का उपमर्दन कर एक नये पदार्थ अकुर की उत्पत्ति होती है, अर्थात् एक नया पदार्थ पैदा होता है जो पहले न था। सत्कार्यवाद के विरुद्ध कुछ भाष्यकारो का तर्क है कि यदि बीज मे अकुर पहले ही विद्यमान होता तब उसकी उत्पत्ति कहना व्यर्थ है, क्योकि उत्पत्ति से पूर्व जो पदार्थ नही होते उन्ही की उत्पत्ति कही व सुनी जाती है अत बीज मे अंकुर उत्पत्ति से पूर्व नही होता। नैयायिकों के इस तर्क पर साख्य भाष्यकार उत्तर देते है कि हम उत्पत्ति से पूर्व कारण मे कार्य की विद्यमानता अव्यक्तावस्था मे मानते हैं। उनके मत मे उत्पत्ति का अर्थ होता है जो अव्यक्त था उसका व्यक्त होना। साख्य विद्वानो का आगे कहना है कि यदि कार्य को पूर्व ही अपने कारण मे शक्तिरूप में विद्यमान न माना जायेगा तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पडेगी। इससे स्वय नैयायिको का प्रकृति व उपादान कारण का सिद्धान्त खतरे मे पड जायेगा। क्योंकि यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानी जाये तो उपादान कारण की क्या आवश्यकता है, क्योकि शून्य से सब पदार्थों की उत्पत्ति मान ली जा सकती है।

इस स्थल पर हमें इन शास्त्रो के भाष्यकारों व टीकाकारों के आपसी विवाद मे नहीं पडना है, क्योकि इस विवाद मे फसकर हम सूत्रो के वास्तविक अभिप्राय से दूर हट जायेंगे। सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद का यह आपसी विवाद सदियो पुराना प्रतीत होता है। परन्तु दयानन्द का दृष्टिकोण इस विवाद के विपरीत है। उनके अनुसार इन शास्त्रो मे कोई विरोध नही है। ऐसा हो सकता है कि इन शास्त्रो के रचयिता ऋषियो ने इस प्रकार के विवाद की कल्पना भी न की हो और यह विवाद विद्वानो की मानसिक कसरत मात्र हो। अत. वास्तविकता तक पहुँचने के लिये हमे यह उचित ही प्रतीत होता है कि इस विषय पर मूल ग्रन्थो की शरण ली जाय और दयानन्द की यही मौलिकता है कि वे सिद्धात निर्णय के लिये सीधे मूल ग्रन्थ की शरण लेते हैं तथा उन पर रचे भाष्य टीका आदियों पर विचार नहीं करते, क्योंकि उनके विचार मे टीकाकार निर्भ्रान्त नहीं हैं।

न्याय शास्त्र मे सूत्र आता है 'अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' (न्याय० ४-१-१४) अर्थात् '(बीज का) नाश हुए बिना (अकुर की) उत्पत्ति न होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है।' इस सूत्र से सूत्रकार स्पष्ट असत्-कार्यवाद का प्रतिपादन करते दिखाई देते हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द इस सूत्र को न्याय शास्त्र मे पूर्वपक्षी का सूत्र बताते हैं और इसके उत्तर मे कहते हैं, 'जो बीज का उपमर्दन करता है वह प्रथम ही बीज मे था जो न होता तो उत्पन्न कभी न होता'।[1] इससे यह पता चलता है कि उपरोक्त सूत्र से स्वामी दयानन्द न्याय मे असत्कार्यवाद को उस रूप मे नही मानते जिस रूप मे अन्य विद्वान मानते हैं। इस पर यह कहा जा सकता है कि यहा दयानन्द सूत्र को अपने पक्ष-पोषरा के लिए पूर्वपक्षी का प्रश्न बता रहे हैं। इसके उत्तर मे हमारा कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योकि यह विचार केवल स्वामी दयानन्द का ही नही वरन् न्याय-शास्त्र के प्रामाणिक व प्रसिद्ध भाष्यकार वात्स्यायन मुनि भी इसे पूर्वपक्षी का ही सूत्र मानते हैं। श्री गगानाथ झा, स्वामी तुलसीराम तथा सस्कृत कालिज कलकत्ता के प्रिंसिपल महामहोपध्याय सतीश चन्द्र विद्याभूषरा का भी यही विचार है।[2] यही नही परन्तु स्वय न्यायशास्त्र अभाव से भाव की उत्पत्ति को असगत मानता हुआ उपरोक्त सूत्र के उत्तर मे अगले ही सूत्र मे कहता है 'व्याघाताद् प्रयोग।' न्याय ४-१-१५। अर्थात् "The reasoning put forward is unsound, as it involves self contradiction." (Vatsyayan Bhasya, Translated by Ganga Nath Jha) इसी सूत्र का अर्थ सतीश चन्द्र विद्याभूषरा इस प्रकार करते हैं—"It is we reply, not so, because

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २१६।

2 (i) See-Gautam's Nyaya Sutras 4-1-14 (In the Vatsyayan Bhasya) by Ganga Nath Jha
(ii) Sutra 4-1-14 Translated by Mahmahopadhyaya Satish Chandra Vidhyabhushan, The Sacred Book of Hindus Voi VIII, Nyaya Satras of Gautam

such an expression inconsistent as it is connot be employed "[1] इससे यही प्रतीत होता है कि न्यायशास्त्र अभाव से भाव की उत्पत्ति के सिद्धांत को नहीं मानता। एक अन्य स्थल पर न्याय शास्त्र अवयवों में अवयवी की विद्यमानता को स्वीकार करता है।[2] हमारे इस विचार को डा० राधाकृष्णन से भी बल मिलता है जहा वह कहते हैं कि 'नैयायिक यह तो मानता है कि पूर्व (द्रव्य पदार्थ) के पूर्ण विनाश से नवीन पदार्थ की उत्पत्ति असम्भव है परन्तु इसे खुलकर कहने को तैयार नही होता। इससे यही मालूम पड़ता है कि न्यायशास्त्र के अनुसार द्रव्य अपनी पूर्वावस्था का परित्याग मात्र करता है।[3] इस प्रकार स्वय न्यायसूत्रो व अनेक विद्वानो द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि न्याय-दर्शन का असत्कार्यवाद से यह तात्पर्य नही है कि कार्य सर्वथा एक नवीन वस्तु है तथा उत्पत्ति से पूर्व कारण मे उसका सर्वथा अभाव था।

वैशेषिक दर्शन न्यायशास्त्र का समानतन्त्र है अत अभाव से भाव की उत्पत्ति के रूप मे असत्कार्यवाद का आरोप इस शास्त्र मे भी लगाया जाता है। आरोपकर्ता वैशेषिक दर्शन के सूत्र 'क्रियागुणव्यपदेशाऽभावात् प्रागऽसत्'।[4] का अर्थ करते हुए कहता है कि क्रिया व गुण का अभाव पाये जाने से (कार्य का उत्पत्ति से पूर्व) अभाव था। इससे एक बार फिर यह सशय हो जाता है कि कहीं वैशेषिक असत्कार्यवाद (अभाव से भाव की उत्पत्ति) का प्रतिपादन तो नहीं कर रहा। परन्तु वैशेपिक के अन्य सिद्धातो व उसको मूल भावना तथा सूत्रो को

1. Idid-4-1-15.

२ 'तदाश्रयत्वादऽपृथग्ग्रहणम्'। न्याय सू० ४-२-२८।

3. The Naiyayika concedes that a complete destruction of the previous substances will make the formation of the new impossible It follows that the substance only relinquishes its former condition though the Naiyayaka is not inclined to accept it openly." Indian Philosophy, Vol 2, P 97,

—Dr S Radha Krishnan.

४ वैशेपिक सूत्र ६-१-१।

पूर्वापर सदर्भ से देखने पर इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इस स्थल पर, क्रिया व गुण के अभाव मे कार्य का अपने कारण मे अभाव मानने से, वैशेषिक का तात्पर्य यह है कि जब वस्तु की उत्पत्ति ही नही हुई तब उसके कार्य व गुणो का अभाव होगा। यहाँ पर शास्त्रकार यह स्पष्ट कह रहे है कि पृथिवी आदि द्रव्य उत्पत्ति से पूर्व असत् थे क्योकि उस समय पृथिवी आदि द्रव्यो के कार्यो व गुणो का अभाव था। उदाहरणार्थ घट से पूर्व घट के क्रिया व गुण नही थे परन्तु मृत्तिका थी, मृत्तिका के क्रिया व गुण थे। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति हुई अर्थात् मृत्तिका का नाम-रूप बदलने पर घट नाम का नया पदार्थ बना जो वास्तव मे मृत्तिका का ही विकार है। अत, घट मृत्तिका मे था ही परन्तु व्यक्त होने से नया बना माना गया और घटरूप से उनकी प्रसिद्धि हुई। कारण मे कार्य समवाय रूप से है ऐसा वैशेषिक भी मानता है।[1]

उपरोक्त विवेचन से यही प्रतीत होता है कि असत्कार्यवाद मे भी कारण से ही कार्य की उत्पत्ति मानी गई है, बिना कारण के नही। परन्तु न्याय-वैशेषिक द्वारा कार्य का कारण मे असत् कहने का तात्पर्य कारणावस्था मे कार्यरूप का अभाव होने से है। न्याय मजरी का रचयिता कहता है कि हम (नैयायिक) यह नही मानते कि कोई भी वस्तु, जिसका अभाव है, पैदा हो जायेगी बल्कि हमारा कहना है कि जो पैदा होता है उसका अभाव था,[2] अर्थात् उस रूप मे उसका अभाव था। इससे सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद मे विरोध नही उत्पन्न होता बल्कि यह तो अपने-अपने प्रतिपादन की प्रणाली है। दोनो ही कारण से कार्य की उत्पत्ति मानते हैं तथा कारण के अभाव मे कार्य का अभाव मानते हैं।[3] और यह भी मानते हैं कि कारण के गुण कार्य के गुण मे आ जाते हैं।[4]

---

१ 'कारणमिति द्रव्ये, कार्य समवायात्'। वैशेषिक सूत्र १०-२-१।

२ A History of Indian Philosophy,
S, N. Dass Gupta, V. I p 320.

३ 'कारणाऽभावात् कार्याऽभाव।' वैशेषिक सूत्र १-२-१।

४ 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्ट।' वैशेषिक सूत्र २-१-२४।

दोनो ही शास्त्र प्रकृति तत्त्व को अनादि कारण मानते हैं। इस प्रकार इस विवेचन के निष्कर्षस्वरूप हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि सत्कार्यवाद व असत्कार्यवाद मे कोई विरोध नही है और स्वामी दयानन्द इस विषय मे युक्ति-युक्त ही प्रतीत होते हैं।

वैशेषिक का परमाणुवाद तथा साख्यो का गुणवाद—वैशेषिक परमाणु-वादी हैं तथा सांख्य गुणवादी हैं। वैशेषिक यह मानते हैं कि परमाणु प्रकृति का सूक्ष्मतम अश है, इसका आगे विभाग सम्भव नही है। प्रत्येक तत्त्व के पृथक-पृथक परमाणु होते है जो आपस में न्यूनाधिक मिलकर अन्य पदार्थों की उत्पत्ति करते हैं। यही परमाणु आपस मे सयोग कर द्वयणुक व त्रसरेणु बनाते हैं जिनसे महत् पदार्थों की उत्पत्ति होती है। न्याय-वैशेषिक ने प्रकृति में परमाणु की सूक्ष्मता तक ही विचार किया तथा समस्त जगत मे परमाणुओ की ही कला का उन्होने दर्शन भी किया। पश्चिमी आधिभौतिक शास्त्रियो मे डाल्टन ने जो परमाणुवाद की विचारधारा रखी वह बहुत हद तक वैशेषिक शास्त्र से मिलती हैं।

लेकिन साख्य, प्रकृति के स्वरूप का वर्णन तीन गुणो सत्व, रज व तम के रूप में करता है। इनका कहना है कि प्रकृति सत्व, रज व तम की बनी है। अव्यक्तावस्था मे प्रकृति के यह तीनो गुण साम्यावस्था मे रहते हैं। साम्यावस्था भग होने पर ये तीनो गुण न्यूनाधिक अवस्था में होते हुये समस्त सृष्टि का निर्माण करते हैं। इसे साख्य ने प्रकृति की व्यक्तावस्था अथवा विकार कहा है। इस मत का न्याय-वैशेषिक के परमाणुवाद से स्पष्ट विरोध प्रतीत होता है। परन्तु समन्वय की प्रवृत्ति के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इनके विरोध को दूर करें।

स्वामी दयानन्द समन्वयवादी हैं। उनकी दृष्टि मे वैशेषिक के परमाणुवाद व साख्य के प्रकृति (गुणवाद) के सिद्धान्त मे कोई विरोध नहीं है। दयानन्द के विचारानुसार वैदिक-षड्दर्शन सृष्टि उत्पत्ति के छ भिन्न-भिन्न पहलुओ पर अलग-अलग विचार करते है, जैसे मीमासा शास्त्र सृष्टि उत्पत्ति मे कर्म-चेष्टा का, वैशेषिक मे काल का, न्याय मे उपादान कारण का, सांख्य मे तत्त्वो

के मेल का तथा वेदान्त मे सृष्टि बनाने वाले अर्थात् ब्रह्म का विचार किया गया है।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दयानन्द वैशेपिक के परमाणुवाद तथा सांख्य के गुणवाद मे विरोध नही मानते। अत अब हम यह देखेंगे कि स्वामी दयानन्द का यह विचार इन दोनो शास्त्रो मे किस प्रकार मिलता है।

स्वामी दयानन्द के विचार से यह प्रतीत होता है कि वे साख्यो की सत्व, रज व तम की साम्यवस्था रूप प्रकृति को नैयायिको के परमाणुओ से अधिक सूक्ष्म मानते थे। जब प्रकृति की साम्यावस्था भग हो जाती है तब अवयव रूप परम सूक्ष्म पृथक-पृथक तत्त्व परमाणु उत्पन्न होते हैं। स्वामी जी कहते हैं "अनादि नित्य स्वरूप सत्व, रजस और तमोगुणो की एकावस्था रूप प्रकृति से उत्पन्न जो परमसूक्ष्म पृथक-पृथक तत्वावयव (सस्कृत मे तत्त्व परमाणूना शब्द आया है जिसमे परमाणु शब्द स्पष्ट है अत हिन्दी मे भी अवयव का अर्थ परमाणु ही लेना चाहिए) विद्यमान हैं उन्ही का प्रथम ही जो सयोग का आरम्भ है, सयोग विशेषो से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को सूक्ष्म स्थूल-स्थूल बनते बनाते विचित्र रूप बनी है इसी से यह ससर्ग (संयोग) होने से सृष्टि कहलाती है।"[1] अर्थात् सर्वप्रथम सत्व, रज व तमोगुण की साम्यावस्था थी यह साख्यो की प्रकृति है। इसमे जब क्षोभ उत्पन्न हुआ उससे विकार आरम्भ हुआ। प्रकृति का सबसे पहला विकार महत् था जिसे विश्वबुद्धि या प्रकृति मे सर्वत्र व्यापक विश्वान्तकरण कह सकते हैं। तत्पश्चात् अहकार की उत्पत्ति हुई।

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २२२-२२३।

२ 'नित्याया सत्वरजस्तमसा साम्यावस्थाया प्रकृतेरुत्पन्नाना पृथक्वर्त-मानाना तत्त्व परमाणूना प्रथम. सयोगारम्भ संयोग विशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकार प्राप्ति सृष्टिरुच्यते'। (सत्यार्थप्रकाश पृ० २२३) यह वाक्य स्वामी जी ने किस ग्र थ से लिया है इसका हवाला सत्यार्थप्रकाश मे नहीं दिया है। यदि हम इसे स्वामी जी का अपना ही मान लें तब भी कोई आपत्ति नहीं आती। हाँ यदि परिश्रम करने पर उस ग्र थ का पता चल गया जिसका यह पद है तब यह और भी पुष्ट हो जायेगा कि प्राचीन भाष्यकार व विद्वान् वैशेषिक के परमाणु व साख्य के गुणो मे विरोध नहीं मानते थे।

अहंकार प्रकृति का दूसरा विकार है। अहंकार से प्रकृति मे पृथकता का भाव उत्पन्न हुआ। श्री लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक इसी अवस्था में परमाणुओ की उत्पत्ति मानते हैं।[१] लेकिन दास गुप्ता परमाणुओ की उत्पत्ति तन्मात्राओ के पश्चात् मानते हैं।[२] यहाँ पर यह विवाद हमारे लिए मुख्य नहीं है कि परमाणु किस अवस्था मे उत्पन्न हुये। तात्पर्य केवल यह है सर्वप्रथम सत्व, रज व तम की प्रकृति थी पश्चात् तन्मात्राओ ने पहले अथवा तन्मात्राओ के रूप मे परमाणु उत्पन्न हुए। परमाणुओ की उत्पत्ति के पश्चात् की सृष्टि-उत्पत्ति साख्यो ने लगभग न्याय-वैशेषिक के अनुसार मानी है। इससे यही प्रतीत होता है कि इस विषय में साख्यकार ने न्याय से अधिक सूक्ष्म विचार किया है। न्याय-वैशेषिक प्रकृति की परमाणु की अवस्था तक रहे जबकि साख्य प्रकृति की उससे भी सूक्ष्म अवस्था सत्व, रज व तम तक पहुच गया। इससे इनका आपस में विरोध नहीं है। विरोध तो एक ही विषय पर दो विरोधी मत होने से होता है, लेकिन यहाँ पर विषय की स्थूलता व सूक्ष्मता का प्रश्न है। इस विषय पर स्वामी ओमानन्द भी स्वामी दयानन्द की ही पुष्टि करते हैं। वह कहते हैं 'जहाँ से न्याय-वैशेषिक ने स्थूल सृष्टि का क्रम दिखाया है वही से साख्य मूल जडतत्व की खोज में सूक्ष्मतर एव सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की ओर गया है। जिस जडतत्त्व के अन्तर्गत विभु और अणु दोनो प्रकार के जड पदार्थ है वह सबसे प्रथम जडतत्त्व तीन गुण हैं सत्य, रजस और तमस।'[३] इस विषय में स्वयं साख्यकार का मत भी यही है कि परमाणु वाद मे गुणो से उत्पन्न होते है। 'नाणु नित्यता तत्कार्यत्वश्रुते'। सा० सू० ५-८७। अर्थात् अणु नित्य नही है क्योकि उसका कार्यत्व श्रुति मे कहा गया है।

कुछ आर्य विद्वानो का कहना है कि गुण अपने गुणो मे पृथक नही रह

१ गीता रहस्य पृ० १७५।

२ The five classes of atoms are generated from the tanmatras as follows..." History of India Phil V I p 252 S N Dass Gupta.

३. पातजल योग प्रदीप, पृ० ६८, ओमानन्द तीर्थ

सकते अत सत्व, रजस व तमस इन तीनों गुणो का आधार होना चाहिये और वह परमाणु तीन प्रकार के हैं, कुछ सतोगुणी जो हल्के व प्रकाशयुक्त हैं, कुछ रजोगुणी जो क्रियाशील हैं तथा कुछ तमोगुणी जो अत्यन्त भारी व गति-रहित हैं। इन विद्वानो का यह मत विभ्रातिपूर्ण है क्योकि साख्य स्वय कह रहा है ('नाणु नित्यता तत्कार्यत्वश्रुते'। साख्य ५ ८७) अर्थात् अणु नित्य नही है क्योकि यह कार्य है ऐसा श्रुति कहती हैं। साख्य शास्त्र मे पदार्थो का विभाजन वैशेषिक के अनुसार नही किया गया।[1] अतएव वैशेषिक के गुण के समान साख्य के सत्वादि गुण नही समझने चाहिये। वैशेषिक मे गुण शब्द का ग्रहण गुण-गुणी के अर्थ मे किया है जबकि साख्य गुणो को स्वय प्रकृति मानता है। जैसा कि सांख्य शास्त्र स्पष्ट कह रहा है कि 'सत्वादि धर्म नही है तद्रूप होने से''[2], अर्थात् सत्वादि स्वय प्रकृति हैं न कि किसी के धर्म। साख्य सूत्रो के प्रसिद्ध भाष्यकार विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि सत्वादि द्रव्य हैं वैशेषिक के गुण नही, क्योकि सयोग-विभाग-युक्त हैं।[3] इसलिए साख्य के गुण परमाणुओ के धर्म नही बल्कि परमाणुओ के आदि कारण हैं।

अब यदि परमाणुओ को स्वामी दयानन्द के अनुसार कार्य माना जाय तब यह प्रश्न उठता है कि परमाणुओ की अवस्था को प्रकृति नाम कैसे दिया गया जबकि प्रकृति तीनो गुणो की साम्यावस्था का नाम है। हम समझते हैं कि द्रव्य की परमाणुओ की अवस्था भी प्रकृति कही जा सकती है, क्योकि उस अवस्था से ही जगत के स्थूलाकार का निर्माण होता है, इसमे वह ससारोत्पत्ति मे कारण है। साख्य ने प्रकृति से विकृति तक तीन विभाग किये हैं। (१) प्रकृति—तीनो गुणो की साम्यावस्था, (२) प्रकृति-विकृति—इसमे महतत्व, अहकार व पंचतन्मात्रायें आती हैं (३) विकृति—मन सहित ग्यारह इन्द्रिया व पच महा-

१ सा० सू० ६—३८ इस पर तुलसीराम भाष्य।

२. साख्य सूत्र ६—३९।

३ 'सत्त्वादीनि द्रव्याणि, न वैशेषिका गुणा, सयोग विभागत्त्वात्'। विज्ञान भिक्षु। तुलसीराम द्वारा अपने साख्य दर्शन पर भाष्य मे उद्धृत, पृ० २८।

भूत ।[1] अब यदि परमाणुओं को तन्मात्राओं की अवस्था में भी उत्पन्न मानें तब भी वह प्रकृति-विकृति अवस्था मे आ जाते हैं। जिसने उस अवस्था को प्रकृति कहा जा सकता है। इससे न्याय-वैशेषिकों का द्रव्य की परमाणु की अवस्था को प्रकृति कहना कोई अनुचित नहीं प्रतीत होना।

उपरोक्त विवेचन से स्वामी दयानन्द का यह विचार कि परमाणु गुणों के कार्य हैं और गुण प्रकृति की अत्यन्त सूक्ष्मावस्था है, काफी प्रबल प्रतीत होता है। और इस प्रकार इन दो शास्त्रों का प्रकृति का क्या स्वरूप है, इस विषय पर मतभेद प्रायः समाप्त हो जाता है।

ब्रह्मसूत्रों (वेदान्त दर्शन) मे प्रकृति की विद्यमानता—षड्-वैदिक दर्शनों मे वेदान्त दर्शन का अपना महत्व है। इसमें विशेष रूप से ब्रह्म का वर्णन पाया जाता है। कतिपय वैदिक दार्शनिकों का यह विचार है कि वेदान्त अद्वैतवादी दर्शन है तथा इसमे प्रकृति की सत्ता को ब्रह्म से पृथक नही माना गया है। इससे इसमे विद्वान शंकर के मायावाद का ही दर्शन करते हैं। शंकराचार्य जी के मतानुसार ब्रह्मसूत्र प्रकृति को ब्रह्म की मायारूपी शक्ति मानते हैं। अतः अद्वैतवाद, ब्रह्मसूत्रों में, जगत् के मिथ्यात्व का ही प्रतिपादन करता है। दूसरी ओर रामानुजाचार्य जी इसी दर्शन मे विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादन करते हैं। रामानुज संसार की यथार्थता तो स्वीकार करते हैं परन्तु प्रकृति को ब्रह्म का ही भाग मानते हैं। रामानुज ब्रह्म मे प्रकृति को स्वगत भेद के अनुसार मानते हैं, अर्थात् इनके मत मे, वास्तव में, प्रकृति ब्रह्म का ही अंश है।

वेदान्त मे प्रकृति की विद्यमानता पर स्वामी दयानन्द के विचार उपरोक्त दोनों विद्वानों से भिन्न हैं। वे ब्रह्मसूत्रों मे प्रकृति को ब्रह्म से पृथक अनादि तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं।[2] स्वामी दयानन्द से पहिले भी ब्रह्मसूत्र को यथार्थवादी मानने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। ब्रह्मसूत्र के प्रतिष्ठित प्राचीन

१. 'मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'॥ सां० कारिका—३।

२. 'सृष्टि का...निमित्त कारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है।' सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ६८।

भाष्यकारो मे महर्षि बोधायन का भाष्य यथार्थवादी भाष्य था। स्वामी दयानन्द ने बोधायन मुनि द्वारा रचित वेदान्त भाष्य को प्रामाणिक माना है।[1] अत यह भाष्य निश्चयपूर्वक ही ब्रह्मसूत्र का यथार्थवादी भाष्य रहा होगा।[2]

महर्षि दयानन्द ने ब्रह्मसूत्र पर कोई विधिवत् भाष्य नही लिखा है। परन्तु उनका यह मत उनके द्वारा स्थल-स्थल पर ब्रह्मसूत्रो के प्रमाण देने से प्राप्त होता है। इसलिये दयानन्द के मत की पुष्टि के लिए हम सीधे ब्रह्मसूत्रो पर ही विचार करेंगे।

वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) को मूलरूप मे देखने पर पता चलता है कि यह शास्त्र ससार को मायारूप नही मानता। वरन् इसमे तो ससार को स्वप्नवत् मानने वालो के मत का खण्डन किया गया है। महर्षि बादरायण एक स्थल पर जाग्रत के पदार्थों की स्वप्न के पदार्थों मे तुलना करते हुए कहते है कि जाग्रत स्वप्न के समान मिथ्या नही हो सकता क्योकि स्वप्न के पदार्थों मे और जाग्रत के पदार्थों मे वैधर्म्यता है[2] अर्थात् स्वप्न के पदार्थों का जागरण काल मे अभाव पाया जाता है परन्तु जाग्रत की उपलब्धि नष्ट नही होती। वह अवस्थान्तर व कालान्तर मे बनी ही रहती है। अत जागरण के पदार्थों का स्वप्न से दृष्टान्त देना सर्वथा असगत है। एक अन्य सूत्र मे सूत्रकार, स्वप्नावस्था मे पदार्थों का स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण, इसे मायामात्र मानता है।[3] उपरोक्त दो प्रसगो से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मसूत्र के रचियता जाग्रत के ससार को न तो

---

१ प्रयत्न करने पर भी बोधायन मुनि का ब्रह्मसूत्र पर भाष्य नहीं मिल सका। परन्तु इस पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि बोधायन मुनि ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा है, क्योकि बोधायन मुनि को ब्रह्म-सूत्र—भाष्यकार के रूप मे, रामानुज ने अपने वेदान्त दर्शन पर श्री भाष्य की भूमिका मे, स्मरण किया है. 'भागवद् बोधायनम् कृतम विस्तीर्णं ब्रह्मसूत्र वृत्ति पूर्वाचार्य।

२ 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'। वे० सू०, २—२—२९।

३ 'मायामात्र तु कात्स्न्येंनाऽनभिव्यक्त स्वरूपत्वात्।' वे० सु०, ३-२-३।

स्वप्न के समान मानते हैं और न मायामात्र। ब्रह्मसूत्र में प्रकृति को जगत् का का उपादान कारण कहा गया है। 'पटवच्च' (सू० २—१—१९) इस सूत्र में शास्त्रकार संसार को बनने से पहिले अपने कारणरूप प्रकृति में वर्तमान मानता है। जिस प्रकार कपड़ा लिपटा हुआ हो तथा खोलने पर फैल जाता है उसी प्रकार उत्पत्ति से पूर्व संसार अपने मूल कारण प्रकृति में लीन रहता है, उत्पत्ति अवस्था में व्यक्त हो जाता है। यहाँ पर वेदान्त दर्शन सांख्यों के सत्कार्यवाद के अनुसार ही परिणामवाद का प्रतिपादन कर रहा है। इसके अतिरिक्त वेदान्त ब्रह्म को जगत् का निमित्त कारण मानता है। शास्त्र कहता है कि '(प्रकृति) परमात्मा के आधीन होने से ही सार्थक है' तदधीनत्वादर्थवत्। (वे. सू १-४-३) अर्थात् प्रकृति अव्यक्तावस्था में परमेश्वर के आधीन रहती है तथा व्यक्तावस्था में भी उसके निर्देशन में कार्य करती है तभी प्रकृति की सार्थकता है अन्यथा नहीं। इससे प्रतीत होता है कि शास्त्रकार प्रागवस्था में भी प्रकृति की सत्ता को मानता है, सर्वथा अभाव नहीं। शंकराचार्य जी ने भी इस सूत्र के भाष्य में प्रागवस्था में प्रकृति की विद्यमानता को स्वीकार किया है तथा कहा है कि प्रागवस्था में प्रकृति को न मानने पर परमात्मा का जगत्कर्त्ता होना असिद्ध हो जायेगा, अत. प्रागवस्था में प्रकृति परमेश्वर के आधीन थी।[1] परन्तु शंकराचार्य जी यहां पर सत्ता भेद का प्रसंग उपस्थित कर देते हैं कि इन सूत्रों में व्यावहारिक सत्ता का वर्णन है। व्यावहारिक दृष्टि से ही ईश्वर में कर्तृत्व आदि होते हैं अत सूत्रों में जहां-जहां सृष्टि उत्पत्ति आदि का वर्णन है वह सब व्यावहारिक स्तर का बोध कराने वाले सूत्र हैं। लेकिन इस पर हम पूछ सकते हैं कि सूत्रों में कहां स्तर-भेद की बात कही गयी है ? वास्तविकता यह है कि वेदान्त दर्शन में जगत की वास्तविकता का वर्णन इतने अधिक व स्पष्ट रूप से किया गया है कि शंकराचार्य जी को अद्वैतवाद की सिद्धि के लिये लाचार होकर स्तर-भेद की कल्पना का शास्त्रों पर आरोप करना ही पड़ता है।

---

१ 'परमेश्वराधीनात्वियमस्माभि प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते, न स्वतन्त्रा। सा चाऽवश्यमभ्युपगन्तव्या। अर्थवती हिसा। न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति।' शांकर भाष्य, वे० सू० १—४—३ पर से।

वास्तव मे वेदान्त सूत्र न तो शकराचार्य जी के मायावाद को मानते हैं और न स्तर-भेद को वरन् वादरायण स्पष्ट कह रहे हैं कि 'प्रतिज्ञा व दृष्टान्त के वाधक न होने से प्रकृति है ।"[1] वेदान्त दर्शन मायावादी नही है यह स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त अन्य विद्वान भी अब स्वीकार करने लगे हैं। स्वामी ओमानन्द अपनी पुस्तक 'पातजल योग प्रदीप' मे कहते है कि ब्रह्मसूत्र परिणामवादी है, अर्थात् कार्यकारण के सम्बन्ध मे सूत्रकार परिणामवादी है विवर्तवादी नही।[2] आपके अनुसार 'आत्मकृते परिणामात्' (वे० सू० १–४–२६) मे सूत्रकार स्पष्ट ही परिणामवाद की ओर निर्देश कर रहा है। वास्तव मे ब्रह्मसूत्रो मे मायावाद का आरोप नवीन वेदान्तियो का है। आपका कहना है "कि वादरायण के मूल सूत्रो पर साम्प्रदायिक पक्षपात से रहित होकर स्वतन्त्र विचार से दृष्टि डालने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्य सब दर्शनकारो (न्याय-वैशेषिक साख्य व योग) के सदृश उनमे भी साख्य और योग के द्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है।"[3]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेदान्त प्रकृति तत्त्व का प्रतिपादन करता है और मायावाद की झलक इस शास्त्र मे नही है। स्वामी दयानन्द का विचार कि वेदान्त दर्शन मे सृष्टि का निमित्त कारण ईश्वर है और उपादान कारण अनादि प्रकृति है, तर्कपूर्ण है व सूत्रो के वास्तविक तात्पर्य के साथ पूर्णरूप मे मेल खाता है।

वेदान्त दर्शन में ब्रह्म-जीव मे भेद

यह तो हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि वेदान्त दर्शन पर स्वामी शकराचार्य का ब्रह्माद्वैतवादी भाष्य वेदान्त का सही-सही प्रतिनिधित्व नही करता। वास्तव में यह वादरायण के दर्शन के स्थान पर गोडपाद के दर्शन का ही प्रतिपादन करता है। इस विषय मे भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान श्री सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का यह विचार है कि शकर व गोडपाद से पूर्व किसी भी

१ 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात् ।' वे० सू०, १–४–२३ ।

२ पातंजल योग प्रदीप पृ० २१, ओमानन्द ।

३ वही, पृ० २२ ।

आचार्य ने उपनिषदों के अतिरिक्त वेदान्त दर्शन का अद्वैतवादी भाष्य नहीं किया,[1] स्वामी दयानन्द के यथार्थवादी विचारों की ही पुष्टि करता है। शांकर मत में वेदान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त सब माया है। जीव भी अविद्या की उपाधि से संयुक्त, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

वेदान्त दर्शन में जीव का क्या स्वरूप है ? क्या जीवात्मा ब्रह्म का ही रूप मात्र है ? इत्यादि प्रश्न एक यथार्थवादी के लिये अत्यन्त महत्त्व के हैं। इन प्रश्नों के विषय में महर्षि दयानन्द एक दम स्पष्ट हैं। वे वेदान्त दर्शन में जीवात्मा को ब्रह्म से पृथक मानते हैं और शंकराचार्य जी के ब्रह्म-जीव एकवाद का खण्डन करते हैं। दयानन्द अपने मत को अनेक वेदान्त सूत्रों से पुष्ट करते हैं। सत्यार्थ प्रकाश में एक स्थान पर "नेतरोऽनुपपत्तेः"। वे० सू० १-१-१६। का अर्थ लिखते हुए स्वामी दयानन्द कहते हैं "ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं है, क्योंकि इस अल्प, अल्पज्ञ सामर्थ्य वाले जीव में सृष्टि कर्तृत्व नहीं घट सकता। इससे जीव, ब्रह्म नहीं है।"[2] इस सूत्र के भाष्य में शंकर स्वामी भी यही अर्थ करते हैं। परन्तु आप यहां पर अविद्या को ले आते हैं कि जीव अविद्योपाधि से कल्पित है, अतः ब्रह्म से पृथक प्रतीत होता है। यही नहीं बल्कि अन्य कई सूत्रों के भाष्य में जहां भी शास्त्र में ब्रह्म व जीव का भेद कहा गया है, शंकर स्वामी वहां उसे अविद्याजन्य उपाधि से उसकी व्याख्या करते हैं।[3] यदि हम इसी उपाधिवाद को मान लें तब तो वेदान्त दर्शन ब्रह्माद्वैतवादी हो सकता है। लेकिन

1 "I do not know of any Hindu writer previous to Gaudapada who attempted to give an exposition of the monistic doctrine (apart from Upanishads) either by writing a commentary as did Sankara or by writing an independent work as did Gaudapada" A History of India Philosophy, V. I, P 422

२ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३०६।

३ 'इतश्चानन्दमय पर एवात्मा नेतर इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः'। (वे० सू० १—१—१६ पर शंकर भाष्य)

श्न उठता है कि ब्रह्मसूत्रो मे मायावाद कहा है ? व्यावहारिक व पारमार्थिक त्ता का भेद कहां कहा गया है ? और यदि हम शास्त्र की मूल भावना और वास्तविक अभिप्राय की चिन्ता छोडकर स्वच्छन्दता से उपाधिवाद व मायावाद का आरोप शास्त्र मे करते रहेगे, तब यह कार्य क्या, ब्रह्म सूत्रो के वास्तविक अभिप्राय को तोड-मरोड़कर अन्य रूप दिखा देना नही होगा ? ब्रह्मसूत्रो पर शकर से अधिक स्पष्ट रामानुज हैं, जो शास्त्र के अभिप्राय के शकर से अधिक निकट प्रतीत होते हैं। रामानुजाचार्य अश-अशी भाव से ब्रह्म व जीव मे भेद मानते हैं। उनके मत मे जीव मायोपाधि से नही होता वरन् शाश्वत और नित्य है। ब्रह्म जीव से भी अति सूक्ष्म होने से जीव मे व्यापक है इससे जीव ब्रह्म के शरीरवत् है। यही ब्रह्म व जीव का शरीरी-शरीर सम्बन्ध है। रामानुज के मत मे जीवात्मा अनादि और अनेक हैं। यद्यपि इनमे स्वरूप मे समानता है परन्तु सख्या भेद से अनेक हैं।[1]

स्वामी दयानन्द निम्नलिखित दस वेदान्त सूत्रो पर भाष्य करते हुए जीव व ब्रह्म की पृथकता पर बल देते है—

१ नेतरोऽनुपपत्ते.। १—१—१६

२ भेदव्यपदेशाच्च। १—१—१७

३ विशेषण भेद व्यपदेशाभ्या च नेतरौ। १—२—२२

४. अस्मिन्नस्य च तद्योग शास्ति। १—१—१९

1. "Since thus the plurality of the eternal individual self rest on goed authority, those who have an insight into the true nature of selfs will discern without different characterstics distinguishing the individual Selfs, altnough all Selfs are alike in so far as having intelligence for their essential nature" Sacred Book of the East Series, Vol XLVIII, "Vedanta Sutras" 2-3-43, commented by Ramanuja, Translated by Thibaut

५. अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् । १—१—२०

६ भेदव्यपदेशाच्चान्यः । १—१—२१

७. गुहा प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् । १—२—११

८. अनुपपत्तेस्तु न शारीर. । १—२—३

९ अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् । १—२—१८

१०. शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते । १—२—२०

स्वामी दयानन्द कहते हैं उपरोक्त सूत्रों में ब्रह्म व जीव में भेद है। स्वामी दयानन्द इन सूत्रों पर लिखते हैं[1]—

(१) "ब्रह्म से इतर जीव सृष्टिकर्त्ता नहीं है, क्योंकि इस अल्प अल्पज्ञ सामर्थ्य वाले जीव में सृष्टि कर्तृत्व नहीं घट सकता । इससे जीव ब्रह्म नहीं ।"

(२) 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति', यह उपनिषद् का वचन है जीव और ब्रह्म भिन्न हैं । क्योंकि इन दोनों का भेद प्रतिपादन किया है । जो ऐसा न होता तो रस अर्थात् आनन्द स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त होकर जीव आनन्दस्वरूप होता है यह प्राप्ति विषय ब्रह्म और प्राप्त होने वाला जीव का निरूपण नहीं घट सकता इस लिए जीव और ब्रह्म एक नहीं ।"

(३) दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुष. सबाह्याभ्यन्तरोह्यज. ।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परत परः ॥ मु० उ० २ १ २

'दिव्य, शुद्ध मूर्तिमत्वरहित, सबमें पूर्ण बाहर भीतर निरन्तर व्यापक, अज, जन्म-मरण शरीर धारणादि रहित, श्वास, प्रश्वास, शरीर और मन के सम्बन्ध से रहित, प्रकाशस्वरूप इत्यादि, परमात्मा के विशेषण और अक्षर नाश-रहित, प्रकृति से परे अर्थात् सूक्ष्म जीव उनसे भी परमेश्वर परे अर्थात् ब्रह्म सूक्ष्म है । प्रकृति और जीवों से ब्रह्म का भेद प्रतिपादन रूप हेतुओं से प्रकृति और जीवों से ब्रह्म भिन्न है ।'

(४) "इसी सर्वव्यापक ब्रह्म से जीव का योग व जीव में ब्रह्म का योग प्रतिपादन करने से जीव व ब्रह्म भिन्न हैं । क्योंकि योग भिन्न पदार्थों का हुआ करता है ।"

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३०६ पर इनका भाष्य देखिये ।

(५) "वस ब्रह्म के अन्तर्यामी आदि धर्म कथन किए हैं और जीव के भीतर व्यापक होने मे व्याप्य जीव व्यापक ब्रह्म से भिन्न है। क्योंकि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भी भेद मे सगठित होता है।"

(६) "जैसे परमात्मा जीव से भिन्नस्वरूप है वैसे इन्द्रिय अन्त.करण पृथिवी आदि भूत, दिशा, वायु, सूर्य आदि दिव्य गुणो के योग से देवतावाच्य विद्वानो से भी परमात्मा भिन्न है ।"

(७) 'गुहा प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके' इत्यादि उपनिषदो के वचनो से जीव और परमात्मा भिन्न हैं। वैमे ही उपनिषदो मे वहुत जगह दिखलाया है।'

(८) "शरीरे भव शारीर.' शरीरधारी जीव ब्रह्म नही है क्योकि ब्रह्म के गुण, कर्म स्वभाव जीव मे नही घटते।"

(९) (अधिदेव) सव दिव्य मन आदि, इन्द्रिय आदि पदार्थो (अधिभूत) पृथिव्यादि, भूत (अध्यात्म) सव जीवो मे परमात्मा अन्तर्यामी रूप से स्थित हैं, क्योकि उसी परमात्मा के व्यापकत्वादि धर्म सर्वत्र उपनिषदो मे व्याख्यात् हैं।"

(१०) "शरीरधारी जीव ब्रह्म नही है, क्योकि ब्रह्म से जीव का भेद स्वरूप से सिद्ध है।"

उपरोक्त वेदान्त सूत्रो के भाष्य मे स्वामी दयानन्द ने जिस आधार पर ब्रह्म व जीव के भेद का प्रतिपादन किया है, उसमे मुख्य युक्ति इस प्रकार है कि वेदान्त दशन मे जीव को सृष्टिकर्त्ता न मानकर ब्रह्म को ही सृष्टिकर्त्ता माना है। इससे इनमे भेद है। एक सर्वशक्तिसम्पन्न है दूसरा अल्प सामर्थ्ययुक्त है। फिर सूत्र परमात्मा व जीव का योग अर्थात् सम्पर्क वताते हैं। यह भी भेद के विना सम्भव नही। उपास्य-उपासक भाव भी भेद मे ही वन सकता है। इसके अतिरिक्त सूत्र, जीव को शरीर धारण करने योग्य व परमात्मा को अशरीरी कहते हैं। 'गुहा प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्। वे १—२—११। मे परमात्मा व जीवात्मा का मिलन हृदय मे कहा है। मिलन भी भिन्नता के बिना सम्भव नही। यही नही वल्कि सूत्रकार कहता है कि परमात्मा व जीव के विशेषणो का श्रुति मे भेद कहा गया है, इसलिए भी ब्रह्म व जीव मे भेद है (विशेषण भेद व्यपदेशाभ्या च नेतरौ। वे० १—२—२२।)

इन सूत्रों को छोड़कर वेदान्त दर्शन के और अनेक सूत्र दयानन्द के मत की पुष्टि करते हैं। जैसे परमात्मा को जीवात्मा से महान् कहा गया है,[1] जीवात्मा मे कर्मफल भोग प्रसक्ति है परमात्मा मे नहीं[2] तथा जीवात्मा अणु है,[3] (इस सूत्र के भाष्य मे शंकराचार्य जी भी जीव को अणु ही मानते हैं परन्तु अद्वैत मत की पुष्टि के लिये यहां उपाधि के सिद्धान्त को लागू कर देते हैं।) वेदान्त दर्शन के चौथे अध्याय के चतुर्थपाद मे ब्रह्म व जीव का भेद और भी स्पष्ट दिखायी देता है। जब कि बादरायण यह प्रश्न उठाते हैं कि मुक्ति मे जीवात्मा के साथ मन रहता है या नहीं ? सूत्रकार कहते हैं कि बादरि मुक्ति मे साधनों के अभाव को मानते हैं[4] परन्तु जैमिनि मुक्ति मे मन के साधनों को जीवात्मा के साथ कहते है।[5] इस पर बादरायण अपना मत प्रदर्शित करते हैं कि हम दोनों को अर्थात् मुक्ति मे जीवात्मा के साथ साधनों के अभाव व भाव दोनों को मानते हैं।[6] यहा पर मुख्य बात यह है कि यदि ब्रह्म व जीव एक ही हैं तब मुक्ति मे जीव के रहने और उसके साथ मन आदि साधनों के रहने का क्या तात्पर्य ? तब तो मुक्ति में जीव को ब्रह्म होकर ब्रह्म मे लीन हो जाना चाहिए, लेकिन बादरायण मुक्ति में जीव का ब्रह्म मे लय नहीं मानते। यदि मानते तो मुक्ति में साधनों का भाव न बतलाते। इससे प्रतीत होता है कि बादरायण ब्रह्म व जीव के भेद को मानते हैं और साथ ही अगले सूत्र मे स्पष्ट कहते हैं कि मुक्त पुरुष अन्य अनेक सामर्थ्यों को प्राप्त कर सकता है, परन्तु सृष्टि निर्माण नहीं कर सकता।[7] यदि जीव ब्रह्म ही होता तब मुक्ति में ब्रह्म मे लीन होकर ब्रह्मरूप हो जाता और फिर सृष्टि निर्माण कर सकने मे क्या दोष है जब कि वह स्वयं ब्रह्म है। सृष्टि

---

१ 'अधिकन्तु भेदनिर्देशात्'। वे० सू० २—१—२२
२ वेदान्त सूत्र १—२—२०, १—२—२२
३ 'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्।' वे० सू० २—३—२१
इस सूत्र के भाष्य मे रामानुज भी जीव को अणु मानते हैं।
४ 'अभावं बादरिराह ह्येवम्'। वे० सू० ४—४—१०
५ 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्।' वे० सू० ४—४—११
६ 'द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः'। वे० सू० ४—४—१२
७ 'नेतरोऽनुपपत्तेः। वे० सू० १—१—१६

निर्माण कर सकने मे क्या दोष है जब कि वह स्वय ब्रह्म है। सृष्टि-निर्माण करने मे असमर्थता इस बात का द्योतक है कि जीव ब्रह्म से पृथक है क्योकि सृष्टि निर्माण का कार्य केवल ब्रह्म का है।

वेदान्त दर्शन मे ब्रह्म-जीव भेदवाद की दयानन्द की विचारधारा युक्ति-युक्त प्रतीत होती है। स्वामी जी ने इन सूत्रो पर अधिक नही लिखा तो भी यह हमे एक नया दृष्टिकोण देते हैं जिसके आधार पर सारे ही वेदान्त दर्शन का यथार्थवादी (त्रैतवादी) दृष्टि से सफलतापूर्वक भाष्य किया जा सकता है।

सांख्य मे ईश्वरवाद

वैदिक षड्-दर्शनो मे साख्य दर्शन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस दर्शन के रचयिता महर्षि कपिल अत्यन्त विद्वान पुरुष थे। महर्षि कपिल का वैदिक साहित्य मे बडा मान है। परन्तु, दार्शनिक जगत मे सदियो से साख्य दर्शन को अनीश्वरवादी माना जाता रहा है। विद्वानो का विचार है कि साख्य शास्त्र चेतन पुरुष व जड प्रधान, इन तत्त्वो को ही अनादि मानता है तथा इन्ही दोनो तत्त्वो के मेल से सृष्टि की रचना होती है। सृष्टि से पूर्व प्रकृति अपनी अव्यक्तावस्था मे सत्व, रज व तम की साम्यावस्था मे होती है। अव्यक्त प्रकृति के, पुरुष के सन्निध्य मे आने से प्रकृति की साम्यावस्था भग हो जाती है और तब सृष्टि-निर्माण का कार्य प्रकृति के निश्चित नियमो पर स्वय ही प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार इन विद्वानो के अनुसार सास्य को सृष्टि-रचना के लिये ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नही थी, अत कपिलाचार्य ने अपने शास्त्र मे ईश्वर को कोई स्थान नही दिया। इससे यह विद्वान साख्य को अनीश्वरवादी दर्शन मानते हैं। परन्तु इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि साख्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नही करता तो वह वैदिक (आस्तिक) दर्शनो मे क्यो गिना जाता है? इसका उत्तर विद्वान इस प्रकार देते हैं कि वैदिक दर्शनो मे आस्तिक व नास्तिक का अर्थ ईश्वर को मानने या न मानने से नही है, वरन् यहा पर वेद को स्वत प्रमाण मानने वाले ग्रन्थ आस्तिक तथा वेद की निन्दा करने वाले ग्रन्थ नास्तिक कहलाते हैं, जैसा कि मनु कहते है 'नास्तिको वेद निन्दकः'। (मनु० २-११) और क्योकि साख्य शास्त्र वेदो को स्वत प्रमाण मानता है,

इसमे सांख्य दर्शन आस्तिक दर्शन है। परन्तु हमे इन विद्वानो का यह तर्क कुछ जचा नहीं कि केवल वेदो को स्वत प्रमाण मानने पर कोई दर्शन आस्तिक हो जायेगा फिर चाहे वह ईश्वर को माने या न माने। हमारे विचार से, वेदो को स्वत प्रमाण मानने वाला शास्त्र कभी भी अनीश्वरवादी हो ही नहीं सकता, क्योकि चारो वेदो मे स्थल-स्थल पर ईश्वर का व्याख्यान पाया जाता है। अत वेद को स्वत. प्रमाण मानने वाले सांख्य को उन स्थलो को मानना ही पड़ेगा। फिर समझ मे नहीं आता कि सांख्य अनीश्वरवादी कैसे है। कही विद्वान किसी भ्रांति के कारण तो सांख्य पर नास्तिकता का आरोप नहीं लगा रहे ?

सांख्य दर्शन अनीश्वरवादी है या नहीं, इस विषय पर दयानन्द अत्यन्त स्पष्ट हैं। उनका कहना है कि सांख्य ईश्वरवादी शास्त्र है तथा कपिलाचार्य पर अनीश्वरवाद का आरोप मिथ्या है।[1] दयानन्द के अनुसार सांख्य मे ईश्वर का वर्णन, जगत के निमित्त कारण, कर्मफल प्रदाता, वेदो के आदिस्रोत के रूप मे पाया जाता है। सांख्य के विषय मे दयानन्द की यह घोषणा बडी साहसपूर्ण है। अत हमें इसके औचित्य को देखने का प्रयास आवश्यक प्रतीत होता है।

सांख्य दर्शन ईश्वरवादी ग्रन्थ है, दयानन्द के इस दावे को हम यहाँ दो प्रकार से देखेंगे—(१) सांख्य शास्त्र के अतिरिक्त दूसरे वैदिक शास्त्रो से तथा (२) स्वय सांख्य शास्त्र मे पाये जाने वाले ईश्वरवादी तत्त्वो मे।

(१) दूसरे वैदिक शास्त्रो की सांख्य के विषय मे सम्मति—वैदिक साहित्य में सांख्य शास्त्र का अपना विशिष्ट महत्व है। इस शास्त्र में सन्निहित ज्ञान के कारण दार्शनिक साहित्य में इस शास्त्र व इसके रचयिता महर्षि कपिल की बडी प्रशंसा की गयी है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में महर्षि कपिल को परमात्मा द्वारा ज्ञान दिया जाना बताया है। उपनिषद् कहता है 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति,'[2] अर्थात् (जो) परमात्मा पहिले उत्पन्न हुये कपिल मुनि को ज्ञान से भर देता है। इस स्थल पर इसका स्पष्ट संकेत है कि महर्षि कपिल ब्रह्मज्ञानी थे और यह ज्ञान उन्हें स्वय परमात्मा ने दिया था। इसके अतिरिक्त महाभारत

---

१ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १८८।
२. श्वेत उ०, ५–२

में कपिल को ब्रह्मा के सात मानस पुत्रो--सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनत्सुजात, सन, सनातन व कपिल – में बताया है। शा० पर्व० ३४०-६७। इन्हे जन्म से ही ज्ञान था। कपिल साख्य शास्त्र का प्राचीन आर्य राजाओ के मध्य बड़ा सन्मान था। महाराजा जनक स्वय एक ब्रह्मज्ञानी थे। महाभारत मे जिक्र आता है कि कपिल के शिष्य आसुरि के चेले पचशिख ने जनक जी को साख्य शास्त्र का उपदेश किया था। (शा० प० २१८)। और भीष्म ने साख्यो के ज्ञान की योग्यता को स्वीकार करते हुये कहा था कि सृष्टि उत्पत्ति मे साख्यो ने जो ज्ञान दिया वही पुराण, इतिहास आदि मे पाया जाता है। यही नही वरन् यहा तक कहा गया है कि 'ज्ञान च लोके यदि हास्ति किंचित् साख्यागत तच्च महन्महात्मन्'। (म० शा० प० १०१, १०९) अर्थात् ससार मे जो भी ज्ञान है वह सब साख्यो से ही प्राप्त होता है। इसीलिये हम देखते हैं कि समस्त प्राचीन वैदिक दर्शन साहित्य कपिल के ज्ञान की उपयोगिता को स्वीकर करता है तथा महर्षि कपिल के अगाद ज्ञान के कारण ही कपिल को परमर्षि की उपाधि दी गयी है,— 'साख्यस्य वक्ता कपिल. परमर्षिः स उच्यते'। महाभा० १२-३४९-६५।

उपरोक्त वर्णन के अतिरिक्त गीता मे भी महर्षि कपिल को सर्वोच्च सिद्ध माना गया है। योगिराज कृष्ण परम सिद्ध पुरुष थे। वे ब्रह्मज्ञानी थे। हिन्दु शास्त्रो मे तो उन्हे भगवान् अर्थात् स्वय ब्रह्म कहा गया है। गीता के अ० १०-२६ में कृष्ण अपनी विभूतियो को बताते हुए कहते हैं 'सिद्धानां कपिलो मुनि' अर्थात् सिद्धो मे मैं कपिल मुनि है। प्रश्न उठता है कि यदि कपिल अनीश्वरवादी होते तो श्रीकृष्ण अपनी तुलना कपिल मुनि से क्यो करते ? क्या औपनिषदिक ऋषियो मे कोई भी नास्तिक कहे जाने वाले कपिल मुनि से श्रेष्ठ न था जिससे श्री कृष्ण अपनी तुलना कर सकते ? कपिल मुनि जन्म से ही अतिशय धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त हुये पुरुष थे, अतः श्री कृष्ण ने सिद्ध पुरुषो मे अपनी समानता का कपिल मुनि को ही चुना। इससे यही पता चलता है कि कपिल मुनि अनीश्वरवादी न थे वरन् वैदिक महर्षियो की श्रेणी मे अग्रणी थे। यही नही वरन् महाभारत, गीता व उपनिषदो के अतिरिक्त और भी जितना वैदिक साहित्य है, हमारे विचार मे तो, इसमे कही भी सांख्य का अनीश्वरवादी

होना नहीं पाया जाता। डा० राधाकृष्णन् ने सांख्य के दो प्रसिद्ध आचार्य आसुरि व पंचशिख को स्पष्ट ही ईश्वरवादी बताया है।[1]

सांख्य को अनीश्वरवादी समझने की प्रवृत्ति का कारण—संस्कृत साहित्य का अवलोकन करने से पता चलता है कि सांख्य शास्त्र को नास्तिक समझने की प्रवृत्ति मध्यकाल से चली है। इस प्रवृत्ति के चलने में दो मुख्य कारण थे, (१) ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका तथा (२) शंकराचार्य द्वारा अपने ग्रन्थों में सांख्य की नास्तिक कहकर आलोचना करना।

(1) ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका—सांख्यकारिका की रचना ईश्वर कृष्ण ने की थी। इस शास्त्र की रचना कुछ इस प्रकार की गयी है कि पाठकों को यह अनुभव होने लगता है कि सांख्यो के मतानुसार सृष्टि की रचना बिना ईश्वर के भी हो सकती है।[2] विद्वान पुरुष कारिकाओं को सांख्य सूत्रों से अधिक प्राचीन मानते हैं अत उन्हें ही सांख्य सिद्धान्त का प्रधान स्रोत मानकर सांख्यों को नास्तिक कह देते है। परन्तु हमारी दृष्टि में यह उनकी भूल है।

सांख्य शास्त्र के आदि वक्ता महर्षि कपिल थे, कपिल के शिष्य आसुरि थे। इनके बाद पंचशिख, जैगषव्याचार्य, विन्ध्यवासी (रुद्रिल), पाराशर, व्यास, ईश्वर कृष्ण तथा विज्ञान भिक्षु हुये हैं। सांख्य साहित्य में आता है कि महर्षि कपिल ने सांख्य सिद्धान्त का उपदेश आसुरि को किया था। यही उपदेश रूपी ज्ञान भविष्य में सांख्य सिद्धान्त कहलाया। यह सूत्र रूप मे था। आसुरि मुनि ने इस ज्ञान को पंचशिखाचार्य को दिया। कहा जाता है कि पंचशिखाचार्य नेइस शास्त्र का विस्तार किया। बाद मे वार्षगण्याचार्य ने षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें साठ प्रधान विषयों की व्याख्या है। इस षष्टितन्त्र के आधार पर ही ईश्वर कृष्ण आर्य ने सांख्यसप्तति अर्थात् सांख्यकारिका की रचना की। यहां हम यह पाते है कि ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका सांख्य साहित्य में बहुत बाद में जाकर बनी

---

1 "Both Asuri and Panchsikha adhere to a theistic Samkhya and believe in supremacy of Brahman."
Dr. S Radha Krishanan, I P.' V. 2P 25.

२ देखिये 'गीतारहस्य' ले० बा० ग० तिलक, पृ० १६२ (पादटिप्पणी)।

इससे पूर्व कम से कम दो ग्रन्थ साख्यसूत्र तथा षष्टितन्त्र की रचना हो चुकी थी। विज्ञान भिक्षु की साख्यकारिका साख्य सूत्रो के बाद की है। कौमुदी प्रभा के लेखक स्वप्नेश्वर सांख्यप्रवचन सूत्रो को पचशिखाचार्य के दताते है जिनका ज्ञान पचशिखाचार्य को परम्परा से कपिल से हुआ था। भागवत मे एक स्थल पर आता है कि साख्य दर्शन का एक वडा भाग काल के गाल मे नष्ट हो गया है तथा हमारे पास तक उसका थोडा भाग ही आया है।[1] विज्ञान भिक्षु ने इन सूत्रो पर साख्यप्रवचनभाष्य की रचना की है। अपने भाष्य की भूमिका मे विज्ञान भिक्षु कहता है कि साख्य शास्त्र का एक वडा भाग काल ने नष्ट कर दिया है तथा जो एक कला अर्थात् सक्षिप्त रूप वचा है उसे मैं अपने भाष्य मे पूरा करूगा।[2] कतिपय विद्वानो का विचार है कि साख्यकारिका वर्तमान सांख्यप्रवचनसूत्र से पहिले की है। इसमे उनका तर्क यह है कि शकराचार्य ने अपने ग्रन्थो मे इन सूत्रो का कोई जिक्र ही नही किया तथा साख्यकारिका के टीकाकार वाचस्पति मिश्र को इनका पता भी न था अतः यह सूत्र कपिलोक्त नही है। इन विद्वानो के अनुसार इनकी रचना मे वहुत कुछ विज्ञान भिक्षु का हाथ है। हमारे विचार से यह मत ठीक नही है क्योकि विज्ञान भिक्षु से लगभग एक शताब्दी पूर्व (पन्द्रहवी शताब्दी मे) अनिरुद्ध ने इसी सांख्य-प्रवचन-सूत्र पर सांख्यवृत्तिसूत्र नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इससे प्रतीत होता है कि साख्यसूत्र विज्ञान भिक्षु से पूर्व के हैं और जैसा कि उनके शिष्य भावगणेश ने अपने ग्रथ तत्त्वयाथार्थ्यदीपन मे स्थान-स्थान पर कहा है, विज्ञान भिक्षु ने इन पर भाष्य की रचना की है।

जहा तक साख्यकारिका का प्रश्न है, यह इसके नाम से ही स्पष्ट है कि इसकी रचना अपने से पूर्व उपस्थित साख्यशास्त्र को स्पष्ट करने के लिये हुई है, अत यह ग्रन्थ साख्य सूत्र से प्राचीन नहीं हो सकता। यहा पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि साख्यकारिका सूत्रो से बाद की है तब साख्यमत के रूप

---

१. भागवत, १—३—१०।

२ 'कालार्क भक्षित साख्यशास्त्र ज्ञानसुधाकरम्। कलावशिष्ट भूयोऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः॥ सा० प्र० भा० भू० ५।

मे साख्यकारिका की प्रसिद्धि व लोकप्रियता साख्य सूत्रो से अधिक क्यों है? हमारे विचार से इसका कारण यह है कि साख्यसूत्र समझने मे कठिन तथा दुरूह हैं। इसके विपरीत साख्यकारिका पद्यरूप में होने से सरल व सुबोधगम्य है, अत विद्वानो ने अपने को साख्यकारिका तक ही सीमित रक्खा।

(ii) सांख्य की शकराचार्य जी द्वारा आलोचना—शकराचार्य जी का मायावाद साख्यो के यथार्थवाद से एकदम विपरीत है। शकर प्रकृति को माया मानते थे जब कि साख्य प्रकृति को सत्य मानता है। वैदिक षड्-दर्शनो मे शकर स्वामी के मायावाद को सबसे अधिक खतरा साख्यो के यथार्थवाद से था, अत उन्होंने साख्यो को अपनी आलोचना का मुख्य लक्ष्य बनाया। इसमे शकर स्वामी को सबसे अधिक सहायता साख्यकारिका से मिली। हम पहिले ही कह आये हैं कि ईश्वरकृष्ण की साख्यकारिका ऊपर से देखने पर अनीश्वरवादी प्रतीत होती है। शकर स्वामी का साख्यो के सिद्धान्त के विरुद्ध सबसे मुख्य तर्क यही है कि साख्य अनीश्वरवादी हैं। वास्तव मे, शकर स्वामी ने साख्य-कारिका के ईश्वर के प्रति उदासीन भाव का लाभ उठाया और इसका प्रयोग साख्यो को अनीश्वरवादी सिद्ध करने मे किया। शकराचार्य जी ने अपने ग्रन्थो मे कही भी साख्य सूत्रो का उल्लेख नही किया। शकराचार्य के बाद के भाष्यकारो मे फिर तो साख्य को अनीश्वरवादी मानने की प्रवृत्ति ही चल गयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्वानो ने अपने-अपने सिद्धान्तो को बचाने के लिये अच्छे खासे ईश्वरवादी साख्यदर्शन को अनीश्वरवादी बना दिया। इस प्रवृत्ति का सबसे प्रबल विरोध सोलहवी शताब्दि मे विज्ञान भिक्षु ने किया। उन्होंने सांख्यकारिका के स्थान पर साख्य सूत्र को प्रामाणिक माना तथा उन पर सांख्य प्रवचनभाष्य नाम से भाष्य लिखा। यह भाष्य ईश्वरवादी है। आधुनिक युग मे स्वामी दयानन्द ने पुन: सांख्य को एक ईश्वरवादी शास्त्र के रूप मे स्वीकार किया हैं। दयानन्द, वर्तमान काल मे उपलब्ध होने वाले साख्य-प्रवचन-सूत्र को कपि-लोक्त मानते हैं तथा इन पर भागुरिमुनिकृत भाष्य को प्रमाणिक मानते हैं।[1] निश्चय ही यह भाष्य ईश्वरवादी रहा होगा।

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ६६

(२) साख्य दर्शन के ईश्वरवादी होने मे साख्य सूत्रो से प्रमाण—उपरोक्त विवेचन के बाद अब हम स्वय साख्य-सूत्रो मे से साख्य दर्शन के ईश्वरवादी होने के प्रमाण प्रस्तुत करेंगे।

कतिपय विद्वानो का आक्षेप है कि साख्य-दर्शन ने स्वय ईश्वर की असिद्धि को 'ईश्वरासिद्धे'[1] सूत्र से स्वीकार किया है। दयानन्द जी के विचार से उपरोक्त साख्यसूत्र मे ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नही किया गया है।[2] वरन् यह कहा गया है कि ईश्वर सामान्य प्रत्यक्ष से नही जाना जाता और न ही ईश्वर जगत् का उपादान कारण ही है अत प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नही हो सकती। एक अन्य स्थल पर महर्षि कपिल पुरुष व प्रकृति के द्वारा ससार-चक्र की नित्यता का (सृष्टि-प्रलय-क्रम मे) व्याख्यान करते हुए विषय का उपसहार करके कहते हैं, इन दोनो से एक पृथक और भी है,[3] जो इन दोनो से भिन्न स्वरूप वाला है। प्रकृति व पुरुष मे पृथक वह तत्व क्या है इसको सोचने के लिये अन्यत्र जाने की आवश्यकता नही वरन् उसमे अगले ही सूत्रो मे उसका वर्णन मिलता है कि वह नित्यमुक्त स्वभाव वाला साक्षीमात्र है।[4] यह लक्षण पुरुष व प्रकृति के अतिरिक्त परमात्मा का ही हो सकता है।

साख्य दर्शन ईश्वर को निमित्त कारण मानता है, स्वामी दयानन्द का यह विचार भी निराधार नही है। साख्य मे प्रकृति को पराधीन कहा है। परन्तु पराधीनता का तात्पर्य यह नही कि प्रकृति अनादि नही है। साख्यो की प्रकृति अनादि है और किसी शक्ति के वश मे है।[5] वह शक्ति, जिसके वश मे प्रकृति है,

---

१ साख्यसूत्र, १–९२

२ 'यहा ईश्वर की सिद्धि मे प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है और न जगत् का उपादान कारण है।' सत्यार्थ प्र०, पृ० १८७।

३ 'व्यावृत्तोभयरूप.'। सा० सू०, १–१६०

४ (i) 'साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम्'। सा० सू० १-१६१

(ii) 'नित्यमुक्तत्वम्'। सा० सू० १-१६२

५ 'अकार्यत्वेऽपि तद्योग: पारवश्यात्।' सा० सू० ३-५५

साख्य सूत्रो मे उसको सर्वज्ञ व सर्वकर्त्ता के रूप मे कहा है[1] और यह स्पष्ट ही है कि सर्वज्ञ व सब का निर्माणकर्त्ता केवल ईश्वर ही हो सकता है। साख्यकार कहता है कि इस प्रकार के (सर्वज्ञ और सृष्टि-रचना करने वाले) ईश्वर को हम मानते है,[2] अर्थात् साख्यो का परमात्मा सृष्टि रचने वाला है। ईश्वर सृष्टि के प्रारम्भ मे साम्यावस्था मे स्थित प्रकृति मे क्षोभ उत्पन्न करता है जिससे सृष्टि-उत्पत्ति का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। साख्य का ईश्वर न तो विशिष्टाद्वैत के ईश्वर के समान है और न अद्वैत के समान सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ही है। इस शास्त्र मे ईश्वर ससार का निमित्त कारण है, जो पूर्व ही विद्यमान प्रधान मे ससार का निर्माण करता है।

इसके अतिरिक्त साख्य सूत्रो मे अन्य स्थलो पर भी ईश्वर का प्रतिपादन पाया जाता है। साख्य शास्त्र कर्मफल के सिद्धात को मानता है, लेकिन कर्मफल का सिद्धात सफलतापूर्वक तभी माना जा सकता है जब कि हम किसी ऐसी शक्ति को भी माने जो कर्मफल प्रदान करने वाली हो। कर्म अपना फल स्वय नही दे सकते क्योकि कर्म जड है। प्राय कर्मो का फल वर्षो पश्चात् भी देखने मे आता है। इससे यह प्रतीत होता है कि कर्म स्वय फल को उत्पन्न नहीं करते। महर्षि कपिल भी कहते हैं कि 'ईश्वर कर्मफलो का देने वाला है। केवल कर्म स्वय फल को पैदा नही करते।'[3] सांख्य ईश्वर को कर्मफल प्रदाता मानता है।

साख्य दर्शन मोक्ष मे पुरुष की स्थिति ब्रह्म में मानता है। सांख्यकार का कथन है कि समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष मे पुरुष की अवस्था ब्रह्म-रूप हो जाती है, अर्थात् पुरुष ब्रह्म में सम्पन्न हो जाता है।[4] बुद्धि सत्व के साथ तादात्म्य हो जाने से जीव अपने को शरीर का अधिष्ठाता समझने लगता है। यदि यह तादात्म्य न रहे तब उसका अधिष्ठातापन भी समाप्त हो जाय। परन्तु प्रश्न उठता है कि बुद्धिसत्व के साथ तादात्म्य तो समाधि, सुषुप्ति व मोक्ष मे भी बना रहता है। उस समय वह अपने को शरीर का अधिष्ठाता क्यो नही

१ 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।' सा० सू० ३-५६
२ 'ईदृशेश्वरसिद्धि सिद्धा।' सां० सू० ३-५७
३ 'न ईश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्ति कर्मणा तत्सिद्धे।' सां० सू० ५-२।
४ 'समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता।' सा० सू० ५-११६।

समझना ? इस पर कहते है समाधि, सुषुप्ति व मोक्ष में जीव अपने मे ब्रह्म के आनन्दादि गुणो को धारण कर लेता है। सुषुप्ति मे तमोगुण के प्रभाव से जीव परमात्मा की सत्ता में सम्पन्न होने पर भी अज्ञान से मूछित रहता है। समाधि और मोक्ष में वह उस आनन्द का साक्षात् अनुभव करता है।[1] इस अवस्था में जीवात्मा परमात्मा से सम्बन्ध की घनिष्ठता के कारण बुद्धिमत्व से उत्पन्न अधिष्ठातृत्व को भूल जाता है।

इसके अतिरिक्त साख्य वेदो की उत्पत्ति स्वय परमात्मा की शक्ति से मानता है। वेदो की स्वत प्रामाणिकता के प्रश्न पर साख्य के निर्माता कहते हैं कि वेद परमात्मा की शक्ति मे उद्भूत हुए हैं अत स्वत प्रमाण है।[2] स्वत प्रमाण का तात्पर्य उस प्रमाण से है जिसकी प्रमाणिकता अपने आप मे है, जैसे दीपक के प्रकाश को खोजने के लिये अन्य दीपक की आवश्यकता नही है। सत्य स्वय सत्य है। ऐसा निभ्रान्त ज्ञान सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त अन्य का हो भी कैसे सकता है। वेद शास्त्र इसी प्रकार का निभ्रान्त ज्ञान होने से स्वत प्रमाण हैं। इसके अतिरिक्त वेदो मे स्थल-स्थल पर ईश्वर का व्याख्यान किया गया है। ईश्वर का व्याख्यान करना वेदो का मुख्य तात्पर्य है। इसमे वेद को स्वत प्रमाण मानने पर साख्य इन स्थलो को कैसे अस्वीकार कर सकता है ? हमारे विचार से तो सारे साख्य शास्त्र मे कही भी ऐसा स्थल नही है जहा ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साख्य सूत्रो मे ईश्वर का प्रतिपादन जगत् के निमित्त कारण, जीव व प्रकृति से भिन्न कर्मफल प्रदाता के रूप मे किया गया है। यही नही वरन् इस शास्त्र मे जीवात्मा का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति बताया है। ईश्वर की सिद्धि मे दिये न्याय शास्त्र के प्राय सारे प्रमाण हमे साख्य मे मिलते हैं। ब्रह्मसूत्र में भी ब्रह्म को सृष्टि का कारण व वेदो का उत्पत्ति स्थान माना है। स्वामी दयानन्द ने साँख्य शास्त्र मे ईश्वरवादी विचारो का दिग्दर्शन

---

१ मुक्ति मे बुद्धिसत्व का रहना वेदान्त भी मानता है। वे० स० ४-४-१०, ११, १२।

२ 'निजशक्त्यभिव्यक्ते स्वत प्रामाण्यम।' सा० ५-५१।

कराकर, साख्य को फिर से सही अर्थों में वैदिक दर्शनों की कोटि में लाकर खड़ा कर दिया है। मध्य युग से चली आ रही साख्य को नास्तिक समझने की प्रवृत्ति[1] को दयानन्द ने निर्मूल सिद्ध कर दिया है जिसका परिणाम यह रहेगा कि साख्य पर लगाये गये यह आक्षेप, कि जड़ प्रधान व निष्क्रिय पुरुष सृष्टि-रचना नहीं कर सकते, तथ्यहीन हो जायेंगे और फिर साख्य बिना किसी कठिनाई के वैदिक शास्त्र माना जा सकता है।

---

१ प्रतीत यह होता है कि मध्य युग से पहिले साख्य ईश्वरवादी शास्त्र रहा होगा परन्तु उस काल का कोई भाष्य आज प्राप्त नहीं है लेकिन इस पर ईश्वरवादी भाष्य अवश्य लिखे गये होंगे। महर्षि दयानन्द स्वरचित सत्यार्थ प्रकाश में सांख्य पर भागुरि मुनि के भाष्य को प्रामाणिक कहते हैं। यह भाष्य आज उपलब्ध नहीं है परन्तु यह अवश्य ही ईश्वरवादी भाष्य रहा होगा। (लेखक)



ईश्वर



स्वामी दयानन्द ईश्वर को मानते थे इसमे लेशमात्र भी सन्देह नही किया जा सकता। वे मूर्तिपूजा तथा अनेक देवी-देवताओ की उपासना को नही मानते थे इससे यह भ्रम पैदा हो गया कि दयानन्द नास्तिक हैं। परन्तु ऐसा नही है। स्वामी जी को ईश्वर के अस्तित्व पर कभी सन्देह भी नही हुआ। उनके लिये ईश्वर परमसत्ता है, जिसके न कोई बराबर है और न जिससे कोई अधिक। जो ससार का रचयिता, नियामक व पालनकर्त्ता है तथा समस्त सृष्टि का एक ही स्वामी है। ईश्वर अनन्त शक्तिसम्पन्न है, सर्वज्ञ है और ससार मे जीवो के कर्मों का फल देने वाला है। स्थान-स्थान पर दयानन्द उसी एक परमात्मा का उपदेश करते हैं, जिसको जानकर जीव ससार के जन्म-मरणरूपी चक्र से छूटकर मुक्ति का आनन्द प्राप्त करता है। दयानन्द के अनुसार परमात्मा के अनेक नाम है जो उसके गुणो के वाचक है। ईश्वर के विषय मे स्वामी जी न्यायादि षड्-शास्त्रो मे ईश्वर विषयक प्राप्त विचारो का आदर करते हैं और विद्वानो की दृष्टि मे इनमे पाये जाने वाले आपसी विरोधो का अपने दर्शन मे सफलतापूर्वक समन्वय करने की चेष्टा करते है। उनका विचार है कि उपासना व योगाभ्यास से जीवात्मा ईश्वर की प्राप्ति कर सकता है।

ईश्वर-सिद्धि मे प्रमाण

ईश्वर की सिद्धि मे क्या प्रमाण है? यह विषय दर्शन साहित्य में अत्यन्त विवादास्पद है। प्राय एक दार्शनिक द्वारा किये गये प्रमाण ही कुछ बदलकर दूसरो द्वारा दिये जाते हैं। दार्शनिक चाहे पश्चिम मे हो या पूर्व मे, प्राय, सभी

एक ही प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। उनमे भेद केवल प्रणाली का है कि वे किस प्रकार अपने विचारो का प्रतिपादन करते हैं।

ईश्वर-सिद्धि मे प्रत्यक्ष प्रमाण—भौतिकवादियो व चारवाको का कथन है कि ईश्वर का इन्द्रियो द्वारा ज्ञान नही होता अत प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि नही होती तथा प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान प्रमाण भी सार्थक नहीं है क्योकि प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष का ज्ञान ही अनुमान है। नि सन्देह ईश्वर का भौतिक पदार्थो के समान इन्द्रिय प्रत्यक्ष नही होना, इससे सभी विद्वान ईश्वर की सिद्धि मे शब्द व अनुमान का ही प्रमाण मानते हैं। परन्तु दयानन्द ने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये प्रत्यक्ष को भी स्वीकार किया है।

प्रश्न—आप ईश्वर-ईश्वर कहते हो परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो?

(दयानन्द) उत्तर—सब प्रत्यक्षादि प्रमाणो से।[1]

'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्'। न्याय सू० १-४। स्वामी दयानन्द ईश्वर की सिद्धि मे इस न्यायसूत्र से कहते हैं। "जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, प्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख, दुख, सत्यासत्य विषयो के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु वह निर्भ्रम हो। अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियो और मन से गुणो का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं। जैसे चारो त्वचा आदि इन्द्रियो से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथ्वी है उसका आत्मयुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जा सकता है वैसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि मे रचना विशेष आदि ज्ञानादि गुणो के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियो को किसी विषय मे लगाता है या चोरी आदि बुरी या परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण मे आरम्भ करता है उस समय जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाती है, उसी क्षण मे आत्मा के भीतर से बुरे काम करने मे भय, शका और लज्जा तथा अच्छे कामो के करने मे अभय, नि शकता और आनन्दोत्साह

१ सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ-१७६।

उठता है वह जीवात्मा की ओर से नही किन्तु परमात्मा की ओर से है। और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने मे तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनो (जीव व परमात्मा) प्रत्यक्ष होते है"। स्वामी जी आगे कहते हैं कि "जब परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमानादि से परमेश्वर का ज्ञान होने में क्या सन्देह है? क्योंकि कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता (ही) है"।[1]

हम देखते हैं कि यहाँ पर स्वामी दयानन्द सर्वप्रसिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा भी ईश्वर की सिद्धि करते हैं। आपका अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष मे हमे गुणी का नही बल्कि गुणो का प्रत्यक्ष होता है जिसके आधार पर हम गुणी की विद्यमानता का अनुमान लगा लेते हैं। इसी प्रकार ससार की रचना, सृष्टि के सुनिश्चित नियम, सत्य, शुभ व अनन्त आदि विचारो से इनके आधाररूप परमात्मा को मानना ही पडता है क्योकि ये गुण किसी अन्य पदार्थ मे नही हो सकते। सत ऐनस्लिम ने भी ईश्वर की सिद्धि मे कुछ इसी प्रकार का तर्क दिया था कि पूर्णता का विचार किसी ऐसी सत्ता की सिद्धि करता है जो अपने मे पूर्ण है। यद्यपि यहा ऐनस्लिम ने ईश्वर को प्रत्यक्ष के आधार पर नही माना तथापि पूर्णता ईश्वर का गुण है अत पूर्णता से पूर्ण पुरुष का बोध होता है। स्वामी दयानन्द का प्रत्यक्ष के आधार को स्वीकार करना दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी को एक अद्भुत अवस्था मे रख देता हैं। क्योकि जहा तक प्रश्न सृष्टि रचना का है इसे नास्तिक—जैसा कि जैन मानते हैं—के अनुसार प्रवाह से अनादि कह सकते हैं (यद्यपि यह भी निरापद नही है)। और बुरे कर्मो के प्रति जीव मे भय, शका व लज्जा के उत्पन्न होने को हम जीव के स्वभाव के विपरीत होने पर भी मान सकते हैं। परन्तु अनन्त के विचार का क्या करेंगे? इसे परमात्मा के अतिरिक्त किस सत्ता मे मानोगे? अनन्त परमात्मा का स्वरूप है अत अनन्त के बोध से परमात्मा के अस्तित्व का बोध होता है। पश्चिमी दर्शन मे देकर्त ने भी ईश्वर की सिद्धि मे यही प्रमाण दिया था।

---

१. वही, पृ० १७६–१७७

ईश्वर सृष्टि का रचने वाला है—स्वामी दयानन्द सृष्टि-रचना से भी ईश्वर की सिद्धि करते हैं उनके विचार मे यह विशाल सृष्टि-जिसके आर-पार का पता नहीं है, जिसमें प्रत्येक क्रिया सुनिश्चित नियमो के अनुकूल हो रही है तथा जिसके प्रत्येक कार्य मे कोई न कोई प्रयोजन है बिना किसी अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सत्ता के नहीं हो सकती ।

जैन दार्शनिक संसार की रचना के लिये किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझते । उनके विचार से सृष्टि की रचना किसी ने नहीं की, वरन् यह एक अनादि प्रवाहवत् स्वय रचित है ।[1] स्वामी दयानन्द इसको नहीं मानते । वह कहते हैं कि 'स्वभाव से सृष्टि नहीं होती, किन्तु परमेश्वर की रचना से होती है' ।[2] क्योकि 'बिना कर्त्ता के कोई भी क्रिया या क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता । जिन पृथ्वी आदि पदार्थों मे सयोग-विशेष से रचना दीखती है वे अनादि कभी नही हो सकते और जो संयोग से बनता है वह सयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त मे नहीं रहता ।'[3] और यदि 'जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो विनाश कभी न होवे और जो विनाश भी स्वभाव से मानो तो उत्पत्ति न होगी और जो दोनो स्वभाव युगपत् द्रव्यो मे मानोगे तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी' ।[4]

न्याय शास्त्र ईश्वर को सृष्टि निर्माण में निमित्त कारण बताता है । न्याय के अनुसार कारण तीन प्रकार के हैं, उपादान कारण, निमित्त कारण तथा साधारण कारण । इनमे उपादान कारण वह है जो अपने कार्य मे परिवर्तित हो जाता है, निमित्त कारण जो स्वयं परिवर्तित न हो परन्तु उपादान को कार्य मे

---

१ चिदचिद् द्वे परे तत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनम् ।
उपादेयमुपादेयं हेयं हेय च कुर्वत. ॥१॥
हेय हि कर्तृ रागादि तत् कार्य्यमविवेकिन ।
उपादेय परं ज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥२॥ स० प्र०, पृ० ४३६

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २२०

३ वही, पृ० २२०–२२१

४ वही, पृ० २२०

परिवर्तित कर दे, तीसरा साधारण कारण जो निमित्त के साधन होते हैं। परमात्मा सृष्टि का निमित्त कारण है। स्वामी दयानन्द न्याय के इस विचार को स्वीकार करते हैं। यह विभिन्न प्रकार की सृष्टि किसी सर्वशक्तिमान् सृष्टा की सिद्धि करती है। इस सृष्टि मे नियम दिखायी पडने हैं जो किसी के नियन्त्रण मे कार्य कर रहे हैं। वह कहते है कि "जगत् बनाने का जीव मे सामर्थ्य नही और जड मे स्वय बनने का सामर्थ्य नही इससे यह सिद्ध हुआ कि परमात्मा ही जगत् को बनाता और सदा आनन्द मे रखता है।"[1] सेंट थोमास परमात्मा को सृष्टि-कर्त्ता मानते हैं परन्तु उनके अनुसार सृष्टि का निर्माण परमात्मा ने शून्य से किया। लेकिन स्वामी दयानन्द शून्य मे सृष्टि की रचना नही मानते। परमात्मा शून्य से सृष्टि का निर्माण नही कर सकता वरन् पहिले से ही वर्तमान प्रकृति से सृष्टि का निर्माण करता है। ऐरिस्टोटल ने भी ईश्वर की सिद्धि मे ऐसा ही प्रमाण दिया है कि परमात्मा द्रव्य को गति देकर सृष्टि-निर्माण को सम्भव बनाता है। ऐरिस्टोटल इसमे लगभग ४७ से ५५ देवताओ की कल्पना करता है।[2] परन्तु दयानन्द केवल एक सर्वशक्तिमान् परमात्मा को सृष्टि उत्पत्ति मे पूर्ण समर्थ बताते हैं। इस पर प्रश्न उठता है कि ईश्वर का सृष्टि रचना मे क्या प्रयोजन है? स्वामी दयानन्द तो परमात्मा को आप्तकाम कहते है फिर भला उसका क्या प्रयोजन हो सकता है। स्वामी दयानन्द के मत से जीवात्माओ के भोग व मोक्ष के लिये परमात्मा सृष्टि का निर्माण करता है उसका इसमे न कोई प्रयोजन है और न इच्छा। स्वामी जी कहते हैं कि परमात्मा ईक्षण से समस्त संसार का निर्माण करता है। ईक्षण इच्छा नही है वरन् जो 'सब प्रकार की विद्या का दर्शन और सब सृष्टि का करना कहाता है वह ईक्षण है'।[3] परमात्मा सृष्टि का निर्माण हाथ-पैरो से भी नही करता क्योकि अनन्त परमात्मा मे शरीर का आरोप करना असगत है। और जैसा कि उपनिषद् कहता है 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्य पुरुष महान्तम्'। श्वेत० उ० ३—१९।

१ वही, पृ० ४४३।
२ History of Western Philosophy. Bertrand Russell, P 191
३ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २०१

उपरोक्त मन्त्र का अर्थ करते हुये स्वामी दयानन्द कहते हैं, 'परमेश्वर के हाथ नही परन्तु अपनी शक्तिरूप हाथ मे सबका रचन-ग्रहण करता, पग नहीं परन्तु व्यापक होने से सबसे अधिक वेगवान् चक्षु का गोलक नही परन्तु सबको यथावत् देखता, श्रोत्र नहीं तथापि सबकी वातें सुनता, अन्त करण नहीं परन्तु सब जगत् को जानता है और उसको अवधिसहित जानने वाला कोई नही है। ... वह इन्द्रियो और अन्त करण मे होने वाले कार्य अपने सामर्थ्य से करता है।"[1]

अनीश्वरवादी यहाँ पर प्रश्न करता है कि ईश्वर इस दुखपूर्ण ससार की रचना क्यो करता है जबकि वह स्वय सुखस्वरूप है। फिर पूर्ण परमात्मा की कृति भी पूर्ण ही होनी चाहिए थी। इस आपत्ति पर स्वामी दयानन्द कहते हैं कि ससार मे दु ख परमात्मा स्वय अपनी इच्छा से पैदा नही करता वरन् जीवो के भले-बुरे कर्म ससार मे सुख व दुख का मूल हैं। परमात्मा तो सृष्टि का निर्माण कर जीवात्माओ के कृत कर्मो के फलस्वरूप दुख-सुख की व्यवस्था मात्र करता है। इससे परमात्मा किसी पक्षपात् आदि दोष मे नही पडता। बल्कि स्वामी दयानन्द का कथन तो यह है कि परमात्मा सृष्टि का निर्माण तथा कर्म-फल की व्यवस्था करके जीवात्माओ पर दया करता है जो कि उसका स्वभाव है।[2] परन्तु जीव अज्ञानवश नित्य वासना के भवर मे फस अनुचित कार्य करता है जिसके लिये पुन ससार मे आता है।

महर्षि दयानन्द ईश्वर को निराकार व व्यापक मानते हैं। इस विस्तृत ब्रह्माण्ड मे किसी भी ऐसे स्थान की कल्पना नही की जा सकती जहा ईश्वर न हो। क्या रचित सृष्टि और क्या सृष्टि से परे का आकाश, क्या वस्तु के भीतर क्या बाहर सब स्थान पर ईश्वर व्याप्त है। यदि ईश्वर का शरीर माना जाय तव उसे साकार मानना पडेगा और साकार व्यापक नही हो सकता। सीमित वस्तु के गुण, कर्म व स्वभाव भी सीमित होंगे और फिर वह सर्व शक्तिमान् नही माना जा सकता। इस प्रकार का ईश्वर सब प्रकार के रागादि दोषो से युक्त होगा, जो

१ वही, पृ० १८६

२ 'परमेश्वर का स्वाभाविक गुण जगत् की उत्पत्ति करके सब जीवो को असंख्य पदार्थ देकर परोपकार करना है।" सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१५।

अनीश्वरवादी आलोचको की तीव्र आलोचनाओ का विषय होगा। स्वामी दयानन्द की ईश्वर सम्बन्धी विचारधारा मे इस प्रकार की समस्यायें उत्पन्न नही होती। अत हम यह नही कह सकते कि ईश्वर सृष्टि रचना कर अपने सर्वसामर्थ्य व सर्वशक्तिमान् पद से गिर कर रागादि दोषो मे फस गया।

ईश्वर कर्मफल प्रदाता है—इसके अतिरिक्त न्याय आदि वैदिक दर्शनो की भाति दयानन्द सृष्टि मे कर्मफल व्यवस्था को देखकर व्यवस्थापक ईश्वर की सिद्धि करते हैं।[1] ईश्वर कर्मफल प्रदाता है ससार मे जीवो के किये शुभाशुभ कर्मों के फलो को प्रदान करता है। हम जो भी कर्म करते है वह फलो को अपने पीछे छोड जाते हैं। कोई भी प्राणी दुख को प्राप्त करना नही चाहता। ससार मे यह प्रवृत्ति देखी जाती है कि अनुचित कर्मो के फलस्वरूप दुख को कोई नही भोगना चाहता। ऐसी अवस्था मे कर्मफल प्रदाता के रूप मे सर्वशक्तिमान ईश्वर को मानना ही पडता है। स्वामी दयानन्द का कहना है, यदि ईश्वर फलप्रदाता न हो तो पाप के फल, दुख को जीव अपनी इच्छा से कभी नही भोगेगा, जैसे चोर आदि चोरी कर दण्ड अपनी इच्छा से नही भोगते किन्तु राज-व्यवस्था से भोगते हैं वैसे ही परमेश्वर के भुगाने से जीव पाप और पुण्य के फलो को भोगते हैं।[2] लेकिन साथ ही स्वामी जी यह भी कहते हैं कि ईश्वर अपनी इच्छा से किसी को दुख-सुख नही देता वरन् प्राणी जैसे कर्म करता है वैसा ही फल ईश्वर उसको देता है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द इस आशका को भी निर्मूल कर देते हैं कि ईश्वर जिसको चाहे सुख या दुख दे। महर्षि दयानन्द के मत मे कर्मफल प्रदान करके ईश्वर पक्षपात नही करता। यमुनाचार्य ने भी ईश्वर की सिद्धि मे इन प्रमाणो की सार्थकता को स्वीकार किया है।[3]

---

१ "ईश्वरः कारण पुरुष कर्माफल्य दर्शनात्।" न्यायदर्शन ४–१–१९।

२ सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४११।

३ 'That the world is an effect, and, as such must have been produced by an intelligent person who had a direct knowledge of the materials He also has a direct knowledge of dharam (merit) and adharam (demerit) of→

ईश्वर ज्ञान का आदिस्रोत है—दयानन्द ईश्वर को ज्ञान का आदिस्रोत बताते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ मे परमात्मा मानव जाति के ज्ञान-विज्ञान के लिये वेदो का प्रकाश करता है। दयानन्द अन्य वैदिको की भांति वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। उनका इसमे तर्क है कि जैसे जगली मनुष्य सृष्टि को देखकर भी विद्वान नहीं होते और जब उनको कोई शिक्षक मिल जाय तो विद्वान हो जाते हैं और अब भी किसी से पढे विना कोई विद्वान नही होता।"[1] और यह ठीक ही है कि विना नैमित्तिक ज्ञान के जीव का स्वाभाविक ज्ञान केवल ज्ञेय शक्ति है जो विना किसी निमित्त की सहायता से सृष्टि का रहस्य समझने में असमर्थ है। इसी रूप में योगदर्शन परमात्मा को आदि गुरू कहता है।[2] अत इससे भी परमात्मा की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त वेदो मे ईश्वर का वर्णन पाया जाता है इससे शब्द प्रमाण भी ईश्वर का बोधक है। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि तुम ईश्वर से वेद की सिद्धि करते हो और वेद से ईश्वर की सिद्धि करते हो इसमे परस्पर अन्योन्याश्रय दोष आयेगा और फिर इनमें से एक भी सिद्ध न हो सकेगा। स्वामी दयानन्द का इसके उत्तर मे कहना है कि "हम लोग परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव अनादि मानते हैं, अनादि नित्य पदार्थों मे अन्योन्याश्रय दोष नही आ सकता" फिर वह कहते हैं कि "परमेश्वर और परमेश्वर के अनन्त विद्यादि गुण नित्य होने से ईश्वर प्रणीत वेद मे अन-

←men, in accordance with which, He creates the whole world and establishes an order by which everyman may have only such experiences as he deserves He by his mere desire, sets all the world in motion He has no body but still He carries on the functioning of his infinite knowledge and power, otherwise how could He create this world and establish its order ? (A History of Indian Philosophy) Vol 3 P 153, S N. Dass Gupta

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २०३–२०४

२ "एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।" योगदर्शन, समाधिपाद, सू० २६ ।

वस्या दोप नही आता ।"[1] और यह ठीक भी है कि दो अनादि पदार्थों मे, जिनमे कि गुण-गुणी का सम्बन्ध है अनवस्था दोष कैसा। परमात्मा सर्वज्ञ है उसकी सर्वज्ञता का एक अश उसके द्वारा वेदो मे प्रकाशित किया गया है इससे वेद के सम्मुख परमात्मा की महत्ता क्यो घट सकती है।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द पुराने वैदिक प्रमाणो को एक नवीनता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसमें उनकी चेष्टा सदैव यह रहती है कि वे बौद्धिक स्तर पर सत्य का ही प्रतिपादन करें।

ईश्वर का स्वरूप

"ईश्वर, सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।" (स्वामी दयानन्द द्वारा निर्मित आर्य समाज का दूसरा नियम)

ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा, स्वामी दयानन्द इन तीनो शब्दो का प्रयोग एक ही ऐसी सत्ता के लिए करते हैं जिसमें उपरोक्त गुण हो।

स्वामी दयानन्द ईश्वर का क्या स्वरूप मानते थे यह उनके द्वारा निर्मित आर्य समाज के दूसरे नियम से स्पष्ट पता चल जाता है। स्वामी जी के लिए ईश्वर सर्वोच्च सत्ता है इसी को वे ब्रह्म कहते हैं और यही परम पुरुष होने से परमात्मा है। ईश्वर के विना सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय एव कर्मफल व्यवस्था असम्भव है। यहा पर स्वामी दयानन्द की विचारधारा शकराचार्य, रामानुज, वल्लभ एव मध्व आदि पूर्ववर्ती दार्शनिको से सर्वथा भिन्न है। यथार्थ-वाद मे ईश्वर का क्या स्वरूप होना चाहिए इसका सही-सही दिग्दर्शन हमे स्वामी दयानन्द के दर्शन में मिलता है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नही कि दयानन्द वेद व उपनिषदो की विचारधारा के विरुद्ध हैं। परन्तु वे अपने ग्रन्थो मे स्थान-स्थान पर स्पष्ट कहते हैं कि वे वेदो के साथ-साथ ग्यारह मुख्य उपनिषदो को ऋषि

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४४०।

प्रणीत होने से प्रमाण मानते हैं।[1] यही नहीं बल्कि उनका तो स्पष्ट कथन है कि उपनिषदें यथार्थवादी हैं और उनमे वर्णित ईश्वर का स्वरूप यथार्थवादी दृष्टिकोण पर आधारित है।

स्वामी जी की ईश्वर सम्बन्धी विचारधारा पश्चिमी दार्शनिक भाषा के ईश्वर सम्बन्धी वादों मे किस वाद का ग्रहण करती है अर्थात् थियिज्म, दियिज्म, पैनथियिज्म या पैनन्थियिज्म मे से किसके पक्ष मे है? हमारे विचार से पूर्वी और पश्चिमी विचारों को शक्तिपूर्वक एक ही शब्दावली में बिठाने की हठ करना युक्तिसगत नही है। जबकि दोनो विचार-प्रवाहों, सभ्यता, संस्कृति और यहाँ तक की विचार करने के तरीको में भी भेद है। यह ठीक है कि कहीं-कहीं हमें अद्भुद् साम्य भी दृष्टिगोचर होता है परन्तु उनमे काफी भेद भी होते हैं और प्राय देखा गया है एक शब्द दूसरे के लिए पूरी तरह से ठीक नहीं बैठता। और विशेष रूप से विद्वानो मे भारतीय दर्शन के वादों को पश्चिमी शब्दावली में घड़ने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इससे भारतीय दर्शन का सही-सही प्रतिनिधित्व नहीं होता। इसी कारण विद्वानो में भारतीय दर्शन के प्रति भ्रान्तियां फैली हैं। इसी प्रकार महर्षि दयानन्द को भी पाश्चात्य शब्दावली मे बिठाने की चेष्टा उनके वास्तविक अभिप्राय को एकदम बदल सकती है।

दयानन्द के लिये ईश्वर और ब्रह्म एक ही सत्ता के दो पर्यायवाची शब्द हैं। ब्रह्म शब्द 'बृह, ब्रहि, बृद्धौ' इन धातुओ से सिद्ध होता है। इसका अर्थ है कि जो महान्, सर्वव्यापक, अनन्त, व सर्वशक्तिमान् है। परम सत्ता के लिये ब्रह्म शब्द का प्रयोग उपनिषदों के साथ-साथ वेदो मे भी किया गया है। वहा भी सबसे महान् होने पर इसे ब्रह्म कहा है। वेद व उपनिषद् ग्रन्थों मे ईश्वर का मुख्य नाम ओ३म् कहा गया है।[2] उपनिषद् कहते हैं कि 'सारे वेद जिसे गाते हैं, सारे ऋषि

---

१. 'परन्तु वेदान्त सूत्रों के पढ़ने से पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों को पढ़के छ शास्त्रों के भाष्य वृत्ति सहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढावें और पढ लेवें'। सत्यार्थप्रकाश,पृ० ६४

२. 'ओ३म् खं ब्रह्म'। यजु ४०—१

जिसका व्याख्यान करते हैं, जिसकी प्राप्ति की इच्छा से मुमुक्षु ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं, वह संक्षेप मे ओ३म् है।[1] ओ३म् परमात्मा का मुख्य नाम है, अन्य नाम उन गुणों से सम्पन्न अन्य किसी पदार्थ के भी हो सकते हैं, परन्तु सारे वैदिक साहित्य मे ओ३म् परमात्मा के निज नाम के रूप मे प्रयोग किया जाता है तथा परमात्मा के अन्य नाम गौणिक हैं। स्वामी जी ओ३म् शब्द के अर्थ इस प्रकार करते है, 'ओ३म् यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है क्योंकि इसमे जो अ, उ और म् तीन अक्षर मिलकर एक ओ३म् समुदाय हुआ है। इस नाम से परमेश्वर के वहुत नाम आते हैं जैसे—अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि नामो का वाचक और ग्राहक है।'"[2] सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास मे दयानन्द ईश्वर के लगभग सौ नामो की व्याख्या करते है। परमात्मा का नाम अग्नि भी है क्योकि वह सर्व प्रकाशक है। वही परमात्मा परमेश्वर्यवान् होने से इन्द्र है तथा सबका जीवन-मूल होने से प्राण है। सवका रचयिता होने से इसी परमात्मा को ब्रह्मा कहते हैं। परमात्मा के अनन्त गुण हैं इससे उसके नाम भी अनन्त हैं। यहा पर स्वामी दयानन्द वेद की उसी केन्द्रिय विचारधारा का प्रतिपादन करते है जिसमे परमात्मा को ही सर्वदेव सम्पन्न कहा गया है।[3]

परमात्मा अनादि है। क्योकि यदि हम यह मानें कि परमात्मा अनादि नही है तब उसकी उत्पत्ति माननी होगी और फिर जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता हैं इससे परमात्मा उत्पत्ति व विनाश वाला हो जायेगा। जो उत्पत्ति व विनाश वाला है वह सर्वशक्तिमान् नही हो सकता क्योकि उसे अपने अस्तित्व के लिये

---

१ (i) 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छतो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पद सग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥'
क० उ० १–२–१५

(ii) 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'। छा० उ० १-१-१

२ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १

३ 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः'।
ऋ० १–१६४–३९।

किसी अन्य सत्ता पर आश्रित होना पड़ेगा । इसके अतिरिक्त कोई पदार्थ उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त तो हो सकता है परन्तु अनन्त वृद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। इस प्रकार परमात्मा को अनादि न मानने पर उसे सर्वशक्तिमान भी नहीं माना जा सकता। महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि जिसका कोई आदि कारण नहीं वा समय न हो वह अनादि है परमात्मा दिक्-काल से परे अनादि है। वह अनन्त है जिसकी कोई सीमा नहीं है। बाईबिल कहती है कि ईश्वर स्वर्ग मे स्थित है। डियिज्म की कल्पना भी कुछ इसी प्रकार की है कि परमात्मा सृष्टि की रचना करके सृष्टि से बाहर चला गया। इसका अर्थ यह है कि वह सान्त एव सशरीर है। स्वामी दयानन्द ऐसी कल्पनाओं को बच्चो की बातें कहते हैं।

ईश्वर सर्वशक्तिमान है अर्थात् परमेश्वर सर्वशक्तिसम्पन्न है तथा उसके बराबर या बढ़कर कोई अन्य सत्ता नहीं है। ईश्वर सबके ऊपर शासन करने वाला है। प्राय. दार्शनिक सर्वशक्तिमान् के अर्थ करते हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान् है इसलिए वह सब कुछ कर सकता है। वह शून्य से सृष्टि-निर्माण कर सकता है, बिना पुण्य-कर्मों के शुभ फल दे सकता है इत्यादि-इत्यादि। लेकिन दयानन्द इस पर आपत्ति उठाते हैं कि ईश्वर के सर्वशक्तिमान् कहने से यह अर्थ नहीं लिए जा सकते कि वह जो चाहे सो करे वरन् इसका अर्थ है व सृष्टि उत्पत्ति, पालन और प्रलय तथा सब जीवों के पाप-पुण्य की यथायोग्य व्यवस्था करने में किंचित् भी किसी की सहायता नहीं लेता। यदि यह माना जाय कि ईश्वर अपनी इच्छा से जीवों को सुख-दु ख देता है तब वह क्यों न पक्षपाती माना जाय ? कोई भी कार्य चाहे वह जीव द्वारा किया जाय या ईश्वर के द्वारा कार्य-कारण के आधार पर ही सम्भव हो सकता है। यहां दयानन्द पूछते हैं कि क्या ईश्वर असम्भव बातों को कर सकता है ? क्या वह दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति कर सकता है और स्वय मृत्यु को प्राप्त कर सकता है ? क्या वह अन्यायकारी, अपवित्र और कुकर्मों को कर सकता है ? कभी नहीं, स्वाभाविक नियमो के विपरीत ईश्वर भी नहीं चल सकता।[1] आगे वह कहते हैं कि "ईश्वर के नियम सत्य और पूरे हैं इसलिये (वह उनमें) परिवर्तन नहीं कर सकता।"[2] ईसाई विचारक संत थोमस ने भी

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ०—२१५
२ सत्यार्थप्रकाश, पृ० — २१५

इसी प्रकार कहा है कि ईश्वर भूतकाल को नष्ट नही कर सकता, स्वयं पापकर्म मे प्रवृत नही हो सकता और अपनी सत्ता को नष्ट कर दूसरा ईश्वर नही बना सकता।[१] रसल कहते है कि सत थोमस के अनुसार परमात्मा मे सब शुभ गुण हैं और सब बुरे गुण यथा क्रोध, विस्मृति, घृणा और शोक, इनका उसमे अभाव है।[२] यहा पर दयानन्द व सत थोमस मे आश्चर्यजनक समता है। कभी-कभी विद्वान समानरूप से विचारते हैं और विशेपरूप से उनके निर्णय तब समान होते हैं जब कि वे पक्षपातपूर्ण भावना को छोड कर सत्य को खोजने की चेष्टा करते है। प्लेटो का कहना भी यही है कि परमात्मा असत् नही बोल सकता तथा ऐसा कोई काम नही कर सकता जिससे उसके शुभ गुणो का विरोध हो।[३] और यह ठीक भी है हम किसी भी रूप मे परमपुरुष को अस्वाभाविक कार्यों मे सलग्न नही मान सकते अन्यथा उसमे और हममे क्या अन्तर रह जायेगा।

दयानन्द ब्रह्म को निराकार मानते हैं—निराकार का अर्थ है जो सर्वत्र व्यापक है तथा जिसका कोई आकार नही है। श्री शकराचार्य ब्रह्म को निराकार मानते हैं परन्तु जीव-प्रतिबिम्बवाद का भी पोपण करते हैं कि जीव अन्त करण मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब हैं। स्वामी दयानन्द का इस पर कहना है कि प्रतिबिम्ब

---

१ 'He cannot undo the past, Commit sin, make another God or make himself not exist.'

History of Western Philosophy, B Russell P 480

२ Ibid, P. 480

३ "Well, but can you imagine that God will be willing to lie, whether in words or deeds, or to put forth a phantom of himself?" "I can not say" he replied

(See Republic in Five Great Dialogues, P 285, Plato. Translated by B Jowett Published by walter J Black)

साकार पदार्थों का होता है, जैसे मुख आकार वाला होने से दर्पण में दिखाई देता है। ब्रह्म निराकार है, इससे उसका कोई प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं।[1] और यदि यह कहा जाय कि स्वच्छ जल में निराकार आकाश का प्रतिबिम्ब तो दिखाई पड़ता है, तब स्वामी जी का उत्तर है कि जल में दिखायी पड़ने वाला आकाश नहीं वरन् पृथिवी, जल व अग्नि के त्रसरेणु हैं जो व्योम में एकत्रित हो गये हैं। आकाश सर्वव्यापक है इसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता। परमात्मा निराकार होने से सर्वव्यापक है और यदि व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर में न घट सकते क्योंकि परिमित वस्तु के गुण, कर्म, स्वभाव भी परिमित होते हैं।[2] इससे परमात्मा को साकार, एकदेशीय नहीं माना जा सकता। निराकार तथा सर्वव्यापक परमात्मा अति सूक्ष्म कारण प्रकृति से स्थूल जगत का निर्माण कर देता है। परमात्मा सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ का अर्थ है सब कुछ जानने वाला। परमात्माको जीव की अपेक्षा से त्रिकालज्ञ कहा जा सकता है अन्यथा परमात्मा में ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो पहिले न हो और बाद में होवे। उसका ज्ञान अखण्डएकरस और यथार्थ है। जीव का ज्ञान अल्प है। जीव को भूतकाल का विस्मरण हो जाता है, वह भविष्य को नहीं जानता, परन्तु परमात्मा में ऐसा नहीं है। वरन् परमात्मा जीव के स्वतन्त्रतापूर्वक किये गये कर्मों को सर्वज्ञता से जानता है।[3] यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है कि परमात्मा जीवात्मा के भविष्य को जानता है तब इसका अर्थ हुआ कि जीव का भविष्य निश्चित है। जीवात्मा के भविष्य के कर्म परमात्मा के ज्ञान में पहिले से ही हैं। इस प्रकार कर्म-स्वातन्त्र्य समाप्त हो जाता है। जीवात्मा की कर्म स्वतन्त्रता मानने पर ईश्वर द्वारा जीव के भविष्य के कर्मों को जानना नितान्त बुद्धि विरुद्ध है। परन्तु दयानन्द के दर्शन में यह आपत्ति नहीं उठती। वह कहते हैं कि जीव जिन-जिन कर्मों को करता है उनका वैसा ही ज्ञान परमात्मा को होता है। परमात्मा उनका यथावत् फल देता है। परन्तु जीवात्मा स्वतन्त्र रूप से कर्म करने में किंचित स्वतन्त्र भी होता है।

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २३८।

२ सत्यार्थप्रकाश पृ० १७७।

३. जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसे ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है।" वही, पृ० १९२

ईश्वर की सर्वज्ञता के विषय मे एक और प्रश्न दुधारू खडग के समान उठता है कि यदि परमात्मा सर्वज्ञ है तो अपना अन्त भी जानता होगा। यदि इसके उत्तर मे कहा जाए कि सर्वज्ञ सब कुछ जानने मे समर्थ हैं इससे जानता ही होगा। तब इसका अर्थ यह हुआ कि परमात्मा सान्त है अनन्त नही। और यदि कहे कि परमात्मा अनन्त होने से अपना अन्त नही जानता तब इससे उसकी सर्वज्ञता का बाध होता है। ऐसे स्थल पर दयानन्द एक चतुर तार्किक के समान उत्तर देते हैं कि अनन्त परमात्मा अपने को अनन्त ही जानता है।[1] इसमे विरोधी का प्रहार सर्वथा नष्ट हो जाता है।

डेमोक्रिट्स का कहना था कि ससार का कारण परमाणु है। लेकिन परमाणु जो जड है किस प्रकार क्रियाशील हुये ? इस प्रश्न को डेमोक्रिट्स छोड देते हैं। शायद इसलिए कि परमाणु मे गति की समस्या हल करने के लिये किसी प्रथम गतिदाता की आवश्यकता पडेगी। जैन दर्शन ईश्वर के निर्मातृत्व को डेमोक्रिट्स से भी अधिक प्रभावशाली ढग से अस्वीकार करता है। परमाणुवाद को मानने वाले विद्वान सृष्टि को बिना किसी उद्देश्य की बताते हैं। उनका विचार है कि वैज्ञानिक गवेषणा ससार को विना निर्माता के माने अच्छी प्रकार से हो सकती है।[2] परन्तु इन विद्वानो का यह समझना इनकी भूल है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस भूल का कारण शायद इन विद्वानो का यह डर है कि ईश्वर को मानने और सृष्टि मे उद्देश्य मानने पर भौतिक द्रव्य की मान्यता समाप्त हो जायेगी। क्योंकि कुछ ईश्वरवादी विद्वान् यह मानते हैं कि ईश्वर बिना द्रव्य के भी सृष्टि का निर्माण कर सकता है। स्वामी दयानन्द के दर्शन

---

१ "जब परमेश्वर अनन्त है तो अपने को अनन्त ही जानना ज्ञान, उसके विरुद्ध अज्ञान अर्थात् अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानना भ्रम कहलाता है।" वही, पृ० १८६

२ "But experience has shown that the mechanistic question leads to scientific knowledge, while the teleological question does not-" A History of Western Philosophy' by B, Russell, P 87, 1946

में यह आपत्ति नहीं उठ सकती क्योंकि वे ईश्वर के साथ-साथ प्रकृति को भी अनादि तत्त्व स्वीकार करते हैं। स्वामी जी जहा एक तरफ नवीन वेदान्तियों (शकराचार्य व उनके अनुयायियों को नवीन वेदान्ती कहते हैं) की आलोचना करते हैं कि प्रकृति के बिना ब्रह्म सृष्टि नहीं रच सकता, तो दूसरी तरफ वे जैनियों व भौतिकवादियो की आलोचना भी करते हैं कि बिना निर्माता के जड़ पदार्थ स्वयं सृष्टि उत्पन्न नहीं कर सकता। अत इस विस्तृत ब्रह्माण्ड की रचना करने वाली अवश्य ही कोई परम शक्तिशाली सत्ता होगी। इससे यही सिद्ध होता है कि ईश्वर मे सृष्टि कर्तृत्व स्वभाव से है।

ईश्वर ससार के समस्त पदार्थों से अति सूक्ष्म है, इसी से वह समस्त पदार्थों मे व्यापक है। वह जीवात्मा व प्रकृति इन सभी तत्त्वो मे व्यापक है। वह सर्व-व्यापक होने से सबसे बृहद है। दयानन्द कहते हैं कि सर्वव्यापक होने से ही वह सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सबका सृष्टा है। यदि एक देश मे होता तो उसमे यह गुण कदापि नही हो सकते थे।[1] द्वैतवाद के विरुद्ध बहुदा यह आपत्ति उठाई जाती है कि एक ही देश मे दो पदार्थ नही रह सकते, अतः परमात्मा के साथ कोई अन्य पदार्थ नहीं रह सकता अन्यथा परमात्मा सान्त हो जायेगा क्योंकि जहा पर दूसरा पदार्थ होगा वहा परमात्मा का अभाव होगा। स्वामी दयानन्द के मत मे ऐसी किसी आपत्ति को स्थान नहीं है। क्योंकि उनके मत में अति सूक्ष्म होने से ईश्वर हर पदार्थ मे उसी प्रकार ओत-प्रोत है जिस प्रकार गर्म लोहे मे अग्नि विद्यमान रहती है। इससे परमात्मा सीमित नहीं होता। ईश्वर ससार का निमित्त कारण है। वह अनादि प्रकृति मे अपनी विज्ञान शक्ति द्वारा अखिल ब्रह्माण्ड की रचना करता है। वह स्वय बिगडकर ससाररूप नहीं होता और नाही उनका कोई प्रतिबिम्ब माया जैसी अविद्यात्मक परन्तु अनिर्वचनीय शक्ति में पडता है। परमात्मा जीवो के भोग व अपवर्ग के निमित्त विशुद्ध दयाभाव से संसार का निर्माण करता है। सृष्टि-निर्माण में उसका अपना कोई प्रयोजन नहीं है। सृष्टि का कोई उद्देश्य है और वह है जीवात्मा का भोग व अपवर्ग। इस पर यदि कोई यह प्रश्न उठाये कि जब ईश्वर का सृष्टि में कोई प्रयोजन नही वह सृष्टि का निर्माण कर क्यो प्रपच मे पडता है? इस पर दया-

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० १७७।

नन्द का कहना है कि सृष्टि रचना करने मे परमात्मा किसी प्रपच और दुख मे नही गिरता,[1] क्योकि वह आप्तकाम है। दुख-सुख जीवो के कर्मानुसार हैं।

शकराचार्य जी ब्रह्म को सृष्टि का अभिन्निमित्तोपादान कारण कहते हैं लेकिन दयानन्द ब्रह्म (ईश्वर) को केवल निमित्त कारण मानते हैं। दयानन्द किसी भी प्रकार के ब्रह्म-अद्वैतवाद मे सन्तुष्ट नही है। क्योकि अद्वैतवाद की मूल त्रुटि, कि निर्विकारी ब्रह्म जगत क्यो हो गया, बनी रहती है। ईश्वर का सृष्टि निर्माण मे क्या प्रयोजन है? यह प्रश्न इन मतो मे बना रहता है। क्योकि यहा शका उठती है कि जब ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का अस्तित्व ही नही है फिर ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण अपने लिए ही किया होगा। कुछ बाद के वेदान्ती तथा रामानुज का कहना है कि ससार का निर्माण ईश्वर की लीला-मात्र है।[2] परन्तु प्रश्न यह है कि ईश्वर को निष्प्रयोजन लीला करने की क्या सूझी जो एक से अनेक हो गया? रामानुज के विशिष्टाद्वैत पक्ष मे यह त्रुटि है कि ईश्वर ने अपनी लीला के लिए ससार मे दुख-सुखो का जजाल क्यो फैलाया, क्या वह जीवात्माओ को दुखी-सुखी देखकर स्वय आनन्दित होता है? यह सब बातें ईश्वर के स्वरूप को बिगाड देती हैं। जिसके कारण ईश्वर मे रागादि का दोष लगता है। परन्तु स्वामी दयानन्द के मत मे ईश्वर को निमित्त कारण मानने पर ऐसा कोई दोष नही लगता।

ईश्वर निर्गुण व सगुण दोनो—ब्रह्मवादी ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं जिसका कोई गुण नही है, अर्थात् ये ब्रह्म मे किसी गुण का अध्यारोप नही करते। परन्तु इनके मत मे मायोपाधि से ब्रह्म ईश्वर अर्थात् निम्न ब्रह्म बन जाता है यह ब्रह्मवादियो का सगुण ब्रह्म है। यह हम पहिले ही कह आये हैं कि दयानन्द इस प्रकार की दो ब्रह्म की विचारधारा को स्वीकार नही करते। उनके विचार मे एक ही परम सत्ता निर्गुण व सगुण दोनो ही है। स्वामी दयानन्द का कहना है कि 'यद् गुणैस्सह वर्तमान तत्सगुणम्' 'गुणेभ्यो यन्निर्गत पृथग्भूत तन्निर्गुणम्' अर्थात् जो गुणों से सहित वह सगुण (है) और जो गुणो से रहित (है) वह निर्गुण कहाता है। अपने-अपने स्वाभाविक गुणो के

---

१ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४४३।

२. 'लोकवत्तुलीला कैवल्यम्'। वेदान्त सू० २-१-२३ पर रामानुज भाष्य

सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं। कोई भी ऐसा पदार्थ नही है कि जिसमे केवल निर्गुणता या केवल सगुणता हो किन्तु एक ही मे सगुणता और निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान, बलादि गुणो से सहित होने से सगुण और रूपादि जड के तथा द्वेषादि जीव के गुणो से पृथक् होने से निर्गुण है।"[1] जिस प्रकार का निर्गुण ब्रह्म श्री शकराचार्य जी हमारे सम्मुख रखते हैं उसका तो चिन्तन भी असम्भव है फिर उसकी उपासना कैसे की जा सकती है। एक सफल एव उचित तत्त्व-ज्ञान वही है जो जन साधारण की श्रद्धा व भक्ति के आश्रयरूप परमसत्ता को उन तक पहुँचाता है। स्वामी दयानन्द ब्रह्म को सगुण व निर्गुण दोनो बताते हैं। साधक ईश्वर की, उसके स्वाभाविक गुणो के आधार पर साधना कर सकता है परन्तु व्यर्थ के गुणो का, जो उसके स्वभाव के विपरीत हैं, ब्रह्म मे आरोप नही किया जा सकता, इससे ब्रह्म निर्गुण है।

प्राय विद्वान् सगुण के अर्थ साकार और निर्गुण के अर्थ निराकार से लेते हैं। उनकी यह मान्यता भ्रान्त है। निराकार तत्त्व सगुण हो सकता है जैसे आकाश जिसका गुण शब्द है। इसके अतिरिक्त निराकारत्व स्वय एक गुण है फिर उसे निर्गुण क्यो माना जाये। परमात्मा निराकार है और दयानन्द इसी एक निराकार परमात्मा की उपासना का विधान करते हैं।[2] श्री शकराचार्य के मत मे उपासना का विषय ईश्वर अर्थात् निम्न ब्रह्म है। रामानुजार्य विष्णु की उपासना पर बल देते हैं। रामानुज की कल्पना साकार परमात्मा की उपासना है। लेकिन दयानन्द सीधे केवल एकसत्य ब्रह्म की ही उपासना बताते हैं जिसका न तो कोई शकराचार्य के सगुण ब्रह्म की तरह निम्न रूप है और जो न रामानुज की तरह साकार रूप वाला है। निराकार ब्रह्म की कोई मूर्ति भी नहीं हो सकती। न तो वेदो मे और न उपनिषदो मे ही कही मूर्ति पूजा का निर्देश पाया जाता है। वेद स्पष्ट शब्दो मे परमात्मा की मूर्ति होने का खण्डन करता है कि उस परमात्मा की कोई प्रतिमा नही है।[3] इसी के आधार पर दयानन्द कहते हैं कि "जब परमात्मा निराकार है तब उसकी

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २०० ।
२ सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३२४ ।
३ 'न तस्य प्रतिमा अस्ति।' यजुर्वेद ३२।३

मूर्ति ही नही बन सकती।"[1] अत दयानन्द ईश्वर की उपासना मे मूर्तिपूजा का निषेध करते हैं।

दयानन्द कहते हैं कि परमात्मा सच्चिदानन्द है अर्थात् अस्तित्ववान् पदार्थों मे साधु होने से सत्य हैं, जो चेतन स्वरूप सब जीवो को चिताने और सत्यासत्य का जानने वाला होने से चित्त है एव जो स्वय आनन्दस्वरूप है तथा सर्वप्रकार के दुखादि क्लेशो से दूर है तथा जिसमे सब जीव मुक्ति मे आनन्द को प्राप्त होते हैं इससे ब्रह्म आनन्द है।[2]

दयानन्द परमात्मा को अद्वितीय मानते हैं। कुछ विद्वान् अद्वितीय का अर्थ अद्वैत से करते हैं। परन्तु दयानन्द त्रैतवादी हैं, उनके अनुसार परमात्मा इसलिये अद्वितीय है कि वह अनुपम है। न कोई उससे बडा है और न कोई बराबर। परमात्मा से न्यून जीव व प्रकृति की सत्ता ईश्वर के साथ-साथ अनादि है। इससे परमात्मा की सर्वव्यापकता का बाध नही होता, क्योकि ईश्वर अति सूक्ष्म होने से जीव व प्रकृति दोनो मे व्याप्त है।[3]

परमात्मा आनन्द का केन्द्र है "जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं आत्मस्थ होकर परमात्मा मे जिसने चित्त को लगाया है उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है वह वाणी से नही कहा जा सकता, क्योकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्त करण मे ग्रहण करता है।"[4] परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना व उपासना से जीव के अपने गुण, कर्म व स्वभाव सुधरते हैं। ईसाई आदि सम्प्रदायो मे यह विश्वास प्रचलित है कि ईश्वर अपने भक्तो के पाप क्षमा कर देता है परन्तु दयानन्द के मतानुसार परमात्मा अपने उपासको के अपराध व पापो को क्षमा नहीं करता।[5] इस पर प्रश्न यह उठता है कि फिर क्यो हम ईश्वर की उपासना करें ? इस पर

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३१८।
२. वही, पृ० १५।
३ इसी पुस्तक का पृ० ५३–५४ भी देखें।
४ सत्यार्थप्रकाश, पृ० १८४।
५. वही पृ० १९०।

दयानन्द का कहना है कि परमेश्वर की स्तुति से ईश्वर मे प्रीति, उसके गुण, कर्म स्वभाव से अपने गुण, कर्म, स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह तथा सहाय का मिलना एव उपासना से परब्रह्म से मेल और उसका साक्षात्कार"[1] होता है। परमात्मा का साक्षात्कार समाधि अवस्था में आत्मा से आत्मा मे किया जाता है। परमात्मा का इन्द्रियों से साक्षात्कार नहीं होता क्योंकि इन्द्रियें स्थूल पदार्थों के ज्ञान के लिये बनी हैं सूक्ष्म तत्त्व इनकी शक्ति के बाहर हैं। परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है फिर उसका इन्द्रियो द्वारा कैसे साक्षात् किया जा सकता है।

ईश्वर अवतार धारण नहीं करता — हिन्दू धर्म मे प्रचलित विश्वास है कि जब ससार में पाप व व कष्ट अधिक मात्रा मे हो जाते हैं तब उनके निवारण के लिये परमात्मा स्वय अवतार धारण कर पृथ्वी पर अवतरित होता है। अवतारवाद की यह कल्पना बडी प्रिय लगती है कि परमात्मा भी मनुष्य शरीर धारण कर मनुष्य जाति के मध्य आता है। इस्लाम धर्म मे पृथ्वी पर से कुफ्र दूर करने के लिये ईश्वर अपने पैगम्बर भेजता है तथा ईसाई लोग मानते हैं कि परमात्मा का पुत्र मानव जाति के दुखो से द्रवित होकर पश्चिमी एशिया के रेगिस्तान मे आया। स्वामी दयानन्द का दर्शन बौद्धिक है अत उसमे किसी असगत कल्पना को स्थान नहीं है। अवतारवाद के विरुद्ध उनका प्रश्न है कि परमात्मा को अवतार धारण करने की क्या आवश्यकता है? क्या सर्वशक्तिमान् परमात्मा अपनी इच्छामात्र से दुष्टो का नाश नही कर सकता? दयानन्द कहते हैं कि प्रथम तो परमात्मा के अवतार धारण करने की कोई आवश्यकता नही क्योंकि जो परमात्मा बिना शरीर धारण किये इस विशाल सृष्टि का निर्माण करता है वह अपनी किंचितमात्र शक्ति से दुष्टो का नाश कर सकता है।[2] दूसरे अनन्त, निराकार सर्वव्यापक व सर्वज्ञ परमात्मा एक स्त्री के गर्भ में कैसे आ सकता है? क्या वह पहिले से वहा नहीं था जो उसका गर्भ मे आना माना जाये? परमात्मा सब प्रकार नस-नाडियो (शरीर) के बन्धन से दूर है फिर वह शरीर

---

१ वही, पृ० १८०।

२ वही, पृ० १८६।

कैसे धारण कर सकता है।[1] अतः दयानन्द के अनुसार ईश्वर अवतार धारण नहीं करता। इसके अलावा दयानन्द इस्लाम की इस मान्यता को भी नही मानते कि ईश्वर अपना कोई पैगम्बर भेजता है। उनके अनुसार ईश्वर का कोई पैगम्बर नही है। ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ मे वेदो का ज्ञान मनुष्यमात्र के लिये चार ऋषियो के अन्त करण मे दिया तथा जो भी व्यक्ति अधर्म छोडकर धर्म के मार्ग पर चलता है, जो समस्त प्राणीमात्र के कल्याण मे सदैव रत रहता है, वही सत्पुरुष परमात्मा का पृथ्वी पर प्रतिनिधि है तथा हर वह व्यक्ति जो परमात्मा की आज्ञाओ का पालन व सदाचार पर चलकर अपने को परमात्मा के शुभ गुणो के अनुसार बनाने की चेष्टा करता है, परमात्मा का सच्चा पुत्र है। दयानन्द किसी व्यक्ति विशेष को परमात्मा का पुत्र नही मानते। उनके अनुसार सारे मानव ईश्वर के पुत्र हैं।

जैन मत की आलोचना—जैन दर्शन ने किसी सृष्टि रचयिता ईश्वर के अस्तित्व को नही माना किन्तु तीर्थाकरो को ही ईश्वर की पदवी दी है। मुक्तावस्था मे तीर्थाकर ही परमात्मा का स्थान ग्रहण करते हैं।[2] इस मत के विरुद्ध दयानन्द का तर्क है कि प्रथम "जो रागादि दोपो से सहित होकर पश्चात् दोषरहित होता है वह ईश्वर कभी नही हो सकता, क्योंकि जिस निमित्त से वह रागादि से मुक्त होता है, वह मुक्ति उस निमित्त के छूटने से उसका कार्य मुक्ति भी अनित्य होगी। जो अल्प और अल्पज्ञ है वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ कभी नही हो सकता क्योकि जीव का स्वरूप एकदेशीय और परिमित गुण, कर्म, स्वभाव वाला होता है, वह सब विद्याओ मे सब प्रकार यथार्थ वक्ता नही हो सकता इसलिये तुम्हारे तीर्थाकर परमेश्वर कभी नही हो सकते।"[3] सीमित शक्ति

---

१. 'स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' । यजुर्वेद, ४०—८।

२ सर्वज्ञो वीतरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजित.।
यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः' ॥
चन्द्रसूरि के आप्तनिश्चयालकार से स० प्रकाश पृ० ४३८ पर उद्धृत

३. स० प्रकाश, पृ० ४३८-४३९

वाला पुरुष अपनी शक्ति को एक सीमा तक ही बढा सकता है, वह अनन्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व, स्वभाव, स्वरूप व कर्त्तव्य पर जो आपत्तिया प्राय उठाई जाती हैं उनका निराकरण स्वामी दयानन्द के दर्शन मे बौद्धिक रूप मे मिलता है।

एकेश्वरवाद व बहुदेवतावाद

ईश्वर एक है या अनेक ? इस प्रश्न पर प्राय सभी विद्वानो ने अपने-अपने ढग से विचार किया है। प्राचीन काल मे भी जबकि बहु-ईश्वरवाद की कल्पना का अधिक प्रचार था, एकेश्वरवादी विचारको का भी अभाव न था। बहु-ईश्वर-वाद के अनुसार ईश्वर, जो कि सृष्टि का निर्माता व नियामक है, के अतिरिक्त अन्य अनेक देवी देवता भी हैं जो कि उपास्य हैं। बहु-ईश्वरवाद का एक रूप, भूत-प्रेत आदि एव सृष्टि के पृथक्-पृथक् पदार्थों मे पृथक्-पृथक् देवता की कल्पना करना भी है। इनमे वृक्ष, पर्वत, नदी एव मेघादि भी आ आते हैं। मृतात्मा की उपासना भी इसी का रूप माना जा सकता है। दूसरी तरफ एकेश्वरवाद में ईश्वर ही एक शक्ति है जो ससार का निर्माता है तथा हमारी उपासना का केन्द्र है। इसके अतिरिक्त सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थ यथा वायु, अग्नि, मेघ, वृक्षादि, कोई भी देवता उपासनीय नही है। वरन् ये सब प्रकृति के विकार मात्र हैं ये कोई चेतन शक्तिया नही है जो मनुष्यो पर शासन करती हो वरन् परमात्मा की शक्ति व प्रेरणा से प्रकृति के विभिन्न कार्य मात्र हैं। अत इनमे से कोई भी उपास्य नहीं हैं।

स्वामी दयानन्द एकेश्वरवादी थे। बहु-ईश्वरवाद उनको छू तक नही गया था। स्वामी जी कहते हैं "जिससे यह विविध सृष्टि प्रकाशित हुई है, जो (इसका) धारण और प्रलय करता है जो इस जगत् का स्वामी जिस व्यापक मे यह सब जगत् उत्पत्ति स्थिति प्रलय को प्राप्त होता है सो परमात्मा है उसको तू जान और दूसरे को सृष्टिकर्त्ता मत मान।"[1] स्वामी दयानन्द इसी एक परमात्मा की उपासना का विधान करते हैं कि जिसने पृथिवी से लेके सूर्यपर्यन्त जगत् को

१ सत्यार्थ प्रकाश पृष्ठ २०८।

उत्पन्न किया है उस परमात्मा की प्रेम से भक्ति किया करो।"[1] यही नही बल्कि वे अन्य देवी-देवताओ की उपासना का श्रुतियो इत्यादि मे भी स्पष्ट निषेध करते हैं "कि देवता दिव्य गुणो से युक्त होने के कारण कहाते है जैसा कि पृथिवी, परन्तु इसको कही ईश्वर या उपासनीय नही माना है।"[2]

जिस समय स्वामी दयानन्द भारत मे अपना प्रचार कर रहे थे तब हिन्दु धर्म मे वहुदेवतावाद प्रचलित था। परन्तु स्वामी दयानन्द ने अपना यह स्पष्ट मत स्थापित किया था कि परमात्मा एक है चाहे उसे ब्रह्म कहे या ईश्वर, इसके अतिरिक्त किसी अन्य की उपासना सर्वथा अनुचित है। जैसा कि स्वामी जी वेदो को निर्भ्रान्त ज्ञान मानते थे और जो समस्त हिन्दु जाति को भी मान्य हैं आपने वेदो के उद्धरणो से यह सिद्ध करने की सफल चेष्टा की कि ईश्वर एक ही है। स्वामी जी से कुछ ही समय पूर्व राजा राममोहन राय ने भी हिन्दुधर्म मे एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया था। (वेदो मे एकेश्वरवाद के लिये इसी पुस्तक के पृष्ठ १३ पर "वहुदेवतावाद-हीनोथीयीज्म व एकेश्वरवाद" को देखिये।)

पौराणिक साहित्य अनेक देवताओ की मान्यताओ से भरा पडा है और उनमे से प्राय सव ही ईश्वर के समकक्ष है। यह देव सृष्टि मे अपना सीधा प्रभाव रखते हैं तथा अपनी उपासना से प्रसन्न होकर अपने भक्तो के लिये सब कुछ करने के लिये तैयार रहते हैं। इन कल्पनाओ के अनुसार ही हिन्दु समाज मे विभिन्न मत व सम्प्रदाय हुए हैं इन देवताओ मे प्रत्येक महानतम् है। वैष्णव विष्णु को ही महानतम् देव मानते हैं जवकि शाक्त शिव के ही उपासक हैं। यही नही वरन् कभी-कभी तो दो भिन्न सम्प्रदाय आपस में एक दूसरे पर कटु प्रहार करने से भी नही चूकते। हमारा यह विचार है कि मैक्समूलर वैदिक देवतावाद के स्थान पर यदि पौराणिक देवतावाद के लिये हीनोथीयिज्म का प्रयोग करते तो अधिक अच्छा होता। वेदो मे तो हीनोथीयिज्म है ही नहीं, हा पुराणो मे अवश्य पाया जाता है।

---

१ वही, पृ० २०८

२ वही, पृ० १७४

स्वामी दयानन्द ने पुराणों में वर्णित देवतावाद को एकदम बुद्धि विरुद्ध व वैदिक धर्म के विपरीत बताया है। उनके लिए तो वेद ही प्रामाणिक है। इसीलिए उन्होंने वेदों में एकेश्वरवाद का स्थापन कर पश्चिमी व भारतीय कर्म-काण्डात्मक व प्रकृत्यात्मक दोनों प्रकार के वेदभाष्यों को ठुकरा दिया।[1]

स्वामी दयानन्द का कथन है कि 'देव' शब्द को ईश्वर के अर्थों में प्रयोग नहीं करना चाहिये।[2] वरन् हमें देव शब्द के अर्थ निरुक्त के अनुसार करने चाहिये।[3] देव शब्द के नैरुक्तिक प्रणाली से अर्थ करने से हर कल्याणकारी वस्तु चाहे वह पार्थिव हो या चेतन, देव कही जा सकती है लेकिन इनकी उपासना का विधान कहीं भी नहीं है और इस रूप में स्वामी दयानन्द अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं।

स्वामी दयानन्द की एकेश्वरवादी विचारधारा को उपनिषदों से पर्याप्त बल मिलता है। उपनिषदें केवल ब्रह्म को ही सृष्टि का अध्यक्ष मानती हैं और साथ ही घोषणा भी करती हैं "जिसे मन नहीं देख सकता परन्तु जिसकी शक्ति से मन देखता है वही वह है, उसी को ब्रह्म जानना चाहिये न कि वह जो यह कहकर पूजा जाता है।"[4] ब्रह्म को छोड़कर पार्थिव देवों की उपासना करने वालों को शतपथ ब्राह्मण पशु के समान कहता है।[5]

श्री जोसेफ रायस ने "धर्म व नीतिशास्त्र के महाकोष" में एकेश्वरवाद पर लिखे अपने लेख में मायावाद की विचारधारा को ही हिन्दु एकेश्वरवाद में लिखा है, जिसको वे भारतीय एकेश्वरवाद मानते हैं। मायावाद के अनुसार केवल ब्रह्म सत्य और सब मिथ्या है। यद्यपि विद्वान लेखक इस मत को असृष्टिवाद (acos-

---

१. Xenophanes ने भी ग्रीक गाथाशास्त्र के विरुद्ध एकेश्वरवाद की विचारधारा हमारे सामने रखी है।
(See 'A History of Philosophy', P. 36, Frank Thilly), (1955).

२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १७४।

३ निरुक्त, ७–१५

४ केनोपनिषद् ख० १ म० ५

५. शतपथ ब्राह्मण, कां० १४ अ० ४

mism) मानते हैं, परन्तु क्योकि इस विचारधारा का प्रभाव यूरोप मे स्पीनोजा पर पडा तथा ग्रीक दर्शन मे यही नवीन प्लेटोनिज्म के रूप मे आया, इसलिए शकर के मायावाद को समस्त वैदिक दर्शनो का वास्तविक प्रतिनिधि मानकर लेखक ने इसे हिन्दु-एकेश्वरवाद मे रखा है।[1] लेखक का यह विचार सही नही है क्योकि न्याय व वैशेषिक एव योग यह तीनो एकेश्वरवादी हैं लेकिन इनमे मायावाद की गन्ध भी नही है। प्रतीत होता है कि विद्वान लेखक ने इन्हे समझने की चेष्टा नही की। फिर इसके अतिरिक्त उपनिषदो मे शकर का मत मिलता भी है या नही यह विषय स्वय अत्यन्त विवादास्पद है इसलिए हम पूछते हैं कि समस्त हिन्दु-एकेश्वरवाद को क्योकर मायावाद के ढाचे मे ढाला जा सकता है। इस विषय मे विद्वान लेखक ने भूल की है।

एकेश्वरवाद व सर्वेश्वरवाद—इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान एकेश्वरवाद व सर्वेश्वरवाद (Pantheism) को एक मानते है परन्तु एकेश्वरवाद व सर्वेश्वरवाद को एक मानना कभी भी युक्तिसगत नही हो सकता। कोई मत एकेश्वरवादी हो सकता है लेकिन सर्वेश्वरवादी नही। जैसे न्याय-वैशेषिक एव योग को ही लीजिए ये तीनो दर्शन एकेश्वरवादी है लेकिन ईश्वर के अतिरिक्त पुरुष व प्रकृति को भी नित्य मानते हैं इसलिए ये सर्वेश्वरवादी नही हैं। स्वामी दयानन्द ईश्वर के अतिरिक्त जीव व प्रकृति को भी नित्य पदार्थ मानते है परन्तु एक ईश्वर के अतिरिक्त किसी दूसरे ईश्वर या अन्य पार्थिक शक्ति व सृष्टि के विभिन्न विभागो के अध्यक्षो के रूप मे दिव्य शक्तिसपन्न देवताओ को नही मानते। वे ग्रीक व पौराणिक गाथाशास्त्र के ऐसे देवताओ को भी नही स्वीकार करते जो शरीरधारी

---

1 Encyclopedia of Religion and Ethics.
"In fact at the close of history of Great Philosophy this third form of monotheism appeared as a part of the Neo-Platonic Philosophy" Page–819. (Monotheism)
"The name 'acosmism' therefore is more suggestive for it than the name Pantheism" (Ibid)

हैं लेकिन मनुष्यो से दिव्य हैं, आकाश आदि लोको मे रहते हैं तथा जो आपस मे स्त्रियो के लिए मनुष्यो के समान युद्ध करते हैं। (ग्रीक गाथाशास्त्र)। स्वामी दयानन्द के धर्म व दर्शन मे ऐसी कोई वेतुकी कल्पना नहीं है। एक सर्वशक्तिमान ब्रह्म को मानने पर भी सृष्टि के सचालन मे देवो की आवश्यकता है यह बात दर्शन-बुद्धि के सर्वथा विपरीत है। सर्वव्यापक एव सर्वशक्तिमान ईश्वर सृष्टि का सचालन करने में स्वय समर्थ है उसे किसी अन्य से सहायता की कोई आवश्यकता नहीं। यही सर्वशक्तिमान का सही अर्थ है।[1] इस सबध में दयानन्द की विचारधारा एकदम दार्शनिक है। लेकिन शकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म के समान शुष्क नही और न ही स्पीनोजा की परम सत्ता (Absolute) के समान अव्यावहारिक ही है। इसमे एक तरफ जहा दर्शन की गहराई है वहा दूसरी तरफ यथार्थवादित है। शंकर का निर्गुण ब्रह्म हमारी उपासना का प्रतीक कैसे बन सकता है। परन्तु दयानन्द का ब्रह्म उपास्य है सब दिव्य गुणो से सम्पन्न है।

शकर व रामानुज मतो पर विचार

शांकर मत की आलोचना—आचार्य शकर ब्रह्म को सत्तामात्र निर्गुण तत्त्व मानते हैं। इनके मतानुसार ब्रह्म मे गुणो को नही माना जा सकता क्योकि गुणो के आरोप करने का तात्पर्य है सम्बन्ध करना, परन्तु ब्रह्म का किससे सम्बन्ध हो? विशुद्ध ब्रह्म सम्बन्धरहित निर्गुण तत्त्व है। ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा जाता हैं। जब हम कहते हैं ब्रह्म सत् है इसका तात्पर्य है कि यह असत् नहीं, जब चित्त कहा जाता है तब इसका अर्थ है अचित् नहीं, और जब आनन्द कहा जाता है तब इसका अर्थ है कि ब्रह्म दुख से परे है। परन्तु सच्चिदानन्द भी ब्रह्म का वर्णन पूरी तरह नही करता। वास्तव में ब्रह्म का वर्णन नहीं किया जा सकता। यह सबका आधार है, परन्तु द्रव्य नहीं, यह देशकालातीत है फिर भी हर देश व काल मे है, यह किसी का कारण नही, इसका किसी से सम्बन्ध नही, यह वाणी से बतलाया नहीं जा सकता, क्योकि अनन्त है, इसका

१ 'ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवो के पुण्य-पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किञ्चित् भी सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य मे ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है। सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १९६

कोई रूप नही क्योकि निराकार है। आचार्य शकर ने ब्रह्म का वर्णन नेति-नेति कहकर किया है परन्तु इसका अर्थ नकार रूप मे नही वल्कि इससे अचिन्त्य अनिर्वचनीय केवलमात्र सता की ओर निर्देश है।

यदि ब्रह्म को ही केवल सत्ता माना जाय तव यह ससार क्या है? आचार्य कहते है सीपी मे चादी के समान ब्रह्म मे आरोपित है। विशुद्ध ब्रह्म का माया मे प्रतिबिम्ब ईश्वर है। ईश्वर ही इस जगत् का अभिन्निमित्तोपादान कारण है, ससार का नियामक है, कर्मफल प्रदाता है तथा नामरूपात्मक जगत् का निर्माता है। शकर का ईश्वर सगुण है जवकि ब्रह्म निर्गुण। जीव अविद्या से ब्रह्म मे आरोपित चैतन्य तत्त्व है जो मायामय ससार मे शरीर धारण करता है। शाकर मत मे प्रकृति की कोई सत्ता नही है वल्कि यह अविद्या से जीव द्वारा ब्रह्म मे आरोपित है। यद्यपि ब्रह्म इसका आधार है तथापि यह ब्रह्म से पृथक है इसी से शकर ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण कहते है। सक्षेप मे आचार्य शंकर ब्रह्म को निर्गुण व निष्क्रिय मानते है और ब्रह्म के दो रूप विशुद्ध व शवल ब्रह्म के रूप मे वताते हे। ससार अध्यास है एव जीव अविद्या से है।

स्वामी दयानन्द अद्वैतवाद की इस उत्कृष्टतम विचारधारा को सही नही मानते। उनके अनुसार न तो वेद और न उपनिषदें ही अद्वैतवाद की पोषक है। उपनिपदो मे ब्रह्म के लिये अद्वितीय शब्द आया है इसका अर्थ है जिसके वरावर व अधिक नही। दयानन्द का कथन है उपनिषदें जव ब्रह्म को "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६-२-१) कहती है तव उसका तात्पर्य है ब्रह्म अद्वितीय है ब्रह्म के समान तथा अधिक कोई सत्ता नही है। इससे जीव व प्रकृति का अभाव या निषेध नही होता। इसका अर्थ केवल यह है कि ब्रह्म सर्वोच्च, सर्वशक्तिमान है जिसके न कोई बरावर है और न अधिक। इस पद मे यह कहा कहा गया है कि ब्रह्म से न्यून सत्ता नही है।[1] यमुनाचार्य भी शकराचार्य के अद्वैतवाद का औपनिषदिक स्तर पर इसी प्रकार खण्डन करते हैं।[2] ब्रह्म पूर्ण-

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० १९८

2 A History of Indian Philosophy, V III P 153, S N Dass Gnpta —1940

तथा निर्गुण भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म का तो विचारमात्र भी सम्भव नहीं। इस प्रकार परमात्मा की उपासना एकदम असम्भव हो जाएगी। किसी भी तत्त्व का चिन्तन करना या मनन करना उसके गुणों की ओर संकेत करता है। महर्षि दयानन्द कहते हैं कि ब्रह्म सगुण व निर्गुण दोनों हैं जैसे जड के रूपादि गुण हैं और चेतन के ज्ञानादि गुण जड में नहीं है और जैसे चेतन में इच्छादि गुण हैं और रूपादि जड के गुण (चेतन में) नहीं हैं, इसमें 'यद् गुणैस्सह वर्त्तमान तत्सगुणम्' 'गुणेभ्यो यन्निर्गतं पृथक् भूतं तन्निर्गुणम्' जो गुणों से सहित वह सगुण और जो गुणों से रहित वह निर्गुण कहाता है अपने-अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और दूसरे विरोधी के गुणों से रहित होने से सब पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है "जिसमे केवल निर्गुणता या केवल सगुणता हो किन्तु एक ही में सगुणता व निर्गुणता सदा रहती है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त ज्ञान, बलादि गुणों से सहित होने से सगुण और रूपादि जड के तथा द्वेषादि जीव के गुणों के पृथक् होने से निर्गुण कहाता है।"[1] यदि ब्रह्म को नितान्त गुणरहित माना जाय तब उसके विषय में विचारों का उद्गार भी सम्भव नहीं हो सकता और फिर ऐसा ब्रह्म किस प्रकार हमारी उपासना का लक्ष्य हो सकता है?

स्वामी दयानन्द आचार्य शंकर की दो ब्रह्म की विचारधारा को भी स्वीकार नहीं करते। वह कहते हैं कि ईश्वर ब्रह्म ही का नाम है। जो मायावादी यह कहे कि मायोपाधि से ईश्वर सिद्ध होता है तब दयानन्द आपत्ति उठाते हैं कि माया किसको उपाधिसहित करती है? क्या ब्रह्म को? यदि हाँ, तब ब्रह्म माया के प्रभाव में आया कहा जायेगा वह भी अनादि काल से क्योंकि माया भी अनादि है और ब्रह्म भी अनादि। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ब्रह्म अनादि काल से माया के प्रभाव में है। अद्वैत वेदान्ती छः पदार्थों को नित्य मानते हैं (१) जीव (२) ईश्वर (३) ब्रह्म (४) जीव और ईश्वर भेद (५) अविद्या अज्ञान (६) अविद्या और चेतन का योग।[2] इस पर दयानन्द कहते हैं 'अविद्या के योग

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २००

२ जीवेशौ च विशुद्धा चिद्विभेदस्तु तयोर्द्वयो।
अविद्या तच्चितोर्योग. षडस्माकमनादय ॥
(यह श्लोक अच्युत ग्रंथमाला काशी से प्रकाशित 'सिद्धान्त लेश सग्रह' पृ० ६२ पर दिया है)

के बिना जीव और माया के योग के बना ईश्वर तुम्हारे मत मे सिद्ध नही हो सकता। इससे 'तच्चितोर्योग' जो छठा पदार्थ तुमने गिना है वह नही रहा, क्योकि वह अविद्या-माया जीव ईश्वर मे चरितार्थ हो गया और ब्रह्म तथा माया और अविद्या के योग के बिना ईश्वर नही बनता फिर ईश्वर को अविद्या (माया) और ब्रह्म से पृथक गिनना व्यर्थ है। इसलिये दो ही पदार्थ अर्थात् ब्रह्म और अविद्या तुम्हारे मत मे सिद्ध होते है छ नही।"[1] आगे स्वामी दयानन्द कहते है कि कारणोपाधिसहित ईश्वर व कार्योपाधिसहित जीव को ब्रह्म से मानना ठीक नही क्योकि इसे मानने से पूर्व ब्रह्म के अनन्त, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव का बाध हो जायेगा और फिर सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ ब्रह्म मे अज्ञान मानना पडेगा। इसे वेदान्तियो ने माया कह कर टालने की चेष्टा की है। परन्तु यह माया क्या है और किसके आश्रय से रहती है? इत्यादि प्रश्न अन्य विद्वानो की तरह दयानन्द भी उठाते है। नवीन वेदान्ती इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नही दे सकते, सिवाय इसके कि वे माया को सत् और असत् एव अनिर्वचनीय कहकर टाल दें अर्थात् वे माया का कोई सन्तोषजनक उत्तर न दे सके। शकर मत मे माया अज्ञान-अविद्या के अतिरिक्त कुछ भी नही है। तब माया को ब्रह्म मे या ब्रह्म की शक्ति मानना पडेगा, जैसा कि शकरवादियो ने माना भी है। इससे ब्रह्म के शुद्धत्व व निर्गुणत्व का बाध होता है। कुछ वेदान्ती माया को त्रिगुणात्मक प्रकृति मानते है। ऐसी अवस्था मे ब्रह्माद्वैत कैसे सुरक्षित बच सकता, यह समझ मे नही आता। माया को त्रिगुणात्मक प्रकृति मानकर ब्रह्म व प्रकृति इन दो पदार्थो को अनादि मानना ही पडेगा और इस प्रकार शकर मत की नीव हिल जायेगी।

ससार, ससार की रचना, जीव व कर्म, एव कर्मफल इन जटिल समस्याओ के कारण ही सम्भवत शकराचार्य जी को पारमार्थिक व व्यावहारिक इन दो स्तरो को स्वीकार करना पडा। बिना व्यावहारिक स्तर को माने, प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाने वाले ससार व ससार के व्यापार का सन्तोषजनक हल नही किया जा सकता। लेकिन इनके मत मे पारमार्थिक स्तर पर वास्तव मे ब्रह्म के अतिरिक्त

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६६

कुछ भी नही है। माण्डूक्यकारिकाओ के विद्वान् लेखक एवं शकर के दादागुरु श्री गौड़पाद ससार व संसार की तुच्छता को बतलाते हुए कहते हैं कि 'न संसार की उत्पत्ति है, न निरोध, न कोई बद्ध हैं और न ही कोई मुक्तात्मा ही है।'[१] साधारण बुद्धि को शान्त करने के लिये ही शंकराचार्य पारमार्थिक व व्यावहारिक स्तरो की बात करते हैं। उपासना का केन्द्र यही व्यवहार का ईश्वर है जो सगुण है तथा ससार का निर्माता है। परन्तु जयतीर्थ स्वामी दयानन्द की तरह स्पष्ट कहता है कि "ब्रह्म के दो रूप अप्रमाणिक होने से असिद्ध, हैं।"[२] ब्रह्म-द्वयवाद हमे उपनिषद् व षड्दर्शनो मे कही भी नहीं मिलता। उपनिषदें भी स्पष्ट कहती हैं 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् ब्रह्म दो नहीं हैं (छा१ ६–२–१)। मैक्समूलर भी कहते हैं कि उपनिषद् साहित्य मे दो ब्रह्म का सिद्धान्त कही भी नही मिलता।[३]

शाकर मत मे अविद्योपाधि से ब्रह्म जीव होता है। अविद्या में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव है। इस पर स्वामी दयानन्द कहते हैं "प्रतिबिम्ब साकार का साकार मे होता है। जैसे मुख और दर्पण आकार वाले हैं और पृथक् भी हैं। जो पृथक् न हो तो भी प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता।"[४] जो कहो कि अन्तकरणोपाधि से जीव होता है तो स्वामी दयानद कहते हैं कि अन्त करण मे प्रकाशित होने वाले ब्रह्म के सर्वज्ञता आदि गुण होने चाहियें, लेकिन जीव अल्पज्ञ होता है इससे यह प्रतीत होता है कि ब्रह्म अविद्यावश अज्ञानी हो जीव हुआ। इससे ब्रह्म की सर्वज्ञता का बाध हो जाता है।" स्वामी दयानन्द की इन युक्तियो मे बल है। अद्वैतवाद के आधार पर एक व अनेक का जटिल प्रश्न सुलझाया नही जा सकता। इस मत मे माया एक पहेली है जिसका कोई हल नही, ससार की सत्ता होने पर भी यह भ्रममात्र है और जीवात्मा अज्ञानी ब्रह्म है जो प्रपचात्मक जगत् मे प्रपचमात्र है।

---

१ गौड़पादीय माण्डूक्य कारिका, २-३२ पर शकरभाष्य देखिये।

२ देखो जयतीर्थ की 'न्याय सुधा', पृ० १२४।

३ The Vedanta Phil, P 72, Max Muller, 2nd Reprint Cal-1955.

४ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३८।

रामानुज की आलोचना—आचार्य रामानुज श्री शकराचार्य के भ्रमवादी अद्वैतवाद के विरुद्ध विशिष्टाद्वैतवाद की विचारधारा प्रस्तुत करते हैं। विशिष्टाद्वैतवाद मे ब्रह्म, जीव व प्रकृति का सम्बन्ध शरीरी-शरीर का है। जैसे शरीर और शरीर मे रहने वाला आत्मा यह दोनो मिलकर एक ही कहलाते हैं, तथापि पृथक् हैं। जीव विशेषण के रूप मे ब्रह्म का ही एक अश है। यद्यपि जीवात्मा के गुण ईश्वर से पृथक् है एवं जीव व ईश्वर दोनो नित्य हैं तथापि जीवात्मा ईश्वर से पृथक् नही रह सकता तथा प्रकृति ईश्वर के शरीर के समान है रामानुज के विशिष्टाद्वैत मे ईश्वर, जीव, प्रकृति, तीनो अनादि सत्ताए है परन्तु जीव और प्रकृति ईश्वर के शरीररूप मे हैं पृथक् नही। रामानुजाचार्य का शरीर-शरीरी सम्बन्ध से विशिष्टाद्वैत का सिद्धान्त उपनिषदो मे सम्भवत वृहदारण्यकोपनिषद् की उस श्रुति पर आधारित है जिसमे कहा गया है कि 'आत्मा के अन्दर रहने वाला जिसे आत्मा नही जानता तथा आत्मा जिसका शरीर है, वह ब्रह्म है।'[1] दयानन्द के मत मे इस मत्र मे आत्मा को ब्रह्म का शरीरवत् केवल उपमा के रूप मे कहा है। ससार के समस्त पदार्थों से आत्मा अति सूक्ष्म और ब्रह्म उससे भी सूक्ष्म होने से आत्मा में भी व्यापक है जिसको जीवात्मा नही जानता। परन्तु यह आत्मा से भिन्न है और जीवात्मा का ब्रह्म से किसी भी प्रकार का अद्वैत सबध नही है। स्वामी दयानन्द ने रामानुज के मत पर अधिक कुछ नही कहा, लेकिन रामानुज के समान इस प्रकार के स्वगत भेद को ब्रह्म मे मानना स्वामी दयानन्द को उपयुक्त नही लगता। वे सत्यार्थ प्रकाश मे कहते हैं "रामानुज का इस अश मे, कि जो विशिष्टाद्वैत जीव और मायासहित परमेश्वर एक है यह तीन का मानना और अद्वैत का कहना सर्वथा व्यर्थ है।"[2] रामानुज ने शकर के ब्रह्माद्वैतवाद के विरुद्ध विशिष्टाद्वैत स्थापित किया जिसमे ब्रह्म, जीव व प्रकृति नित्य पदार्थ माने हैं परन्तु फिर भी वे अद्वैत का लालच न छोड सके और जीव व प्रकृति सहित ब्रह्म का अद्वैत बताकर विशिष्टाद्वैत की

---

१ 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरम्'।
वृ० उ०, ३-७-२२ (माध्यन्दिनीय शतपथ ब्राह्मण से)

२ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ३१६।

स्थापना की। परन्तु दयानन्द रामानुजाचार्य से भी आगे आकर साहसपूर्वक ईश्वर, जीव व प्रकृति तीनों को नित्य मानते हैं परन्तु रामानुजाचार्य की तरह अंश-अंशी भाव से नहीं, वरन् स्थिति में स्वतन्त्र भाव से। दयानन्द के दर्शन में ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, नियामक है, निर्माता है, कर्मफल प्रदाता है जबकि जीव अल्पज्ञ है, स्वतन्त्र कर्त्ता है तथा कर्मफल का भोक्ता है तथा प्रकृति सत् है, जड है तथा भोग्या है। तीनों का अनादि होने से दयानन्द का यह मत भारतीय दर्शन में त्रैतवाद के नाम से जाना जाता है।

———



जीवात्मा

(SOUL)



आत्मा की सिद्धि में प्रमाण

स्वामी दयानन्द अन्य वैदिक दर्शनकारो की तरह ही जीवात्मा को नित्य एव चेतन पदार्थ मानते हैं। शरीर के अतिरिक्त कोई चेतन सत्ता है या नही, यह प्रश्न उनके दर्शन मे कोई अधिक महत्व का प्रतीत नही होता। वेद उनके लिये प्रामाणिक ग्रन्थ हैं और वेदो मे यत्र-तत्र शरीर स्थित चेतन तत्त्व का वर्णन जीव एव आत्मा के रूप मे पाया जाता है।[1] यही नही, वरन् उपनिषद् और दर्शन साहित्य मे आत्मा की सिद्धि के विषय मे काफी कुछ कहा जा चुका है। स्वामी जी ने उन सबको फिर मे अपने ग्रथो मे लिखना उचित नही समझा प्रतीत होता। उपनिषदो मे इन्द्र व विरोचन की कथा मे गुरु-शिष्य परिसम्वाद मे आत्मा की सिद्धि मे व्यावहारिक एव बौद्धिक प्रमाण दिये गये हैं।[2] स्वामी दयानन्द ने इन्हे ज्यो का त्यो मान लिया प्रतीत होता है। इस पर भी जहा कही आवश्यकता समझी आत्म तत्त्व को नित्य न मानने वाले सम्प्रदायो के विरुद्ध अपनी पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश मे युक्ति और प्रमाणो द्वारा चेतन एव स्थायी जीवात्मा के अस्तित्व को आवश्यक बताया है।

भौतिकवाद की आलोचना—शरीर मे स्थित ज्ञान व क्रिया के कर्त्ता के रूप मे कोई स्थायी सत्ता है या नही ? इस विषय पर जितने भी मत हैं या हो सकते हैं। इनमे अधिभौतिकवादियो (जो भारतवर्ष मे चारवाक सम्प्रदाय के

---

1. 'इय कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।' अथर्व० १०-८-२६
2. छा० उ०, अ० ८ख० ७ से १२।

नाम से प्रसिद्ध हैं) के कथनानुसार शरीर स्थित चेतन शक्ति प्रकृति के भौतिक पदार्थों के संघातरूप में उत्पन्न हुई। जैसे मद के खाने व पीने से मादकता उत्पन्न होती है इसी प्रकार जीव शरीर के साथ ही उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है।'[1] इसमें किसी स्थायी आत्मा के लिये, जो नित्य एवं शाश्वत है, स्थान नहीं है। स्वामी दयानन्द इससे सन्तुष्ट नहीं होते। चारवाकों के विरुद्ध उनका मुख्य तर्क है कि पृथिवी, जल, वायु व अग्नि इन चार भूतों के मिलने से शरीर में 'मद के समान चेतन की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता क्योंकि मद चेतन को होता है जड को नहीं।'[2] इसमें सन्देह नहीं कि मादक द्रव्य जीवित शरीर को मदोन्मत्त करते हैं अत इससे यह अनुमान कैसे किया जा सकता है कि भौतिक तत्वों के संयोग से जीवात्मा भी इसी प्रकार उत्पन्न हो जायेगा। मादक द्रव्य भी जीवधारियों को ही मदोमत्त करता है जीवरहित मृतक को नहीं। फिर यदि तर्क को देखें तो भी भौतिकवाद कोई अच्छा विचार प्रतीत नहीं होता। अभाव से भाव की उत्पत्ति असम्भव है। भौतिक पदार्थों में चेतनतत्व का नितान्त अभाव है तब अचेतन से चेतन की उत्पत्ति कहना बुद्धि विरुद्ध है क्योंकि अचेतन में चेतन का सर्वथा अभाव है। और यदि यह कहा जाय कि भौतिक तत्वों में चेतनतत्व बीजरूप में विद्यमान है तब चारवाक अपने इस कथन से अचेतन भौतिक तत्वों को चेतन बना देंगे। तब इस रूप में यह मत भौतिकवादी न होकर चेतनावादी हो जायेगा। इस प्रकार अचेतन से चेतन की उत्पत्ति मानने वाला भौतिकवाद किसी भी रूप में उचित नहीं कहा जा सकता।

प्राणीशास्त्र की समालोचना—आधुनिक युग में इसी को एक और परन्तु सुसस्कृत व नूतन आधार पर रखा गया है। यह वैज्ञानिक मत है। इसमें प्राणी के शरीर का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है। जिसके आधार पर यह

---

१ 'अत्र चत्वारि भूतानि भूमिर्वार्युरनलोनिला।
चतुर्भ्य. खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥३३॥
किण्वादिभ्य समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।' सर्वदर्शनसंग्रह-
चार्वाक दर्शन।

२ बृहद् सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३७।

कहा जाता है कि प्राणी की समस्त क्रियायें मस्तिष्क द्वारा सम्पादित होती है। समस्त शरीर मे स्नायुमडल का जाल बिछा हुआ है। शरीर की प्रत्येक क्रिया का सम्पादन इन्ही स्नायुओ द्वारा होता है। प्राणीशास्त्री शारीरिक क्रियाओ को, चेतन तत्त्व जीवात्मा द्वारा की हुई नही कहता। वास्तव मे देखा जाय तो आत्मा पर विचार करना इस शास्त्र का विषय ही नही है। इस विज्ञान का कार्य शरीर रचना एव शरीर की वातावरण के सम्पर्क मे की हुई क्रियाओ का अध्ययन करना है। प्राणीशास्त्र के अनुसार जीवन, शरीर व वातावरण के मध्य हुयी क्रिया व प्रतिक्रियामात्र है। परन्तु जीवात्मा क्या है? इसका इस शास्त्र से सम्बन्ध नही और नाही यह इस विज्ञान की समस्या है। एक प्रसिद्ध विद्वान के शब्दो मे एक प्राणीशास्त्रवेत्ता के लिए शरीर व शारीरिक क्रियायें वास्तविक हैं और जीवन तत्त्वत क्या है यह वह नही जानता।[१] यहां तक तो स्वामी दयानन्द तो क्या अन्य किसी भी दार्शनिक का इनसे कोई मतभेद नही हो सकता। दर्शनशास्त्री जीवन की वास्तविकता ही नही वरन् उस शक्ति की भी खोज करता है जो कि जीवन का आधार है। लेकिन यदि हम मनोवैज्ञानिको की तरह आत्मा व चेतन शक्ति को ही समाप्त कर दें और उसके बचाव मे प्राणीशास्त्र को लायें कि मस्तिष्क ही चेतना का उद्गम है तथा यह माने कि यही स्नायुमण्डल के द्वारा शारीरिक क्रियाओ का कर्त्ता है, तब दर्शन व मनोविज्ञान मे सघर्ष का प्रश्न खडा हो जायेगा। वुड ने यद्यपि आत्मा की सत्ता तो नही मानी परन्तु तो भी वह चेतना को मानते थे और अन्त दर्शन (Introspection) मे विश्वास करते थे। उनके काल मे मनोविज्ञान चेतना के विज्ञान के रूप मे था। लेकिन वाटसन ने किसी भी अमूर्त एव अग्राह्य तत्त्व को मानने से इकार कर दिया।

---

१ "To the biologist the actualities are organisms and their doings and life is a generalized concept denoting their peculiar quality. What life in essence or principle is, he dose not know"

(Encyclopedia of Religion and Ethics, Page 8. Vol, VIII, edited by James Hastings 1915.)

इनके विचार में मनोविज्ञान में चेतना शब्द का प्रयोग मध्यकालीन दर्शन के आत्मा की ही पुन: उक्तिमात्र है। व्यवहारवाद के अनुसार प्राणी का समस्त व्यवहार उत्तेजना-प्रतिक्रिया (stimulus-response) के सिद्धान्त से समझा जा सकता है अत: आत्मा या किसी चेतन तत्त्व के मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

स्वामी शङ्कराचार्य जी हमें यह जानने के लिए कि शरीर स्थित चेतन आत्मा है या नहीं एक कसौटी देते हैं। वह कहते कि यदि किसी जीवधारी में ये तीन गुण 'करे, न करे अथवा उल्टा न करे' (कर्तुं, अकर्तुं एवं अन्यथा कर्तुं)[1] मिलें तो समझना चाहिए कि इसमें आत्मा है। वातावरण से प्राप्त होने वाले उत्तेजकों के प्रत्युत्तर में शरीर तुरन्त प्रतिक्रिया करता है। लेकिन मुझे कोई उत्तेजक प्राप्त हो तो व्यवहारवाद के अनुसार मेरे शरीर को उसके प्रति एक निश्चित प्रतिक्रिया करनी ही पड़ेगी। परन्तु दूसरी तरफ हम देखते हैं कि यह मेरी इच्छा है कि मैं किसी व्यक्ति द्वारा अपने मुख पर मारे गये चपत की प्रतिक्रिया स्वरूप उसको चपत मारूं या न मारूं अथवा इसके लिये उसे पुरस्कृत करूं। तात्पर्य यह है कि मनुष्य किसी उत्तेजक के प्रत्युत्तर में किसी निश्चित प्रतिक्रिया से बंधा नहीं है वरन् अनेक प्रकार की प्रतिक्रिया को करने में स्वतन्त्र है। यहां पर व्यवहारवाद खरा नहीं उतरता। व्यवहारवाद मानवीय क्रियाओं को यन्त्रवत् बना देता है जिसमें कर्त्ता की स्वतन्त्र इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु शंकराचार्य ने जो हमें कसौटी दी है उसमें कर्म-स्वतन्त्रता के लिये काफी गुंजाईश है और फिर यह भी एक सत्य है कि कर्म अपने आप में कर्म चेतना पैदा नहीं कर सकते। प्रो० मलकानी का कथन है कि प्राणी की बौद्धिक प्रतिक्रियायें किसी उस जड़ पदार्थ का गुण नहीं हो सकतीं जो शरीर में स्नायु-मण्डल को बनाता है।[2]

उपरोक्त विवेचन से यह पता चलता है कि भौतिक पदार्थ से पृथक चेतन

---

१ देखिये शंकरभाष्य, वेदान्त, १—१—४ पर।

२ "The intelligent response cannot be a quality of the matter which constitute the nervous system" Comperative Study of Consciousness, in 'Radhakrishnan' by Several contributors, London, 1951, Page 233, published in 1951.

तत्त्व को स्वीकार किये बिना मानवीय क्रियाओं को बौद्धिक रूप से नहीं समझाया जा सकता। अचेतन से चेतन की उत्पत्ति नितान्त असम्भव है। जड पदार्थ कर्मों का प्रकाशक नहीं हो सकता वरन् इसको प्रकाशित करने के लिये प्रकाश की आवश्यकता है जिसके बिना शरीर की क्रियायें सम्भव नहीं है। कुछ प्राणीशास्त्री भी अब यह स्वीकार करने लगे है कि यह आत्मा (life) न तो जड द्रव्य या शक्ति से पैदा हुई है और न ही बढती हुई विविध मानसिक जटिलताओं से उत्पन्न हुई है, यह तो किसी अन्य सत्ता का अवतरण है जिसके कि परमाणु व उनकी क्रियाये एक रूपमात्र है।"[१] यद्यपि इस कथन मे हमे अद्वैतवाद की झलक मिलती है परन्तु इसमे यह निर्विवाद है कि शरीर मे कोई चेतन सत्ता है जो शरीर से उत्पन्न नही होती।

स्वामी दयानन्द शरीर से पृथक आत्मा की सत्ता को एक शाश्वत सत्य के रूप मे मानते है। वे भौतिकवादियो के अनात्मवाद को नही मानते। परन्तु दूसरी तरफ इस उद्धरण के अन्तिम अश कि 'जीवात्मा किसी ऐसी शक्ति का अवतरणमात्र है जिसका दूसरा रूप जड जगत् है", को भी स्वामी दयानन्द स्वीकार नहीं करेंगे। वे ब्रह्मवादी की तरह जीव को ब्रह्म का अविद्यात्मक रूप भी नही मानते। स्वामी दयानन्द के विचार मे जीवात्मा का क्या स्वरूप है इस विषय पर आगे विचार किया जायेगा।

जीवात्मा का स्वरूप

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजा सृजमाना सरूपा।
अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य॥
(श्वेत० उ० ४–५)

---

१ "It is neither a product of matter and energy nor an outcome of the increasing complexities of constillations, it is an expression of the reality of which atoms and their movements are also but conceptual aspects' (Encyclopdedia of Religion and Ethics, p 8, vol VIII, Edited by James Hastings—1915)

"प्रकृति, जीव और परमात्मा तीनो अज अर्थात् जिसका कभी जन्म नहीं होता और न कभी ये जन्म लेते अर्थात् ये तीनो सब जगत् के कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं। इन अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फसता है और उसमे परमात्मा न फसता है और न उसका भोग करता है।"[1]

जीवात्मा अनादि है—इस उपनिषद् मन्त्र के हवाले से स्वामी दयानन्द जिन तीन अनादि पदार्थों को मानते हैं उनमे एक जीव भी है। जीवात्मा स्वरूप से नित्य है। इसकी उत्पत्ति न तो प्रकृति के तत्वो से हुई है जैसा कि प्रकृतिवादी कहते हैं और न ही ब्रह्म से जैसा कि अद्वैत वेदान्तियो का कहना है।[2] जिस प्रकार ईश्वर का कोई कारण नही उसी प्रकार जीव का भी कोई कारण नहीं है। नित पदार्थ अमर होता है यह तर्क का नियम है। जिस वस्तु का कभी निर्माण नहीं हुआ वह कभी विनष्ट भी नहीं होगी। स्वामी दयानन्द जीव को नित्य के साथ अमर मानते हैं। शरीर के नष्ट होने से जीव नष्ट नहीं होता वरन् दूसरे शरीर मे चला जाता है। ईसाई विचारक संत थोमस एक्विनास ने ईसाई धर्म के अनुसार जीवात्मा को अमर तो माना है परन्तु नित्य नही माना। ईश्वर जन्म के समय प्रत्येक प्राणी के लिये नये जीवात्मा की उत्पत्ति करता है।[3] डेकार्ट पर भी उनका प्रभाव मालूम देता है यद्यपि डेकार्ट ने ईश्वर, जीव व प्रकृति को पृथक पृथक माना है परन्तु उनका मत है कि जीव व प्रकृति ईश्वर ने बनाये हैं और यदि ईश्वर चाहे तो उन्हे नष्ट भी कर सकता है।[4] इसका तात्पय है कि परमात

१ सत्यार्थ प्रकाश, पृ २१०

२ 'ईश्वर नाम ब्रह्म का और ब्रह्म से भिन्न अनादि, अनुत्पन्न और अमृतरूप जीव का नाम जीव हैं'। सत्यार्थप्रकाश, पृ० १९७

३ "The soul is not transmitted with the semen but is created afresh with each man" Russell, B, History of Western Philosophy, p-480 London—1947.

४ "Descartes admitted three substances, God and mind and matter, it is true that even for him God was in a sense more substantial than mind and matter, since he had created them, and could if He chose annihilate them" Ibid p. 594.

ही एक तत्त्व है, जो सत्य है। जीव व जड पदार्थ उसकी कृतिमात्र है। थोमस एक्विनास की जीव की अमरता की धारणा डेकार्ट ने स्वीकार की लेकिन जीवात्मा अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर की कृपा पर आश्रित हो गया। इसी को स्पीनोजा ने एक दूसरे रूप मे कहा है कि जीवात्मा व द्रव्य ईश्वर के अनेक रूप व गुणो मे दो रूप हैं जिनके द्वारा वह ससार मे प्रसिद्ध होता है। स्पीनोजा के मत मे जीवात्मा के अनादि परमात्मा का रूप होने से उसके नित्यत्व व अमरत्व का प्रश्न ही वेहूदा है, ईश्वर ही नित्य है वही अनादि है। नैतिक जीवन का आधार आत्मा को अमर माने विना नही चल सकता। कान्ट ने नैतिक आधार की आवश्यकता के लिए आत्मा की अमरता पर बल दिया है। कान्ट जीवात्मा को 'प्रत्यक्षो की एकता के आध्यात्मिक नियम' के रूप मे स्वीकार करते हैं। जब वे इस जन्म, से दुख-सुखो के आधार पर पूर्वजन्म को मानते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि वे आत्मा को नित्य मानते हैं क्योकि पूर्वजन्म के आधार पर इससे भी पूर्व का जन्म और उसके आधार पर अन्य पूर्वजन्म, इस प्रकार आत्मा के अनेक जन्म माने जा सकते हैं और फिर जीवात्मा को नित्य माना जा सकता है। लेकिन कान्ट इस पर स्पष्ट नही है। परमात्मा ने आदम को वनाया और उसके नथुने मे जीवन का सास फूका, वाईविल का यह कथन कान्ट को छोडकर उपरोक्त वर्णित दार्शनिको के दर्शन मे दिखाई पडता है। कुरान वाईविल से कुछ भिन्न कहता है। कुरान कहता है कि परमात्मा ने आदम के नथुने मे जीवन फूका और वह आगे आने वाले सब प्राणियो का जीवन था। इस्लाम धर्म मे जीवात्मा एक वार वना दिया गया और जिस प्रकार एक दीपक की लौ से अनेक दीपक जलाये जा सकते हैं उसी प्रकार चेतना का एक भाग माता-पिता से वच्चो मे आ जाता है। इनके अनुसार जीव एक बार उत्पन्न होने के वाद समाप्त नही होता वरन् इस जीवन तथा इस जीवन के वाद न्याय के दिन तक कव्र मे रहता है और वाद मे कर्मों के अनुसार फल भोगने के लिये नरक अथवा स्वर्ग मे हमेशा-हमेशा के लिये चला जाता है। परन्तु यहा हम पूछ सकते हैं कि दीपक के बुझ जाने पर जिस प्रकार लौ का अन्त हो जाता है, क्या उसी प्रकार मृत्यु से पश्चात् चेतना का अन्त नही हो जायेगा ?

जीवात्मा को अमर, परन्तु निर्मित मानना तर्क के विरुद्ध है क्योकि जो वना

है उसका नाश अवश्य होगा। साथ ही यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने जीवात्मा को किस वस्तु से बनाया? यदि कहो कि जड पदार्थ से तो सम्भव नहीं क्योंकि जड मे चेतना के न होने से जीव नहीं बन सकता। यदि यह कहें कि परमात्मा ने अपने मे से बनाया तब क्या परमात्मा अवयवी है जो अपने में से बनायेगा और यदि कहो कि स्वयं जीवरूप से विभाजित हो गया तब परमात्मा विकारी हो जायेगा। इसके अलावा इनमे सबसे जटिल प्रश्न यह उठता है कि उसे क्या आवश्यकता थी जो जीवरूप होकर अज्ञान के बन्धन में आया। जीवात्मा का निर्माण मानना कोई अच्छा सिद्धान्त प्रतीत नही होता।

स्वामी दयानन्द जीवात्मा को न तो ईसाई, मुस्लिम, व कतिपय विचारको के अनुसार निर्मित मानते है और न ही शकराचार्य के अद्वैत-वेदान्तानुकूल जीव की अविद्या से उत्पत्ति ही मानते हैं। अद्वैतवाद के विरुद्ध स्वामी जी का मुख्य तर्क है कि ब्रह्म शुद्ध चेतन एव ज्ञान हैं। फिर अनन्त सामर्थ्य व ज्ञानयुक्त शक्ति को अविद्या क्योकर आवरण मे ला सकती है। क्यो सच्चिदानन्द ब्रह्म अविद्या-रूप होकर सुख, दुख एव जन्म-मरण के चक्र मे पडेगा? स्वामी दयानन्द माया-वादियो से पूछते हैं कि अविद्या के आवरण में आकर क्या ब्रह्म का शुद्धत्व निष्क-लक रह सकेगा? अद्वैतवाद मे जीव की अविद्या से उत्पत्ति मानी गयी है जिसे एक भ्रममात्र कहा गया है। गौणपादाचार्य, माण्डूक्योपनिषद पर लिखी अपनी कारिकाओ मे कहते हैं 'न निरोध है, और न उत्पत्ति है न कोई बद्ध है और न कोई साधक, न कोई मोक्ष की कामना वाला है और न कोई मुक्त, यह परमार्थ सत्य है।'[1] इस पर शकराचार्य अपने भाष्य मे कारिकाओ मे सहमति रखते हुए जीव की उत्पत्ति को भी भ्रममात्र कहते हैं। स्वामी दयानन्द जीव की सत्ता को सत् मानते हैं। भ्रमवाद उनको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। क्योंकि यह वाद साध्य-साधक, भोग्य-भोक्ता, उपास्य-उपासक, ज्ञाता-ज्ञेय में किसी को भी स्थिर नही रख सकेगा। जब साध्य-साधक, भोग्य-भोक्ता, उपास्य-उपासक एव ज्ञाता-ज्ञेय एक ही हो जायेंगे, तब कौन किसके लिये साधन करे, कौन किसे भोगे, कौन किसकी उपासना करे, एव कौन किसे जाने? व्यावहारिक जीवन की स्थिति

१ माण्डूक्यकारिका, वै० प्र० ३२, गौपादाचार्य।

भ्रमवत् होने से महत्वहीन हो जाती है। नि संदेह यह विचारधारा ज्ञान व व्यवहार मे सामजस्य स्थापित नही कर सकती। दर्शन साधारण बुद्धि के लिये व्यर्थ हो जाता है। स्वामी दमानन्द जीव का अस्तित्व पृथक परन्तु अनादि एव शाश्वत आधार पर रखते है। इस मत मे जीव मुक्तावस्था मे ब्रह्म मे लीन नही होता वरन् मोक्ष मे ब्रह्म के आनन्द को भोगता है।

जीवात्मा के लक्षण — न्याय सूत्र के हवाले से स्वामी दयानन्द जीवात्मा के लक्षण इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, दुख, सुख एव ज्ञान के रूप मे करते हैं जीवात्मा के गुण, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि हैं। शरीर तो जड है इससे इसमे क्रिया का अभाव सिद्ध होता है क्योकि जड मे इच्छा व ज्ञानादि नही होते अत शरीर का स्वामी, शरीर के अन्दर रहने वाला जीव ही है।[१]

न्याय शास्त्र ने इच्छा, द्वेष आदि को आत्मा का लिंग माना है।[२] लिंग से तात्पर्य चिन्ह से भी हो सकता है जो किसी गुणी का गुण है। यद्यपि साधारण रूप मे लिंगी एव गुण-गुणी का एक ही अर्थ मालूम होता है। परन्तु इनमे किंचित भेद भी है। प्रथम रूप मे लिंग का अर्थ है चिन्ह तथा लिंगी उसे कहते हैं जिसके चिन्ह हो। गुण से तात्पर्य है वस्तु के धर्म और गुणी से तात्पर्य उस पदार्थ से है जिसमे गुण हो। न्याय दर्शन ने इस सूत्र को दोनो ही रूपो मे प्रयोग किया है। शरीर मे चेतन आत्मा है क्योकि प्राणी इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुख एव ज्ञानपूर्वक देखे जाते हैं जबकि इनमे से एक भी प्रकृति का गुण नही है अत ये प्रकृति से भिन्न आत्मा के लिंग हैं अर्थात् इनसे यह जाना जाता है कि शरीर मे चेतन आत्मा शरीर से पृथक है। परन्तु साथ ही नैयायिक यह भी कहते हैं कि ये पार्थिव शरीर के धर्म नही है। पार्थिव शरीर के धर्म न रहने पर ये आत्मा के स्वाभाविक गुण ही ठहरते हैं। अर्थात् आत्मा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि गुण युक्त है। स्वामी दयानन्द ने नैयायिको की भांति इस सूत्र मे वर्णित आत्मा के लिंगो को शरीर स्थित आत्मा की सिद्धि मे प्रमाण एव आत्मा के स्वाभाविक गुण दोनो ही रूप मे स्वीकार किया है।

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ०—१६१

२ न्यायसूत्र १–१–१० इस, पर देखिये वात्स्यायन भाष्य एव न्यायवर्तिका

स्वामी दयानन्द के अनुयायी स्वामी दर्शनानन्द ने इनको दो भागो मे (१) इच्छा, ज्ञान व प्रयत्न एव (२) सुख, दुख एवं द्वेष में विभाजित किया है। आपका कहना है कि सुख, दुख एव द्वेप आत्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हो सकते, वरन् नैमित्तिक हैं जो कि शरीर से सबध होने पर ही आत्मा मे उदित होते हैं। इच्छा, प्रयत्न एव ज्ञान ये आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। स्वामी दयानन्द ने न्याय द्वारा बताये गये आत्मा के गुणो को इस प्रकार विभाजित नहीं किया। स्वामी जी ने इस भेद पर ध्यान नही दिया। लेकिन इस भेद से स्वामी दयानन्द का कोई मतभेद नहीं है क्योंकि जहा कही भी दयानन्द मुक्तात्मा के स्वरूप का लक्षण करते हैं उसमे नैमित्तिक गुणो का वर्णन नहीं पाया जाता। स्वामी दर्शनानन्द जीव का स्वरूप ज्ञानमय बताते हैं परन्तु इनका यह अर्थ नही कि जीवात्मा परमात्मा के समान ही ज्ञानमय है वरन् जीव का स्वाभाविक ज्ञान उसकी जानने की शक्ति है। बिना ज्ञान शक्ति के पदार्थों का ज्ञान असम्भव है।[1] दूसरे प्रकार के ज्ञान को नैमित्तिक ज्ञान कहा गया है जीवात्मा की अपनी स्वाभाविक ज्ञान शक्ति जीवात्मा का गुण है परन्तु नैमित्तिक ज्ञान स्वाभाविक ज्ञान शक्ति द्वारा ससार में अर्जित ज्ञान है।

जीवात्मा अल्पज्ञ है—जीवात्मा स्वभाव से अल्पज्ञ है।[2] स्वामी दयानन्द यहा पर अविद्या की कठिन समस्या को अत्यन्त सरल ढग से हल कर देते हैं। अविद्या क्या है ? यह प्रश्न दर्शन में अत्यन्त जटिल है, जिसे आचार्य शकर भी सरल नही कर पाये। अविद्या को विश्वशक्ति मानना निर्भ्रम नहीं कहा जा सकता। क्योंकि शक्ति किसी शक्तिमान की होती है, विश्वशक्ति को धारण करने की क्षमता विश्वात्मा मे ही हो सकती है और वह ईश्वर ही हो सकता है। अद्वैत मत में यह केन्द्रीय त्रुटि है कि वे अद्वैतवाद को बनाये रखने के लिए माया को, जो कि अविद्या ही है, विश्व निर्मात्री शक्ति का रूप दे देते हैं। दूसरी तरफ यदि

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १६१ व ४००।

२ 'क्योंकि जीव का परम अवधि तक ज्ञान बढ़े तो भी परिमित ज्ञान और सामर्थ्य वाला होता है। अनन्त ज्ञान और सामर्थ्य वाला नहीं हो सकता'। सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २२१।

मायावाद को न माना जाय तब प्रश्न उठता है कि अनादि जीवात्मा सुख-दुख व जन्म-मरण के चक्र मे क्यो आता है? इस पर स्वामी दयानन्द का कथन है कि जीव स्वरूप से अल्पज्ञ है अर्थात् वह अल्पज्ञानी है परमात्मा के समान अनन्त ज्ञानी नही। अल्पज्ञता अपने मे अज्ञान को रखती है, यही अज्ञान की अवस्था जीवात्मा को ससार की अपनी व परम सत्ता की वास्तविक अवस्था को समझने मे बाधक है।[1] इस कारण वह अपवित्रता मे पवित्रता, दुख मे सुख, अनात्मा मे आत्मा व अनित्य मे नित्य को समझ जन्म-मरण के चक्र मे आता है।[2]

जीवात्मा व मन का सम्बन्ध—जीवात्मा शरीर मे आकर सारे व्यापार मन के द्वारा करता है। स्वामी दयानन्द के मतानुसार मन प्रकृति का विकार है। यहा पर भी दयानन्द साख्य सिद्धान्त से पूर्ण सहमति रखते हैं। वह कहते हैं कि प्रकृति का प्रथम विकार महत्तत्त्व बुद्धि, उससे अहकार, उससे पांच तन्मात्रा सूक्ष्मभूत और दस इन्द्रियां तथा ग्यारहवा मन उत्पन्न हुआ।[3] शुद्ध सतोगुण से उत्पन्न होने से मन मे ज्ञान प्राप्त करने व धारण करने की शक्ति होती है। जीवात्मा के सम्पर्क मे आने से मन चेतनवत् प्रतीत होने लगता है। इससे अनेक विद्वान् जीव व मन मे भेद नही कर पाते। विशेषरूप से पश्चिमी दार्शनिको के दर्शन मे मन व जीवात्मा मे कोई भेद नही किया गया है। वैदिक दार्शनिक मन को ज्ञान प्राप्ति व धारण करने का साधन मानते है। जीवात्मा मन की सहायता से शरीर के समस्त कार्यों को करता है। जीवात्मा को वाह्य ससार का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा मन से होता है। विषय का इन्द्रियो से और इन्द्रियो का मन से तथा मन का आत्मा से सम्पर्क होने पर ही जीवात्मा विषय का ज्ञान करता है।[4] जीव को सुख-दुख की अनुभूति भी मन के द्वारा ही होती है। यह

---

१ 'जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण मे आता, शरीर के साथ प्रगट होने रूप जन्म लेता पापरूप कर्मो के फल भोगरूप वन्धन मे फंसता उसको छुडाने का साधन करता दुख से छूटने की इच्छा करता ... ?" वही, पृ० २३७।

२ वही, पृ० २३६

३ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २१०

४ वही, पृ० २४६

मन जीवात्मा के साथ इस शरीर से दूसरे शरीर में पुनर्जन्म में भी जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्ति से पूर्व मन आत्मा के साथ बराबर बना रहता है।

जीवात्मा शरीर में रहता हुआ मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार—जोकि अन्तःकरण चतुष्टय कहलाता है—के द्वारा शरीर को क्रियाशील रखता है। स्वामी दयानन्द के दर्शन में मन, बुद्धि एवं इन्द्रियें भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति में साधन हैं। जैसा कि उपनिषद् भी कहता है 'आत्मा इस देह रूपी रथ में रथी है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम एवं इन्द्रियें घोड़े हैं। विषय मार्ग हैं विद्वान शरीर व मन सहित आत्मा को भोक्ता कहते हैं।"[1] साथ ही उपनिषद् कहता है कि जो पुरुष विज्ञानरूप सुसंस्कृत बुद्धिरूप सारथि वाला एवं सुसंस्कृत मन' रथी वाला है वह ब्रह्म के सर्वोपरि स्थान को प्राप्त हो जाता है।[2]

जीवात्मा का अणु परिमाण (जैन मत की आलोचना)—दयानन्द जीव का परिमाण अणु मानते हैं।[3] दार्शनिक साहित्य में जीव के परिमाण के विषय में तीन धारणायें प्रचलित हैं, विभु, मध्यम व अणु। जीव को विभु कहने का तात्पर्य है कि जीवात्मा आकाश के समान सर्वत्र ओत-प्रोत है। इस मत में अनेक कमियां हैं। जैसे जीवात्मा को विभु मानने का तात्पर्य होगा कि एक आत्मा सर्वत्र वर्तमान होने से सब शरीरों में वर्तमान होगा। तब तो उसे दूसरे जीवों के सुख-दुखों व क्रियाओं का ज्ञान होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः जीवात्मा विभु नहीं हो सकता। दूसरे मध्यम परिमाण उसे कहते हैं कि जीवात्मा सारे शरीर में फैला हुआ है। यह जैनियों का मत है। वह जिस शरीर में भी जाता है उसी का आकार ग्रहण कर लेता है अर्थात् जीवात्मा का आकार चींटी के शरीर में चींटी जैसा होगा तथा जब चींटी के शरीर से मनुष्य शरीर में आयेगा तो मनुष्य जितना

---

१ कठोपनिषद् ३–४ व ५

२ वही, ३-९।

३. 'प्रश्न-जीव शरीर में भिन्न विभु है या परिच्छिन्न? उत्तर (स्वामी दयानन्द) परिच्छिन्न, जो विभु होता तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना-आना कभी, नहीं हो सकता। इसलिये जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है।' सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १९२।

होगा। और मनुष्य शरीर मे जन्मावस्था मे छोटा होगा तथा जैसे-जैसे शरीर की वृद्धि होगी वैसे-वैसे जीवात्मा भी शरीर मे फैलता जायेगा।[1] इससे जीवात्मा अवयवी हो जायेगा क्योकि निरवयवी पदार्थ का शरीरो के अनुसार घटना-बढना नही होता। यदि जीवात्मा को सावयव माना जाये तब अवयवो के सयोग-वियोग के कारण जीव विकारी हो जायेगा, क्योकि उसका घटना व बढना बिना अवयवो के मिलने व विछुडने के सम्भव नही हो सकता। इससे जैन मतमे जीवात्मा विकारी अर्थात् उत्पत्ति व नाश वाला हो जायेगा अतः नित्य व अमर नही रहेगा। जीव के परिमाण के सम्बन्ध मे तीसरा मत अणु परिमाण का है। इसके अनुसार जीवात्मा परमाणु के समान सूक्ष्म है। जो सूक्ष्म जीवो से लेकर स्थूल से स्थूल प्राणियो के शरीरो मे बिना विकार को प्राप्त हुये आ व जा सकता है। यह दयानन्द का मत है। उनके अनुसार अणु जीवात्मा शरीर मे रहकर सारे शरीर का नियन्त्रण मनादि के द्वारा करता है।[2] स्वामी शकराचार्य जी भी जीवात्मा का अणुरूप ही मानते थे परन्तु अनन्त, विभु ब्रह्म को उपाधि भेद से।[3] रामानुज के मत मे भी जीवात्मा अणु है परन्तु ईश्वर के शरीरवत् है अर्थात् ईश्वर से अलग उसका कोई अस्तित्व नही है। लेकिन दयानन्द जीवात्मा के अस्तित्व मे ईश्वर की दुहाई नही देते। उनके अनुसार तो जीव अणुरूप ब्रह्म से पृथक् नित्य है। हमारे विचार से स्वामी दयामी दयानन्द की यह धारणा उपनिषदो मे भी पाई जाती है।

जीवात्मा सख्या मे अनेक हैं—ससार मे शरीरो की भिन्नता, भिन्न-भिन्न शरीरो मे भी कर्म व भोग का अन्तर, इस पर बल देता है कि पृथक्-पृथक् शरीर मे पृथक्-पृथक् जीव होने चाहियें। स्वामी दयानन्द जीवात्माओ को सख्या मे अनेक कहते हैं। न्याय, वैशेषिक व साख्य दर्शन भी जीवो को अनेक ही

---

१ स० प्रकाश, पृ० ४५३।

२ (i) 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो'। मु० उ, ३-१-९।
(ii) वे० सू०, २-३-४९।

३ 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीव. सविज्ञेय. स चानन्त्याय कल्पते'॥ श्वेत० उ० ५-९, देखिये इस पर शाँकर भाष्य।

मानते हैं।[1] स्वामी दयानन्द मध्व के इस मत को नहीं मानते कि जीव संख्या में अनन्त हैं।

यदि जीवात्माओं को संख्या में अनन्त माना जाये तब उनके कर्मफल व जन्म की व्यवस्था न हो सकेगी क्योंकि अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों के अनन्त फलों की व्यवस्था कौन कर सकेगा। इसी से सांख्य व वैशेषिक मतों में कहा गया है कि जन्मादि की व्यवस्था पाये जाने से जीवात्मा अनेक हैं।

सब जीवात्मा समान हैं—सेन्ट थोमस एक्वीनास पशुओं की आत्मा को अमर नहीं मानते, उनके मत में केवल मनुष्यों की जीवात्मा अमर है।[2] देकर्त ने इसी विचार को बाद में अपनाया। लेकिन जीव को अजीव से पृथक करने वाला मुख्य तत्त्व तो चेतना है। चेतना मनुष्यों के समान पशुओं में भी समान रूप से देखी जाती है। स्वामी दयानन्द पशु व मनुष्य एवं पेड़-पौधों में भी एक ही प्रकार का जीवात्मा मानते हैं। एक ही जीवात्मा, कर्म के आधार पर मनुष्य, पशु व पेड़-पौधों में जा सकता है। वृक्षों में जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में, पशुओं में भोग योनि एवं मनुष्यों में भोग व कर्म योनि में रहता है।

मध्व व वल्लभ ने जीवों के तीन विभाग किये हैं। मध्व कहते हैं कि जीवात्माएं मुक्तियोग्य, नित्य संसारी, तमोयोग्य तीन प्रकार की होती हैं। इनमें मुक्तियोग्य मुक्ति के योग्य होती हैं इनमें देव-ऋषि-पितृ-चक्रवर्ति व उत्तम पांच प्रकार की होती हैं। दूसरी नित्य संसारी हैं। इन्हें कभी मुक्ति प्राप्त नहीं होती। ये जन्म-मरण के चक्र में एवं स्वर्ग-नरक के भोग तक रहती हैं। लेकिन तीसरे

---

१ (i) "और जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहिये।" सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४६।

(ii) "जन्मादिव्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम्।" सांख्य सूत्र, १–१४९।

(iii) "व्यवस्थातो नाना।" वैशेषिक सूत्र, ३–२–२०॥

२ "The Souls of animals, unlike those of man, are not immortal" A History of Western Philosophy by B. Russell, P 480

प्रकार की जीवात्माएँ राक्षसो की होती हैं, ये दैत्य राक्षस पिशाच व अधर्म चार प्रकार की होती हैं। इन जीवात्माओ मे मोक्ष की अधिकारी केवल प्रथम प्रकार की आत्माएं हैं।[1] जीवो का यह विभागीकरण सत्व, रज, तम के आधार पर मालूम देता है। सात्विक जीव मुक्त हैं, राजसिक स्वर्ग-नरक व जन्म-मरण के चक्र मे हैं एव तामसिक जीव सदैव वन्धन मे रहते हैं। लेकिन स्वामी दयानन्द ऐसे किसी विभाग को नही मानते। वे जीवात्माओ को फिर चाहे वह पशु की हो या मनुष्य की, समान वताते हैं। वे कहते हैं सारे जीव एक समान हैं परन्तु पाप-पुण्य के योग से मलिन और पवित्र हो जाते हैं।"[2] और इस प्रश्न के उत्तर मे कि "मनुष्य का जीव पश्वादि के शरीर मे एव पश्वादि का मनुष्य के शरीर मे और स्त्री का पुरुष के और पुरुष का स्त्री के शरीर मे आता जाता है या नही ?" स्वामी जी कहते हैं "हा जाता आता है।"[3] इस प्रकार दयानन्द जैन-दर्शन के इस मत का भी खण्डन कर देते हैं कि स्त्रियो को मोक्ष का अधिकार नही है। दयानन्द के अनुसार जैसा जिस जीव का कर्म होता है वैसा ही उसे शरीर प्राप्त होता है।

जीवात्मा कर्त्ता व भोक्ता है—अन्य वैदिक दार्शनिको की भाति स्वामी दयानन्द भी कर्म व कर्मफल को स्वीकार करते हैं। परन्तु स्वामी जी के दर्शन की यह एक विशेषता है कि वे जीवात्मा को न स्वभाव से मुक्त मानते हैं और न बद्ध। क्योकि जो जीव स्वभाव से वद्ध हो तो मोक्ष नही हो सकता और जो स्वभाव मे मुक्त हो तो वन्धन मे नही आ सकता।[4] सांख्य दर्शन पुरुष को असग एव अकर्त्ता कहता है, न्याय दर्शन आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता कहता है, वेदान्त भी

---

१ A History of Indian Philosophy, Vol IV, P, 155-156, S N Dass Gupta

२ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २५५।

३ वही, पृ० २८५।

४. '(प्रश्न)—वन्ध या मोक्ष स्वभाव से होता है या निमित्त से ?
(स्वामी दयानन्द) निमित्त से, क्योकि जो स्वभाव से होता तो बन्ध और मुक्ति की निवृत्ति कभी न होती।' वही पृ० २३७।

जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता मानना है। सांख्य दर्शन कर्म व कर्मफल को तो स्वीकार करता है परन्तु पुरुष को कर्त्ता नहीं कहता।[1] कतिपय विद्वानो का विचार है कि सांख्यो मे अहंकार अर्थात् अन्तःकरण से सम्बन्वित पुरुष कर्त्ता है स्वरूप से नहीं। स्वामी जी का दर्शन यहा पर विद्वानो द्वारा प्रतिपादित साख्यो के इस मत को नहीं मानता। वह न्याय-वेदान्त की तरह जीवात्मा को स्वतन्त्र कर्त्ता मानते हैं, अन्यथा जीव को स्वतन्त्र कर्त्ता न मानने पर कर्मफल का सिद्धान्त नष्ट हो जायेगा।[2]

जीवात्मा स्वतन्त्र कर्त्ता है, संसार में आकर यह केवल परमात्मा के हाथ की कठपुतली नहीं है। यदि जीवात्मा का स्वतन्त्र कर्तृत्व न माना जाय तब उनको भोक्तृत्व भी नहीं होगा। यदि सब कर्म परमात्मा की इच्छा से जीवात्मा करे तब जीवात्मा के अकर्त्ता होने से ससार मे पाप-पुण्य की व्यवस्था भी नहीं रहेगी। स्वामी जी के दर्शन में जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र है परन्तु किये कर्मो का फल भोगने मे ईश्वर पर आश्रित है अर्थात् परतन्त्र है। हमारा जितना स्वतन्त्र कर्म का क्षेत्र है उतना ही हम स्वतन्त्र रूपेण कर सकते हैं जिसके लिये हमे दण्ड या पुरस्कार दिया जायेगा।

जीवात्मा पुनर्जन्म धारण करता है—जीवात्मा अमर है। उसका न कभी निर्माण हुआ है और न कभी नाश होता है। दयानन्द अन्य भारतीय दार्शनिको की तरह यह मानते हैं कि जीवात्मा मृत्यु के पश्चात् वर्तमान शरीर को छोडकर अपने कर्मानुसार अन्य शरीर धारण कर लेता है। अत्यन्त निकृष्ट कर्म करने वाले वृक्षादि योनियो में जाते हैं, नीच स्वभाव वाले पशु श्रेणी मे और सज्जन व अच्छे कर्म करने वाले, मनुष्य जन्म पाते है। इन तीनो योनियो मे भी अनेक भेद हैं जिन्हें जीव कर्मों के आधार पर प्राप्त करता है।[1] प्रश्न उठता है कि पुर्नजन्म मे जीव को अपने पूर्व जन्मो के कर्मो का स्मरण क्यो नही रहता। दयानन्द कहते हैं कि जीवात्मा अल्पज्ञ है अत वह पूर्व जन्मो का विस्मरण कर

१ सां० द० १-४९ व १-१५।
२ 'जीव कर्मों का साक्षी नहीं किन्तु कर्त्ता भोक्ता है'। सत्यार्थप्रकाश पृ० २३८।
३ वही, पृ० २५९।

देता है। इसके अतिरिक्त मन एक काल मे एक ही विषय का ज्ञान करता है। इस जन्म मे इसकी बातो मे लीन रहने तथा अज्ञान के कारण वह पूर्व जन्मो की घटनाओ को नही जानता। योगाभ्यास से मन के शुद्ध होने पर पूर्व जन्म को जीव जान सकता है। सेंट थोमस ईसाई प्रथानुसार कहते हैं कि प्रत्येक जन्म पर ईश्वर एक नए जीवात्मा का निर्माण करता है। यह सिद्धान्त इस्लाम के जीव नव-निर्माणवाद की तरह ही है। इससे परमात्मा की न्याय-व्यवस्था भग होती है। क्योकि परमात्मा बिना पूर्व-जन्म के कर्मों के आधार के स्वय अपनी इच्छा मे शुभ व अशुभ वातावरण मे किसी को सुखी व किसी को दु खी बनाता है। यहा प्रश्न होता है कि, जबकि अभी तक नवनिमित जीव ने कुछ किया ही नही, तब क्यो जन्म से व्यक्ति अच्छे व बुरे घरो व वातावरण मे पैदा होता है यह प्रश्न नव-निर्माणवाद के अनुसार नही सुलझाया जा सकता। दयानन्द के अनुसार ईश्वर भी किसी को बिना कर्म किये दण्डित व पुरस्कृत नही कर सकता अन्यथा ईश्वर न्यायी नही रहेगा।[1]

शरीरस्थ चेतना की तीन अवस्थायें—शरीर मे रहकर जीवात्मा तीन अवस्थाओ जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति मे रहता है। जाग्रत अवस्था मे जीव इन्द्रियो से कार्य करता तथा यथार्थ जगत् का ज्ञान करता है। स्वप्न मे मन के सस्कारो से विचित्र-विचित्र दृश्यो को देखता है, यहा इन्द्रियो का व्यापार बन्द हो जाता है। सुषुप्ति अवस्था मे गाढ निद्रा मे रहता है। जीव की सुषुप्ति अवस्था मे इन्द्रियो व मन के सस्कारो का खेल बन्द हो जाता है। इसमे जीव तमोगुण की गहनता के कारण अज्ञानी होता है परन्तु जीव की सत्ता रहती है। स्वामी जी कहते हैं सुषुप्ति अवस्था मे जीव कारण शरीर मे सम्पन्न होता है। कारण शरीर प्रकृति रूप होता है अत सब जीवो के लिये एक है। इसके अतिरिक्त स्वामी जी एक चौथी अवस्था भी मानते हैं वह तुरीय शरीर की है।[2] इसमे जीवात्मा समाधि अवस्था मे परमात्मा मे मग्न होता है। कतिपय विद्वान् दयानन्द द्वारा जीव की तीन अवस्थायें ही मानते हैं। परन्तु हमारा विचार है कि ये तीन

---

१ वही, पृ० ४०१।

२ वही पृ० २४८।

अवस्थायें शरीरस्थ जीव की हैं तथा चौथी तुरीय शरीर की अवस्था है जिसमे जीव अपने शुद्ध चेतन स्वरूप मे स्थित होता है। यहा दयानन्द जी का यही तात्पर्य है।

बन्ध व मोक्ष स्वभाव से नहीं—जीवात्मा स्वभाव से न बद्ध है न मुक्त। इस प्रकार का विचार दर्शन साहित्य मे प्रथम बार सुनाई पड रहा है। कतिपय विद्वान सांख्य दर्शन मे पुरुष को असग एव निष्क्रिय कहते हैं। स्वामी दयानन्द जीव निष्क्रियवाद को अच्छा नही समझते क्योकि इसमे कर्तृत्व के अभाव मे भोक्तृत्व नष्ट हो जाता है। जीव को प्रकृति से असंग भी नहीं माना जा सकता। असग मानने का तात्पर्य उसे स्वभाव से मुक्त मानना है, और जो जीव स्वभाव से मुक्त है तब वह बद्ध अवस्था मे नही आ सकता। इसके विपरीत यदि जीव को स्वभाव से बद्ध माना जाये तब बद्धता जीव का स्वभाव होने से वह मुक्त नही हो सकेगा।[1] इसलिये यही सिद्धान्त ठीक है जैसा स्वामी दयानन्द ने दिया है कि जीव को प्रकृति के सग से बद्धता आती है। जीवात्मा के बन्धन मे आने मे उसकी अपनी अल्पज्ञता ही मुख्य कारण है। इससे हर वस्तु अपने वास्तविक रहस्य को जीवात्मा से छिपा लेती है।

जीवात्मा, दूसरी तरफ जब सत्य ज्ञान की ओर झुकता है तथा एक-एक कर अविद्या के समस्त प्रभावो को हटाकर स्व मे शुद्ध ज्ञान, का प्रकाश करता है, तब अविद्या नष्ट होकर वस्तु का वास्तविक अर्थ जीव के सम्मुख आता है। ऐसी अवस्था में वह परमात्मा की ओर बढकर मुक्तावस्था के मार्ग मे निरन्तर अग्रसर होता है। कठोर तप व परमात्मा की उपासना इसे सत्य की ओर ले जाती है। स्वामी दयानन्द अधर्म, अविद्या व बुरे सस्कारो से दूर हटकर, अन्त:करण की शुद्धि, सत्य भाषण, विद्या, न्यायाचरण परमात्मा की उपासना आदि से मुक्ति की प्राप्ति का आदेश करते हैं।[2] पापो की क्षमा माग लेने पर ईश्वर हमे क्षमा

१ '(प्रश्न) बन्ध व मोक्ष स्वभाव से होता है या निमित्त से?।
(उत्तर) निमित्त से, क्योंकि जो स्वभाव से होता तो बन्ध व मुक्ति की निवृत्ति कभी नहीं होती'। वही पृ० २३०।

२ स० प्रकाश, पृ० २४१

कर देगा या किसी मत विशेष को स्वीकार करने पर, जैसा कि ईसाई व इस्लाम के मानने वाले कहते हैं, हमारे सारे पाप नष्ट हो जायेंगे, ऐसा स्वामी जी नही मानते। वरन् उनका यह दृढ मत है कि जीवात्मा पापो से तभी छूट सकता है जब वह सत्य का आचरण करे। वह पाप क्षमा करने के सिद्धान्त को अबौद्धिक कहते हैं। स्वामी जी कहते हैं कि धर्म से पुरुषार्थ कर ज्ञान की उन्नति करने, सबसे उत्तम साधनो को करने और जो कुछ करे वह सब पक्षपात-रहित न्याय धर्मानुसार ही करे इत्यादि साधनो से मुक्ति होती है।[1]

ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका मे स्वामी जी मुक्ति के लिए उपासना पर अधिक बल देते हैं। परमात्मा की उपासना से अन्त करण शुद्ध होकर सत्य ज्ञान को प्राप्त करने वाला हो जाता है।[2] परमात्मा की उपासना का फल यह नही है कि परमात्मा अपनी उपासना से प्रसन्न होकर हमारे पाप क्षमा कर देगा वरन् "स्तुति से ईश्वर मे प्रीति उसके गुण, कर्म, स्वभाव का सुधरना, प्रार्थना से निर-भिमानता, उत्साह व सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उस का साक्षात्कार होता है"।[3] दयानन्द जी के अनुसार ईश्वर मुमुक्षुओ से मार्ग मे प्रेरणा करने वाला है लेकिन विना जीवात्मा के अपने कठोर तप व पुरुषार्थ के जीव को मोक्ष नही मिल सकता।

मोक्ष

"जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है" (सत्यार्थ प्रकाश पृ० २३६)

भारतीय दर्शन मे प्राय सभी दार्शनिको ने जीवन की मुख्य समस्या दुख को सुलझाने के प्रयत्न किये हैं। और तो क्या, स्वय चारवाक दुखो से बचने का उपदेश करते हैं। क्या अनीश्वरवादी बौद्ध व जैन क्या षड्वैदिक दर्शन और उपनिषद सभी सासरिक दुखो से छूटने का उपदेश करते हैं। स्वामी दया-

---

१. वही पृ० २४१

२ दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २, पृ ४४४ ले० स्वामी दयानन्द

३ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १८०

नन्द इस उक्ति का कोई अपवाद नही है। उनकी विचारधारा भारतीय दर्शन के अगो से पृथक नही है। जो वास्तव मे जीवन की पहेली हो सकती है वही इनके दर्शन की भी मुख्य पहेली है। प्रश्नोत्तर के रूप मे स्वामी दयानन्द कहते हैं[1] —

प्र०--मुक्ति किसको कहते हैं ?

उ० —(दयानन्द) 'मुञ्चन्ति पृथग्भवन्ति जना यस्या सा मुक्ति' जिसमें छूट जाना हो उसका नाम मुक्ति है।

प्र०—किससे छूट जाना ?

उ०—जिससे छूटने की सब जीव इच्छा करते हैं।

प्र० —किससे छूटने की इच्छा करते हैं ?

उ०—जिसमे छूटना चाहते हैं।

प्र०—किससे छूटना चाहते हैं।

उ०—दुख से।"

ससार का प्रत्येक प्राणी जीवन के दुखो को दूर करना चाहता है। कोई नही चाहता कि उसे दुख प्राप्त हो, अत. सब प्राणियो की समस्त चेष्टायें दुख दूर करने के लिए ही होती हैं। सांख्य दर्शन कहता है कि मनुष्य का परम उद्देश्य दुखो का अत्यन्त नाश करना है।[2] ससार मे देखा जाता है कि थोडे प्रयत्नो द्वारा थोडे दुख दूर होते हैं, अधिक प्रयत्न से अधिक काल तक अधिक दुख दूर होते हैं अत यदि दुख दूर करने के लिए अत्यन्त पुरुषार्थ किया जाय तो दुखो का अत्यन्त नाश भी किया जा सकता है। दुखो का अत्यन्त नाश ही मोक्ष है। योग दर्शन भी दुखो को दूर करना जीव का परम कर्त्तव्य बताता है। महर्षि पातजलि हेय (दुख), हेयहेतु (दुखो का कारण अविद्या), हान (दुख नाश-मोक्ष) तथा हानोपाय (दुख निरोध का अष्टाग मार्ग) इन चार सत्यो को बताता है। इनमे दुखो के नाश को कैवल्य बताया है।[3]

---

१ सत्यार्थ प्रकाश पृ० २४१

२ सा० सूत्र, १–१

३. देखिये योग सूत्र, साधनपाद सू० १६, १७, २४, २५ व २६

स्वामी दयानन्द के अनुसार दुखो का कारण जीव की अविद्या है। जीवात्मा अविद्या के वशीभूत होकर जन्म मरण के बन्धन मे आता तथा दुखो को प्राप्त होता है। अविद्या का क्या स्वरूप है ? स्वामी दयानन्द योग सूत्र के हवाले से कहते हैं कि अनित्य मे नित्य, अपवित्र मे पवित्र, दुख मे सुख तथा अनात्मा में आत्मा की बुद्धि करना अविद्या है।[1] अर्थात् ससार के पदार्थों मे उनके वास्तविक स्वरूप के विपरीत बुद्धि रखना अज्ञान है। अविद्या से छूटने का दयानन्द एक ही उपाय बताते हैं और वह है विद्या की प्राप्ति करना। विद्या का अर्थ है 'वेत्ति यथावत्तत्त्व पदार्थ स्वरूप यया सा विद्या' अर्थात् जिससे पदार्थों के स्वरूप का यथावत् ज्ञान होता है वह विद्या है।[2] विद्यावान् व्यक्ति अनित्य, अशुचि, दुख व अनात्मा मे नश्वरता अपवित्रता, दुख एव अनात्मा को ही देखता है तथा नित्य, शुचि, सुख व आत्मा मे नित्यता, पवित्रता, आनन्द व आत्मा को ही मानता है। यथार्थ ज्ञान होने पर जीवात्मा के मोह व ससार से रागादि का नाश हो जाता है। इससे उसके कर्मो का क्षय हो जाता है। कर्मों के क्षय से भविष्य के जीवन का आधार ही समाप्त हो जाता है।

मुक्ति के साधन—ससार के बन्धनो से छूटकर मुक्ति प्राप्त करने के लिये, स्वामी जी परमात्मा की स्तुति प्रार्थना, उपासना, साधन चतुष्ट्य एव योगाभ्यास का निर्देश करते हैं। परमात्मा की स्तुति से उसके गुण, कर्म, स्वभाव से जीव के गुण, कर्म, स्वभाव सुधरते हैं। प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह व परमात्मा का सहाय प्राप्त होता है एव उपासना से परब्रह्म का मेल व साक्षात्कार होता है। साधन चतुष्ट्य, सत्य असत्य वस्तुविवेक, वैराग्य कर्म, शमदमादि षट् सम्पत्ति एव मुमुक्षत्व हैं। योगाभ्यास अर्थात् ध्यान शक्ति से मनादि सब आन्तरिक पदार्थों का साक्षात्कार होता है।'[3]

उपरोक्त साधनो मे सबसे प्रमुख सत्याचरण है। दयानन्द ने मोक्ष की प्राप्ति के लिये जितना सत्य के आचरण पर बल दिया है उतना किसी अन्य साधन पर

---

१ सत्यार्थप्रकाश पृ० २३६।
२ वही पृ० २३६।
३ 'नित्य प्रति न्यून से न्यून दो घण्टा पर्यन्त मुमुक्षु ध्यान अवश्य करें जिससे भीतर के मन आदि पदार्थ साक्षात् हों।' वही पृ० २५०।

नहीं दिया। वे कहते हैं कि दुःख का मूल कारण पापाचरण, मिथ्याभाषण आदि है तथा सुख का मूलकारण सत्यभाषण आदि धर्माचरण है। स्वामी दयानन्द अपने दर्शन में मुक्ति के किसी भी ऐसे साधन को स्वीकार नहीं करते जिसमें चित्त शुद्धि, गुण कर्म व स्वभाव की पवित्रता पर ध्यान न देकर केवल शारीरिक शुद्धि तथा कर्मकाण्डमात्र पर बल दिया गया हो।

मुक्ति में जीवात्मा की स्थिति—मुक्तावस्था में जीवात्मा का क्या स्वरूप होता है? अर्थात् मुक्ति में जीवात्मा का अपना अस्तित्व रहता है या वह ब्रह्म में लीन हो जाता है? वह मुक्ति में आनन्द में किस प्रकार 'सम्पन्न रहता है तथा मुक्ति में जीवात्मा के साथ शरीर रहता है या नहीं? और यदि रहता है तो किस प्रकार का? वह किस प्रकार का होता है? इत्यादि प्रश्न महत्वपूर्ण हैं। अब हम यहाँ दयानन्द के मन्तव्यानुसार इसका विवेचन करेंगे।

दयानन्द कहते हैं कि "जब जीव के हृदय की अविद्यारूपी गाँठ कट जाती है, उसके सारे संशय छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं तभी उस परमात्मा, जो कि अपने आत्मा के भीतर और बाहर व्याप्त हो रहा है, उसमें निवास करता है।"[1] दयानन्द का यहाँ स्पष्ट कथन है कि मुक्ति में जीवात्मा की अविद्या नष्ट हो जाती है तथा कर्म बन्धन अर्थात् संस्कारों से मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप में होता है वह मुक्ति में ब्रह्म में स्थित होता है, जैसे आकाश में समस्त पदार्थ स्थित होते हैं वैसे ही मुक्ति में जीवात्मा अति सूक्ष्म सर्वत्र व्यापक परमात्मा में स्थित होता है।

कुछ विद्वान, विशेष रूप से शांकर मतवादी नवीन वेदान्ती, मुक्ति में जीवात्मा का ब्रह्म में लय होना मानते हैं। उनके अनुसार जीव ब्रह्म का ही रूप होने से ब्रह्म से पृथक नहीं है अतः अविद्या की उपाधि के नाश से जीव मुक्ति में अपने यथार्थ स्वरूप ब्रह्म में लीन हो जाता है। दयानन्द इस मत को सर्वथा असंगत बताते हैं। उनका इसमें तर्क है कि यदि मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय हो जाता है तो मुक्ति का सुख कौन भोगेगा? और मुक्ति का उपदेश एवं साधन सब व्यर्थ व निष्फल हो जायेंगे। ऐसी अवस्था को महर्षि दयानन्द मुक्ति

---

१ सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५६।

नही वरन् जीव का प्रलय अर्थात् नाश बताते हैं।[1] अद्वैतवादियो के विरुद्ध दयानन्द का यह तर्क अत्यन्त शक्तिशाली है। मुक्ति मे जीवात्मा की वर्तमानता को दयानन्द एक उपनिषद् मन्त्र से बताते हुए कहते हैं कि "जो जीवात्मा अपनी बुद्धि व आत्मा मे स्थित सत्य ज्ञान और अनन्त ब्रह्म को जानता है, वह उस व्यापक रूप ब्रह्म मे स्थित हो के उस विपश्चित अनन्त विद्यायुक्त ब्रह्म के साथ सब कामो को प्राप्त होता है।[2]

इसी प्रकार दयानन्द बौद्धो के निर्वाण की आलोचना करते हैं। बौद्धो के अनुसार आत्मा रूप, विज्ञान, वेदना, सस्कार व सज्ञा इन पाच स्कन्धो का सघातमात्र है। निर्वाण प्राप्त करने पर यह सघात समाप्त हो जाता है इसी से बौद्ध दर्शन मे निर्वाण का अर्थ बुझ जाना किया है। यदि निर्वाण की अवस्था मे जीवात्मा का नाश हो जाता है तो निर्वाण का क्या लाभ ? फिर निर्वाण मे किसके दु खो का नाश हुआ और कौन मुक्ति मे आनन्द का भोग करेगा ? बौद्धो के निर्वाण मे दु खो के साथ-साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है। इससे बौद्धो के निर्वाण को हम दु खो के उच्छेद के स्थान पर जीव का उच्छेद कहें तो अच्छा रहेगा। बौद्धो का निर्वाण दु खो का अभावमात्र होने से अभावात्मक है।

मध्व आदि कुछ दार्शनिक मुक्ति मे जीवात्मा का स्वर्ग मे निवास बताते हैं। उनके अनुसार स्वर्ग एक पृथक लोक है जहा जीव रहता है। यह धारणा एकदम पौराणिक है। स्वामी दयानन्द की मुक्ति जीव का स्वर्ग मे निवास नही है जहा सांसारिक जीवन के सारे सुख प्राप्त हैं। मध्व इत्यादि दार्शनिको द्वारा चार प्रकार की मुक्ति कही गयी है। सालोक्य अर्थात् एक ही लोक मे जीव व ईश्वर का निवास होना, सामीप्य अर्थात् सेवक के समान ईश्वर के पास रहना, सानुज्य अर्थात् छोटे भाई के सदृश्य ईश्वर के साथ रहना, सारूप्य अर्थात् ईश्वर से सयुक्त हो जाना, यह चार प्रकार की मुक्ति है।[3] मुक्त जीवात्माओ मे इस

१ वही, पृ० २५६।

२ वही, पृ० २५७।

३ History of Indian Philosophy.
S N Dass Gupta, V IV, P 318.

प्रकार का भेद मध्व को जीवात्माओं के गुण व स्वरूप में भेद के कारण मानना पड़ा अन्यथा उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। परन्तु स्वामी जी जीवों के स्वरूप मे आपसी भेदो को नहीं मानते। उनके मत मे प्रत्येक जीव समान है तथा हर जीव मुक्ति पाने का अधिकारी है। मध्व की चार प्रकार की मोक्ष की आलोचना मे स्वामी दयानन्द कहते हैं "जैसी तुम्हारी चार प्रकार की मुक्ति है वैसी तो कृमि, कीट, पतग पश्वादिको की भी स्वत सिद्ध प्राप्त है, क्योंकि ये जितने लोक हैं वे सब ईश्वर के हैं इन्हीं मे सब जीव रहते है इसलिए 'सालोक्य' मुक्ति सबको अनायास ही प्राप्त हैं। सामीप्य' ईश्वर सर्वत्र व्याप्त होने से सब उसके समीप हैं इसलिए सामीप्य मुक्ति स्वत सिद्ध है। सानुज्य' जीव ईश्वर से सब प्रकार छोटा और चेतन होने से स्वत बन्धुवत है इससे सानुज्य मुक्ति भी विना प्रयत्न के सिद्ध है। और सब जीव सर्वव्यापक परमात्मा मे व्याप्य होने से सयुक्त हैं, इससे 'सानुज्य' मुक्ति भी स्वत सिद्ध है'।[1] स्वामी दयानन्द के दर्शन में कहीं भी पौराणिक तत्त्व नही है। उन्होंने दर्शन को विशुद्ध, व्यावहारिक एव बौद्धिक स्तर पर रखा है। यदि कहीं किसी को प्रमाण माना है तो वेद उपनिषद् व षड्-शास्त्रो को। मध्व, वल्लभ व निम्बार्क का दर्शन भक्ति प्रधान है, इनकी विचार-धारा देवत्व प्रधान है। स्वामी दयानन्द के विचार मे मुक्त पुरुष परमात्मा में रहता है कही अन्यत्र नही रहता। जब जीव की अविद्यादि बन्धन की गाठें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है।

मुक्ति में जीवात्मा के साथ किसी प्रकार का शरीर रहता है या नहीं ? कुछ विद्वान मोक्ष मे जीवात्मा के साथ सूक्ष्म शरीर को मानते हैं। इसमे उनका तर्क है कि सूक्ष्म शरीर के अभाव मे जीवात्मा मोक्ष का आनन्द कैसे भोगेगा। महर्षि दयानन्द मुक्ति मे जीवात्मा के साथ किसी भी भौतिक सग को नहीं मानते। महर्षि दयानन्द अपने दर्शन मे चार शरीरो को बताते हैं 'एक स्थूल शरीर' जो यह दीखता है, दूसरा पाच प्राण, पाच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्मभूत और मन बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वो का समुदाय 'सूक्ष्म शरीर' कहाता है, इसके दो भेद हैं—एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतों के अंशो से बना है, दूसरा स्वाभाविक

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २५१।

गो जीव के स्वाभाविक गुण रूप है यह अभौतिक शरीर मुक्ति मे भी रहता है, इसी से जीव मुक्ति मे सुख को भोगता है। तीसरा कारण जिसमे सुषुप्ति अर्थात् गाढनिद्रा होती है। ''चौथा तुरीय शरीर कहाता है जिसमे समाधि मे परमात्मा के आनन्दस्वरूप मे मग्न जीव होते हैं।''[1] यहा दयानन्द मुक्ति मे जीवात्मा के साथ स्थूल शरीर के साथ-साथ सूक्ष्म भौतिक शरीर का अभाव भी मानते हैं। यहा स्वामी दयानन्द वेदान्त दर्शन के तीन महानाचार्य बादरि, व्यास एव जैमिनि मुनि का मत देते है कि बादरि, जो व्यास जी के पिता थे, मुक्ति मे जीव के साथ मन का भाव मानते हैं परन्तु इन्द्रिय आदि का अभाव मानते हैं।[2] तथा जैमिनि आचार्य मुक्ति मे जीव के साथ मन का भाव तो मानते ही हैं साथ ही इन्द्रियो की शुद्ध शक्ति, प्राणादि एवं सूक्ष्म शरीर को भी विद्यमान मानते हैं।[3] परन्तु महर्षि बादरायण भाव और अभाव के बीच का मार्ग अपनाते हैं। उनके अनुसार मुक्तावस्था मे जीव को सत्य संकल्पादि का भाव रहना है परन्तु क्लेश, अज्ञान और अशुद्धि आदि दोषो का अभाव रहता है।[4] स्वय स्वामी दयानन्द का मत है कि मुक्ति मे 'उसके (जीव के) सत्य सकल्पादि स्वाभाविक गुण सामर्थ्य सब रहते हैं परन्तु भौतिक संग नही रहता।[5] उनका विचार है कि मुक्तावस्था मे जीवात्मा के साथ भौतिक शरीर तथा इन्द्रियो के गोलक नही रहते किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं। मुक्ति मे मनादि के अभाव मे जीवात्मा किस प्रकार ससार का ज्ञान करता है, इस विषय पर शतपथ ब्राह्मण कहता है, जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने केसकल्प से चक्षु स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिए घ्राण, संकल्प-विकल्प करने के समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित् और अहकार रूप अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति मे हो जाता है।'[6] जीवात्मा अपनी सकल्प

१ वही, पृ० २४८।
२ 'अभावंबादरिराह ह्येवम्।' वे० सू०, ४-४-१०
३ 'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्।', वे० सू०, ४-४-११
४. 'द्वादशाहवदुभयविध बादरायणोऽतः।' वे० सू०, ४-४-१२
५ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४३।
६ 'श्रुण्वन् श्रोत्र भवति'' चेतयश्चित्तम्भवत्यह कुर्वाणोऽहकारो भवति। शतपथ कां० १४।

शक्ति से ब्रह्म में स्वच्छन्द विचरता तथा आनन्द का भोग करता है। स्वामी दयानन्द के मत में जीवात्मा का भौतिक संग अर्थात् सूक्ष्म शरीर जो कि सतरह तत्त्वों का बना है मोक्ष प्राप्ति तक ही साथ रहता है लेकिन मुक्ति में सूक्ष्म शरीर भी नहीं जाता।[1]

महर्षि दयानन्द की मुक्ति की विचारधारा का आधार वेद व उपनिषद् हैं। यद्यपि इन्हीं उपनिषद् ग्रन्थों के आधार पर शंकराचार्य ने मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय बताया है तथापि इन उपनिषदों में अनेक स्थलों पर मुक्ति में जीवात्मा का ब्रह्म से पृथक अस्तित्व का वर्णन भी प्राप्त होता है, जैसे मुण्डकोपनिषद् कहता है कि 'जीवात्मा, पाप पुण्यों को झाड़कर ब्रह्म की परम समता को प्राप्त होता है,।[2] (परन्तु एक नहीं होता)। तथा परम ब्रह्म का जानने वाला ब्रह्म के समान महान व ऐश्वर्यशाली हो जाता है।[3]

जीव को ब्रह्म से पृथक व नित्य मानने पर मुक्ति अवस्था की सार्थकता है। मुक्ति अवस्था में जीव का ब्रह्म में लय कहना बुद्धि विरुद्ध कल्पना है। क्योंकि यदि जीव का लय माना जाय तब यह प्रश्न उठेगा कि मुक्ति का भोक्ता कौन होगा? ईश्वर आप्तकाम होने से न कर्त्ता है न भोक्ता, प्रकृति जड़ होने से कर्त्तृत्व व भोक्तृत्व रहित है। इससे केवल जीवात्मा ही भोक्ता व कर्त्ता रह जाता है। उपनिषदों में मुक्ति में आनन्द का भाव भोक्ता के अर्थ से ही कहा है अन्यथा श्रुतिवाक्य भी निरर्थक हो जायेंगे।

मुक्ति से पुनरावृत्ति

मोक्ष का तात्पर्य है सांसारिक दुःख, सुख व जन्म-मरण से मुक्त होना, "जिससे निवृत होकर फिर संसार में नहीं आता।"[4] लेकि स्वामी दयानन्द यहां पर विश्व-दर्शन को एक नया विचार देते हैं कि मुक्ति से जीवात्मा एक निश्चित

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ–२४८।

२. 'तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरंजन परमं साम्यमुपैति'। मु० उ०, ३-१-३

३. 'स योहवै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। मु० उ० ३-२-९

४. 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'। गीता, १५-६।

अवधि तक परमात्मा मे मुक्ति के आनन्द को भोग कर पुन जन्म-मरण के चक्र मे आ जाता है।

दयानन्द एक वेद मन्त्र के भाष्य मे अपने मत का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं, "हम इस स्वप्रकाश स्वरूप अनादि सदामुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो हमको मुक्ति मे आनन्द भुगाकर पृथिवी मे पुन माता पिता के सम्बन्ध मे जन्म देकर माता-पिता का दर्शन कराता है।[1] अर्थात् परमात्मा मुक्ति मे मोक्षानन्द को भुगाकर पुन जीव को ससार मे भेजता है। न्याय व साख्य मोक्ष को दु खो का अत्यन्त अभाव कहते हैं। इनके अनुसार 'मुक्तावस्था वह है जहा पर दु खो का अत्यन्त अभाव हो जाये।[2] परन्तु अत्यन्त का क्या अर्थ है ? यह प्रश्न विवादास्पद है। कुछ विद्वानो के अनुसार पूर्ण अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं, परन्तु स्वामी दयानन्द अत्यन्त शब्द के अर्थ बहुत मे लेते है वे कहते हैं कि "यह आवश्यक नही कि अत्यन्त शब्द अत्यन्ताभाव ही का नाम होवे।"[3] बल्कि 'बहुत' का भी हो सकता है। तथा अत्यन्त को बहुत के अर्थ मे स्वीकार करने से—जो तर्कसगत प्रतीत होता है—मुक्ति को अनन्त काल तक रहने वाली नहीं माना जा सकता। दयानन्द मुक्ति से जीव की पुनरावृत्ति मुख्य रूप से दो आधार पर मानते है। प्रथम तो जीव का सामर्थ्य अल्प है अनन्त नही। अत जीवात्मा के मुक्ति के साधन व सामर्थ्य सब अल्प हैं इनसे उनका फल भी सीमित होना चाहिये। अल्प सामर्थ्य व प्रयत्न का अनन्त फल कैसे हो सकता है और यदि हठपूर्वक इसे मानें तो इससे सामान कर्म-फल का सिद्धात नष्ट हो जायेगा। अत जीव के अल्प प्रयत्नो से अनन्त कालिक मुक्ति नही मिल सकती।

दूसरे जीवो की सख्या भी अनन्त नही हैं। दयानन्द जीवों की सख्या अनेक मानते हैं अनन्त नही। यह हो सकता है कि हम उन्हे न गिन सकें लेकिन लोक

---

१ सत्यार्थप्रकाश पृ० २४५।

२ (1) 'तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्ग.।' न्याय, १-१-२२।

(11) 'अथ त्रिविध दुखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थ.। सा०सू० १-१।

३ सत्यार्थ प्रकाश पृ० २४५।

मे कर्म व्यवस्था पाये जाने से जीवात्मा संख्या मे अनन्त नही माने जा सकते। श्रुति कहती है कि महाराज वरुण के यहा जीवो की पलको के वाल तक गिने हुये है। एव यह ससार उस परम पुरुष के मानो एक देश मे हो रहा है, परन्तु ब्रह्म इससे वहुत अधिक है।[1] यदि जीवात्मा सख्या मे अनन्त होते तो अनन्त परमात्मा के अनन्त देश मे फैले हुये होते। और यदि श्रुति के आधार पर यह मान लिया जाय कि जीव सख्या मे अनन्त नही हैं, तव प्रश्न उठता है कि जीव अनन्त काल से मुक्त हो रहे हैं और अनन्त काल तक होते रहेंगे तव क्यों न सृष्टि कभी जीव रहित हो जाएगी। इनका यदि यह उत्तर दिया जाय कि क्योंकि सृष्टि अव तक जीव रहित नही हुई इसलिए आगे भी जीव रहित नहीं होगी। तव यह कोई आवश्यक नहीं। इस पर भी यदि आलोचक कहे कि परमात्मा सृष्टि का उच्छेद न होने देने के लिये जीवो का निर्माण कर देगा, इससे जीवो का अभाव नहीं होगा। इसके उत्तर मे स्वामी जी कहते हैं "जो ऐसा होवे तो जीव अनित्य हो जाये क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश अवश्य होता है।"[2] इससे जीवात्मा की नित्यता का वोध होता है। अत हमे यह मानना ही पडता है कि जीव सख्या मे अनेक है अनन्त नहीं। इस विषय पर वैदिक दर्शन भी दयानन्द के साथ है। साख्य व वैशेषिक दोनों ही कर्मफल की व्यवस्था पाये जाने से जीवो को सख्या मे वहुत मानते हैं परन्तु अनन्त नही।[3]

उपनिषदों मे भी यदाकदा स्वामी दयानन्द के समर्थन मे मन्त्र मिलते है जैसा कि मुण्डक कहता है 'मुक्त जीव ब्रह्म लोक मे मुक्ति के आनन्द को

---

१ 'पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'। यजुर्वेद, ३१-३

२ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४६।

३. (i) 'पुरुषवहुत्व व्यवस्यातः। सां० सू०, ६-४५
(ii) 'व्यवस्थातोनाना'। वै० सू० ३-२-२०।

भोग कर महाकल्प के पश्चात् पुन. ससार मे आते है।"[1] महाकल्प का काल स्वामी जी ३६००० वार सृष्टि उत्पत्ति और प्रलय के मामान समय को कहते हैं। जबकि एक सृष्टि की आयु ४ अरब ३२ करोड वर्ष है और इतना ही प्रलय का समय है। यह एक दीर्घ-काल है। इतनी लम्बी कालावधि को ध्यान मे रखते हुए मुक्ति से पुनरावृत्ति को जन्म-मरण के समान व पुराणो की स्वर्ग की कल्पना के समान नही कहा जा सकता। साख्य दर्शन भी मुक्ति को अनन्त काल तक रहने वाली नही कहता।[2] साख्य के इस सूत्र के भाष्य मे विज्ञान भिक्षु स्पष्ट कहते हैं कि किसी भी पुरुष के वन्ध का अत्यन्त उच्छेद नही होता।[3] हमारा यह विचार है कि यदि जीव के स्वरूप को स्वामी दयानन्द की मान्यतानुसार मान लिया जाय तव मुक्ति से पुनरावृत्ति स्वय सिद्ध है तथा यहा स्वामी जी वैज्ञानिक हैं एव बुद्धि के अकाट्य तर्कों पर स्थिर हैं। इससे हमे उनकी विचारधारा को स्वीकार करना पडता है। परन्तु यहाँ पर हम यह भी कह देना उचित समझते हैं कि जहा उपनिषदो मे अनेक श्रुतियें मुक्ति से पुनरावृत्ति का वर्णन करती हैं वहा इन ग्रन्थो मे अनेक ऐसी भी श्रुतियें हैं जिनमे इसके विपरीत विचार पाये जाते हैं। उपनिषदें स्पष्ट कहती हैं 'जो विद्यापूर्वक जानकर श्रद्धा से उपासना करते हैं वे प्रकाशमय लोको को प्राप्त हो पश्चात् ब्रह्म को प्राप्त होते हैं जहा से फिर नही वापिस आते।"[4] 'ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष को शाश्वत शान्ति प्राप्त हो जाती है"।[5] इसी को गीता इस प्रकार कहती है कि मुझे

---

१ 'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।'
मु० उ० ३-२-६

२ 'इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेद·।' सा० सू० १-१५६।

३ 'सर्वत्र काले वन्धस्यात्यन्तोछेद. कस्यापि पुंसो नास्ति।' सा सू०, १-१५६ पर विज्ञानभिक्षु भाष्य।

४ (1) 'तेषा न पुनरावृत्ति'। वृ०, ६—२—१५
(ii) 'यस्माद् भूयो न जायते'। कठ०, १—३—८
(iii) 'तस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोध.'। प्रश्न०, १—१०

५ 'तेषा सुख शाश्वत नेतरेषाम्'। कठो०, २—२—१२

प्राप्त होकर हे अर्जुन पुनर्जन्म नहीं होता।"[1] सत्यार्थप्रकाश मे स्वामी जी इस प्रसग को एक प्रश्न के रूप मे उठाते हैं प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि 'न च पुरावर्तते' (छा० ८-१५-१ एव 'अनावृत्ति. शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात् '(शारीरिक सूत्र, ४-४-२२) इन वाक्यो से पुनरावृत्ति का निर्णय किया गया है। इसके उत्तर में दयानन्द वेद व उपनिषद के अन्य मत्र तो उपस्थित करते हैं लेकिन इस मत्र व सूत्र की व्याख्या पुनरावृत्ति मे नहीं करते। इससे विद्वानो के मस्तिष्क मे यह विचार आ सकता है कि उपनिषद् व दर्शन शास्त्रो मे कुछ स्थल ऐसे अवश्य हैं जहाँ मुक्ति से पुनरावृत्ति नही मानी। इस स्थल पर हम इन वाक्यों को स्पष्ट, करना चाहते हैं कि ये मुक्ति से पुनरावृत्ति के विरोधी वाक्य नहीं हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में विषय इस प्रकार है, स खल्वेव वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्म लोकमभि-सम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' अर्थात् जो इस प्रकार वर्तता है वह आयु पर्यन्त ब्रह्मलोक मे रहता है तथा वापस नही आता। इस स्थल पर यावदा-युषं शब्द ब्रह्मलोक मे मुक्त जीव के रहने की अवधि के लिये आया है। इस मन्त्र के भाष्य में स्वामी शकराचार्य जी भी कुछ इसी प्रकार कहते हैं। वह कहते हैं "कि अर्चिरादि मार्ग से कार्य-ब्रह्म के लोक को प्राप्त हो जब तक ब्रह्मलोक की स्थिति रहनी है तब तक वह वही रहता है उसका नाश होने से पूर्व वह नहीं लौटता।" ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मलोक (मुक्ति अवस्था मे जहा जीव रहता है) की आयु को स्वयं शकर भी मानते थे। हमारे विचार से यहाँ ब्रह्मलोक की आयु का प्रसग ही नहीं उठता क्योंकि ब्रह्म तो अनादि है तथा ब्रह्म मे सम्पन्न होने को ही जीव द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति करना कहा है इसमे ब्रह्मलोक सदैव वर्त-मान रहता है। हा जीव की मुक्ति की आयु समाप्त होने पर अवश्य उनकी ब्रह्म-लोक से वापसी होती है। इसी से इस मत्र से यावदायुष शब्द मुक्ति की आयु के लिये आया है कि मुक्ति की अवधि (आयु) पर्यन्त मुक्त जीव वापस नहीं आता। शारीरिक सूत्र 'अनावृत्ति. शब्दात्' का अर्थ भी यहा यही है कि जिस प्रकार श्रुति अनावृत्ति का विधान करती है उसी प्रकार सूत्रकार भी अनावृत्ति को मानता है। अर्थात् श्रुति आयु पर्यन्त अनावृत्ति मानती है अत ब्रह्मसूत्र भी श्रुति अनुकूल

१. 'मामुपेत्यनु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'। गीता ८–१६

पुनरावृत्ति को मानते हैं। अब प्रश्न यह है कि मुक्ति की वह आयु क्या है जिसे यावदायुष; कहा गया है? इसका उत्तर हमे मुण्डकोपनिषद् मे मिलता है 'ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे। ३-२-६। अर्थात् वे मुक्ति जीव परान्तकाल (महाकल्प) पर्यन्त ब्रह्मलोक मे रहकर वापस आ जाते हैं। और महाकल्प की अवधि हम पीछे ही बता आये हैं कि यह ३६००० सृष्टि व प्रलय होने के समान अत्यन्त दीर्घकाल है।

दयानन्द व अन्य वैदिक दार्शनिक

शाकर मत का खण्डन—अद्वैत वेदान्त जीवात्मा को सनातन तो मानता है परन्तु परब्रह्म के ही एक रूप मे। अविद्योपादि से ब्रह्म जीवरूप मे भासता है। इस मत मे ब्रह्म एव अविद्या अथवा माया दो ही पदार्थ अनादि हैं। इस पर स्वामी दयानन्द माया के विषय मे वही पुराना प्रश्न उठाते हैं जोक सदैव से अद्वैत एव द्वैतवादियो के मध्य विवाद का विषय है कि यह माया क्या है? अद्वैतवाद मे माया एक भ्रामक शक्ति है जो अविद्यारूप मे ब्रह्म को एक से अनेक, ज्ञानी से अज्ञानी, सर्वज्ञ से अल्पज्ञ, आप्तकाम से कामनासहित एव राग-द्वेष से मुक्त को रागद्वेषी बना देती है। फिर जीव की सिद्धि बिना ब्रह्म मे अज्ञान आये नही सिद्ध हो सकसी इससे ब्रह्म मे अज्ञाब सिद्ध होता है और यदि उसमे अज्ञान है तो स्वामी जी इस आपत्ति को उठाते हैं कि 'जो उसके एक देश मे स्वाश्रय और स्वविषयक अज्ञान अनादि सर्वत्र मानोगे तो सब ब्रह्म शुद्ध नही हो सकता। और जब एक देश मे अज्ञान मानोगे तो वह परिच्छिन्न होने से इधर-उधर आता जाता रहेगा। जहा-जहा जायेगा वहा-वहा का ब्रह्म अज्ञानी और जिस-जिस देश छोडता जायेगा उस-उस देश का ब्रह्म ज्ञानी होता रहेगा तो किसी देश के ब्रह्म को अनादि शुद्ध ज्ञानयुक्त न कह सकोगे।'[1] इस पर यदि ब्रह्मवादी यह कहे कि अज्ञान ब्रह्म के एक देश मे रहता है इसलिये सारे ब्रह्म के अज्ञानी होने का प्रसग नही उठता तो स्वामी जी उत्तर देते हैं कि "एक ठिकाने अज्ञान व दुख होने से सब ब्रह्म को अज्ञान व दुखी हो जाना चाहिये'।[2] फिर क्या इससे ब्रह्म का स्वरूप खण्डित न हो जायेगा।

१ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १६६

२. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३०१

अद्वैतवादी अविद्या को अज्ञानमात्र कहते हैं, इस पर प्रश्न उठता है कि अविद्या किसके आश्रय में रहती है, यदि कहें ब्रह्म के, तब ब्रह्म अज्ञानी हुआ और यदि कहे जीव के आश्रय में तब अन्योन्याश्रयदोष लग जाता है क्योंकि जीव स्वयं अविद्या का कार्य है। अविद्योपाधि से पूर्व जीव ब्रह्म था। तब जीव अविद्या से और अविद्या जीव के आश्रय रही, यह अन्योन्याश्रय दोष है। इसके अतिरिक्त प्रश्न उठता है कि माया द्रव्य है या गुण? जो द्रव्य है तो द्वैतवाद हो जायेगा और यदि गुण है तो किसका? माया प्रपंचात्मक शक्ति एवं अज्ञान होने से ब्रह्म का गुण नहीं हो सकती। इस पर यदि वेदान्ती कहे कि माया सतासत् है तब यह स्वयं में विरोध है, क्योंकि कोई वस्तु या तो सत् है वा असत्, दोनों नहीं हो सकती। और यदि दुराग्रह से माया को सतासत् से विलक्षण अनिर्वचनीय मान लिया जाय तो वह ब्रह्म के समान हो गयी क्योंकि शांकर मत में ब्रह्म भी सतासत् से परे अनिर्वचनीय है। अतः तब, क्या यह मायावाद का खण्डन मात्र नहीं हो जायेगा? शंकराचार्य जी इन प्रश्नों का स्वयं भी कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सके। तथ्य यह है कि जिन प्रश्नों का उत्तर शंकर नहीं दे पाते उन्हें उन्होंने अनिर्वचनीय कह दिया। वास्तव में, शंकर माया की अनिर्वचनीय दीवार के पीछे अपने को अपने विरोधियों के प्रश्नों की बौछार से बचाते हैं। और इस रूप में हम डा० राधाकृष्णन के शब्दों में कह सकते हैं शंकर का मत 'बौद्धिक भ्रम का अति स्वच्छ एवं सुन्दर उदाहरण है।'[1]

अद्वैताचार्य का कथन है कि जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब सरोवर में पड़ता है परन्तु इससे चन्द्रमा की कोई हानि नहीं होती, जैसे जल के हजारों बर्तनों में सूर्य के पृथक्-पृथक् हजारों प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होते हैं, बर्तनों के नष्ट होने पर प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाते हैं, परन्तु इसका सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म के प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में पड़ते हैं इससे न ब्रह्म अज्ञानी होता है और न विकारी। इसके उत्तर में स्वामी दयानन्द वेदान्तियों से कहते हैं कि 'यह दृष्टांत तुम्हारा व्यर्थ है, क्योंकि सूर्य आकारवाला, जलकुंड भी साकार

---

१. 'Shankar's view seems to be a finished example of learned error' I. P II, P 659, S Radhakrishanan.

हैं। सूर्य जल-कुंड से भिन्न और सूर्य से जल-कुंड भिन्न हैं तभी प्रतिविम्ब पडता है'।[1] तात्पर्य यह है कि आकारवान् पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब सम्भव है निराकार का नही। इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्बी और जिस पर प्रतिविम्ब पडता है वे दो पृथक् वस्तुएं होनी चाहिये। परन्तु अद्वैतवाद मे ब्रह्म ही एक सत्ता है जो निराकार है। स्वामी जी का कहना है कि 'परमेश्वर के निराकार, सर्वत्र आकाशवत् व्यापक होने से ब्रह्म से कोई पदार्थ व पदार्थों से ब्रह्म पृथक् नही हो सकता और व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से एक भी नही हो सकता। जो एक हो तो व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध कभी नही घट सकता।[2] और जो वेदान्ती अन्त-करणोपाधि से ब्रह्म को जीव माने तब दयानन्द उत्तर देते है कि 'तुम्हारी बात बालक के समान है। अन्त:करण चलायमान, खण्ड-खण्ड और ब्रह्म अचल और अखण्ड है। यदि तुम ब्रह्म और जीव को पृथक्-पृथक् न मानोगे तो इसका उत्तर दीजिये कि जहा-जहां अन्त:करण चला जायेगा वहा-वहा के ब्रह्म को अज्ञानी कर देवेगा वा नही ? जैसे छाता प्रकाश के बीच मे जहा-जहा जाता है वहा-वहां के प्रकाश को आवरणयुक्त और जहां-जहा मे हटता है वहा-वहा के प्रकाश को आवरणरहित कर देता है वैसे ही अन्त करण ब्रह्म को क्षण-क्षण मे ज्ञानी, अज्ञानी, बद्ध और मुक्त करता जायेगा'।[3] फिर इस मत से स्मृति की सत्ता बनाये रखना भी कठिन हो जायेगा क्योकि यहा के ब्रह्म ने जो देखा व सुना उसका उससे अन्य देशस्थ ब्रह्म को स्मरण न होवेगा। और जो यह उत्तर दिया जाय कि ब्रह्म तो एक है इससे स्मरण हो जावेगा तब दयानन्द कहते हैं तब तो एक ठिकाने अज्ञान व दुख होने से सब ब्रह्म को दुख व अज्ञान भी हो जाना चाहिये'।[4] परन्तु लोक मे सर्वथा इसके विपरीत है। एक के दुख-सुख का दूसरे को अनुभव नही होता। यदि अद्वैतवाद के इस अन्त करण अवच्छेदवाद को माना जाय, तब प्रश्न उठता है कि दुख-सुख अन्त करण को

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३००–३०१।

२ वही, पृ० ३०१।

३. सत्यार्थप्रकाश पृ० ३०१।

४. वही, पृ० ३०१।

होते हैं या तद्स्थानी ब्रह्म को। अन्त करण तो जड है उसमे सुख-दुःख का प्रसंग ही नहीं उठता। अब केवल ब्रह्म रह जाता है तब अर्थापत्ति से ब्रह्म ही दुख-सुखों का भोक्ता माना जायेगा। इससे ब्रह्म के शुद्धत्व का बाध हो जायेगा। इसके अलावा स्वामी शकर अविद्या को अनादि अनन्त एव नैसर्गिक मानते हैं।[1] इसका अर्थ है कि अविद्या अनादि काल से है और अनन्त तक रहेगी एवं स्वाभाविक है। तब यह किसका स्वभाव है ? यदि जीव का कहो तो जीव का अपना गुण होने से तिरोभाव का प्रश्न नही उठता, फिर मुक्ति का उपदेश करने वाली श्रुतियो की क्या उपादेयता है। यदि कहो कि यह जीव का स्वभाव नहीं परन्तु पृथक् है तथा समष्टिरूप मे स्वभाविक है, व्यष्टि रूप में नष्ट होने वाली है इसलिये जीव को मुक्ति का आदेश है। तब द्वैतवादी कहेगा कि अन्त करण अवच्छेदवाद में अन्त:करण के अन्य स्थल पर चले जाने पर पूर्वस्थानी ब्रह्म की मुक्ति हो गई, इस प्रकार मुक्ति स्वमेव एवं सुसाध्य है। इस पर यदि ब्रह्मवादी कहे कि मुक्ति से तात्पर्य उपाधिनाश से है तब यह व्यर्थ का अपलाप है क्योंकि जिसको दुख-सुख हो उसी की मुक्ति का श्रुति वाक्यो में एक बुद्धि से निश्चय किया गया है। अन्त करण तो जड़ है इससे अन्त करण स्थित ब्रह्म जीव बनकर सुख-दुःख का भोक्ता है अत अद्वैतवादी के मत में ब्रह्म की मुक्ति का ही प्रसग है। आचार्य शकर कहते हैं कि परमात्म देव अपनी माया से स्वय ही मोहित हुए के समान मोह-ग्रस्त हो रहा हैं। इससे इस मत मे ब्रह्म का ही बन्ध व ब्रह्म की ही मुक्ति सिद्ध होती है जो श्रुति व बुद्धि दोनो के ही विरुद्ध है।

शकराचार्य उपनिषदो मे दीख पडने वाली अद्वैतपरक श्रुतियो को अपना रक्षक बना लेते हैं। और जहा कहीं भी तर्क से अद्वैत की असमर्थता प्रकट होती है, आप एक चतुर तार्किक की भांति तुरन्त कह देते हैं कि श्रुति मे द्वैत मानने पर अद्वैत समर्थक श्रुतियों का क्या होगा।[2] अत ऐसी अवस्था में आपके विचार

१ 'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूप'। वेदान्त सूत्र पर शंकर भाष्य की चतु सूत्री से।

२. 'नत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतोविशेषो न स्यात् सांख्यादि दर्शनेनाविरोधात' माण्डुक्योपनिषद् पर शकर भाष्य।

मे द्वैतवाद की द्योतक श्रुतिया सामारिक अर्थात् व्यावहारिक स्तर की हैं, ये परमार्थ की नही है। परन्तु हमारा विचार है कि उपनिषदो मे कही भी इस प्रकार के विभाजन की गन्ध नही आती। तथ्य तो यह है कि हर एक भाष्यकार श्रुतियो का भाष्य अपनी इच्छानुसार करने की धुन मे श्रुति वाक्य की यथार्थता को भी भूल जाता है। उपनिषदो मे अद्वैत एव द्वैत दोनो ही सिद्धातो के समर्थक मन्त्र मिलते है। इसी प्रकार श्रुतियो मे जगत् की रचना एव जीव की दशा का जिस यर्थायता से वर्णन किया गया है वह कभी भी किसी भी भ्रमवादी द्वारा वर्णन किया गया नही हो सकता। उपनिषद् के ऋषियो के लिये ससार सत्य है एव जीव की सत्ता ब्रह्म से पृथक है जैसा कि स्वामी दयानन्द ने माना। परमात्मा जीव से अति सूक्ष्म होकर जीव मे भी व्यापक है ये दोनो छाया व आतप की तरह हृदय की गहनतम गुफा मे लिखते हैं।[1]

विज्ञान् भिक्षु एव भास्कराचार्य के भेदाभेदवाद मे हमे एक-दूसरे प्रकार का अद्वैतवाद मिलता है। इनके मत मे जीवात्मा ब्रह्म से पृथक् नही है बल्कि उसी का अश है, जैसे अग्नि से चिगारिया निकलती हैं जो अग्नि से पृथक् नही है बल्कि अग्नि ही हैं। स्वामी दयानन्द इसको स्वीकार नही कर सकते क्योकि यदि जीव ब्रह्म का अश है तो यह मानता पडेगा कि ब्रह्म अवयवी है जो अवयवी नही होगा तो जीव चिन्गारी के सदृश नही हो सकेगा परन्तु दूसरी ओर ब्रह्म को सावयव मानने का अर्थ होगा ब्रह्म को परिणामी एव नाशवान् मानना। इससे ब्रह्म सत्य, ज्ञान एव अनन्त नही रहेगा।

वल्लभाचार्य जीव को अनादि कहते हैं, परन्तु ब्रह्म से पृथक् नही मानते। जीवास्था मे ब्रह्म की केवल आनन्द की शक्ति दब जाती है सत् एव चित्त रहता है। निम्बार्क कहते हैं कि जीव ब्रह्म के ही हिस्से हैं आप अज्ञान को जीव का धर्म बताते हैं।[2] रामानुजाचार्य जीव को नित्य परन्तु ब्रह्म का विशेषण एव शरीरवत् मानते हैं। आपके मत मे भी जीव ब्रह्म से पृथक् नही है क्योकि

---

१. 'छायातपो ब्रह्म विदो वदन्ति'। क० उ०, १-३-१।

२ History of Indian Philosophy, V 3 P 413,
S N Dass Gupta

इनमें स्वगत भेद हैं। इस मत में जीव ब्रह्म का अंश भी है परन्तु इसके और ब्रह्म के स्वरूप में भेद है। जीव ब्रह्म का अंश इस रूप में नहीं है कि वह ब्रह्म का अवयव है क्योंकि ब्रह्म अवयव रहित है जीवात्मा ब्रह्म का कार्य है क्योंकि उससे पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं है परन्तु ब्रह्म से उत्पन्न हुए कार्य के समान नहीं है।[1] रामानुज के दर्शन में अस्पष्टता है। इसका कारण है कि रामानुज शंकर की तरह भ्रमवादी भी नहीं बनना चाहते थे, परन्तु दूसरी तरफ अद्वैत समर्थक श्रुतियों का अर्थ अद्वैत में ही करना चाहते थे। श्री रामानुज न तो साहसपूर्वक भास्कर के समान जीव को ब्रह्म का अंश मानने को तैयार हैं और ना ही दयानन्द की भांति अद्वैत छोड़ने को तैयार हैं। स्वामी दयानन्द जीव के अस्तित्व को परमात्मा के अस्तित्व से नहीं बांधते वरन् यह परमात्मा के समान ही अनादि है। दयानन्द के दर्शन में ब्रह्म में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है जैसा कि रामानुज स्वगत भेद मानते हैं।

उपरोक्त प्रायः सभी दार्शनिकों ने वेदान्त दर्शन पर भाष्य लिखे हैं। स्वामी दयानन्द ने ब्रह्म सूत्र पर कोई भाष्य तो नहीं लिखा लेकिन कुछ सूत्रों को अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में अवश्य लिखा है। स्वामी दयानन्द वेदान्त व उपनिषदों में ब्रह्म-जीव भेदवाद को देखते हैं। दयानन्द कहते हैं कि जो वेदान्त सूत्रों में भेदवाद का कथन न होता तो "नेतरोऽनुपपत्तेः" (वेदान्त १. १ १६) भेद व्यपदेशाच्च" (१. १ १७) में जीवात्मा में सृष्टि उत्पत्ति का निषेध एवं जीव में आनन्द का अभाव न बताते।"[2] वेदान्त में भेदवाद है या नहीं यह तो इससे स्पष्ट है कि यदि वेदान्त दर्शन ब्रह्मवादी होता तब शंकर के बाद रामानुज, वल्लभ, निम्बार्कादि को ब्रह्म सूत्रों पर शंकर के विरुद्ध भाष्य करने की क्या आवश्यकता थी। वेदान्त दर्शनों में माया व भ्रमवाद की गन्ध तक नहीं है। स्वयं आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में उस समय बड़ी उलझन में पड़ जाते हैं जब वहां ब्रह्म-जीव भेद एवं प्रकृति की सत् सत्ता का प्रतिपादन आ जाता है। उस समय शंकर उन्हें व्यवहारिक स्तर के सूत्र कहकर उपाधि भेद

---

१ Indian Philosophy, Vol. 2, P. 692,
Dr. S. Radhakrishanan

२. 'सत्यार्थप्रकाश, पृ० ३०५-३०६।

से उनका भाष्य करते हैं आश्चर्य की बात तो यह है कि सारा का सारा वेदान्त दर्शन ऐसे सूत्रो से भरा पडा है जहा जीव व ससार को सत् कहा है । मुक्ति मे मे भी जीव में सृष्टि कर्तृत्व नही होता, ऐसा वेदान्त का कथन है।[1] इस पर शकराचार्य का स्वय का भाष्य यही कहता है कि मुक्ति मे जीव सृष्टि-क्रिया मे हस्तक्षेप नही कर सकता। प्रश्न है कि जब मिथ्या ज्ञान का तिरोभाव होने पर जीव अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्मत्व को पा जाता है तब उसमे क्यो नही सृष्टि कर्तृत्व आ जावेगा ? वेदान्त जीव मे सृष्टि कर्तृत्व इसलिये नही मानता कि जीव की इतनी सामर्थ्य ही नही है। फिर मुक्त पुरुष आनन्द का भोग सकल्प शरीर से करते हैं।[2] यदि मुक्ति मे जीवात्मा का ब्रह्म हो जाना वेदान्त को मान्य होता, तब आनन्द भोग के लिये सकल्प शरीर की क्या आवश्यकता थी। इससे यही प्रतीत होता है कि वेदान्त को ब्रह्म व जीव का भेद मान्य है और यहा पर स्वामी दयानन्द की जीव की धारणा अन्य दार्शनिको से, प्राचीन वैदिक साहित्य के अधिक समीप प्रतीत होती है।



१. 'जगद् व्यापारवर्जं प्रकरणादसनिहितत्वाच्च'। वे० सू०, ४-४-१७।
२ 'भाव जैमिनिर्विकल्पामननात्'। वे० सू०, ४-४-११।

६

प्रकृति

(MATTER)



विश्व की वास्तविकता

भौतिकवादी विचारधारा—ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रिट्स एव लोसीपस का परमाणुवाद सम्भवत प्राचीनतम् भौतिकवादी सिद्धान्तो मे है। इन दार्शनिकों के अनुसार ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति अर्थात् जड़ व चेतन सृष्टि, सूक्ष्म, वृत्ताकार एव गतिशील परमाणुओ का ही विकारमात्र है। जीव व जड जगत का गुणात्मक भेद वास्तव मे देखने मात्र का है, इन दोनो का समान कारण होने से तत्त्वत. इनमे कोई भेद नही है। जीव की अमरता एव सृष्टि का उद्देश्य सब मिथ्या कल्पनायें हैं, समस्त ब्रह्माण्ड प्राकृतिक नियमों के आधीन क्रियाशील है। लोसीपस के इन्हीं सिद्धान्तो का ऐपीक्यूरस व ल्यूक्रिट्स ने विशद् वर्णन किया है।

आधुनिक युग मे, भौतिकवाद को विज्ञान से पर्याप्त बल मिला है। भौतिक शास्त्र की खोजो ने सिद्ध कर दिया है कि इस समस्त ब्रह्माण्ड का निर्माण तीन तत्त्वों-इलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन व प्रोटोन से हुआ है। परमाणु भी इन्ही तीनों का विकार हैं। आधुनिक भौतिकवादी अधिकतर विकासवादी है। वे ससार के जड पदार्थों के साथ-साथ जीव (Life) की उत्पत्ति इन्हीं जड तत्त्वो से मानते हैं। आज भौतिकवाद को विज्ञान की प्रत्येक खोज से बल प्राप्त होता है और वह कह उठता है कि आज हमने परमाणु का विखण्डन किया है, कल आत्मा कहा जाने वाले तत्त्व का स्वरूप भी भौतिक शक्तियो से निश्चित कर दिखायेंगे। भौतिकवाद, द्रव्य को ही सब कुछ मानता है इसमें पराभौतिकी शक्ति आत्मा व परमात्मा को कोई स्थान नहीं है।

प्रत्ययवादियों के विचार—ससार की सत्ता के विषय मे दूसरा प्रमुख सिद्धात प्रत्ययवाद (Idealism) है । यह सिद्धान्त भौतिकवाद का ठीक विरोधी है । भौतिकवाद मे आध्यात्मिक तत्त्व चेतना को भौतिक पदार्थों से उत्पन्न हुआ माना है, तो प्रत्ययवादी ससार को चेतन सत्ता से उद्भूत मानते हैं । प्रत्ययवादी (Idealist), आध्यात्मिक तत्त्वो को भौतिकवाद के पंजे से बचाने की धुन मे द्रव्य की द्रव्यता को समाप्त कर, उसे जीव या परमात्मा का मानसिक विकार-मात्र मानते हैं भौतिकवादी द्रव्य को बचाने के लिए आध्यात्मिक तत्त्व की वलिदे देते हैं । प्रत्ययवादी द्रव्य को ही मानसिक विकार का रूप बना देते हैं । प्रत्यय-वाद का तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष मे आने वालाजगत् मानसिक विचारो से पृथक नही है । इस मत के अनुसार मानसिक विचार वाह्य जगत् की उत्पत्ति करते हैं । सृष्टि निर्माण के लिये किसी भौतिक द्रव्य की आवश्यकता नही है जो सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व या वाद मे विद्यमान हो ।

प्लेटो—प्लेटो यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक था । यह सुकरात का शिष्य था । ससार की सत्ता के विषय मे उसका कथन है कि वाहर जो भी हम देखते या प्रत्यक्ष करते हैं वह वास्तविक जगत् नही है वरन् वास्तविकता की प्रतिच्छाया मात्र है । संसार के पदार्थ किसी सत् पदार्थ की अधूरी एव अपूर्ण प्रतिलिपि मात्र हैं । पदार्थ, पदार्थों का प्रत्यय (Idea) हैं जो सत् पदार्थों की दुनिया मे नमूने एव आदर्श के रूप मे सुरक्षित है । प्लेटो के अनुसार मनुष्य एव मनुष्यता दो पृथक् सत्तायें हैं, मनुष्य के मरने पर मनुष्यता का नाश नही होता । मनुष्यता का प्रत्यय (Idea) जो स्वर्ग मे है, अमर है । उसी के आधार पर व रूप मे संसार के मानव वनते हैं । इस प्रकार हर वस्तु का प्रत्यय है । प्लेटो कहीं-कही इसे ईश्वरीय प्रत्यय भी कहते हैं । प्लेटो के दर्शन मे यही सामान्य और विशेष हैं । मनुष्यता सामान्य है तथा मनुष्य विशेष है परन्तु हमारा यहा पर तात्पर्य केवल इससे है कि प्लेटो के दर्शन मे वाह्य जगत् का अस्तित्व सत् नही है । वरन् यह जगत ईश्वर द्वारा निर्मित सामान्यो की दुनिया का प्रतिविम्व है ।

प्लेटो की समालोचना—प्लेटो ने सामान्य (प्रत्यय) को विशेष से इस प्रकार अलग कर दिया कि सामान्य कभी विशेष से मिल ही नही सकता । प्लेटो का प्रत्यय केवलमात्र विचार नही है वल्कि वस्तु है जिसके बार मे विचार किया

जाता है। प्लेटो के सिद्धान्त में एक भारी कमी और भी है जिसकी ओर रसल ने संकेत किया है कि प्लेटो के दर्शन में प्रत्यय ईश्वर द्वारा निर्मित है तथा साथ ही अनादि भी हैं। रसल इस पर आपत्ति उठाते है कि प्रथम तो प्रत्यय को अनादि होने से परमात्मा बना कैसे सकता है, दूसरे परमात्मा भी प्रत्यय मनुष्य को तब तक नहीं बना सकता जब तक कि उसको बनाने का प्रत्यय न हो और प्रत्यय प्लेटो के मानव प्रत्यय से ही प्राप्त हो सकता है (जिसको कि बनाना है)। आगे रसल कहते हैं कि कालातीत पदार्थों का निर्माण नहीं हुआ करता। जो दुनिया देश-काल में स्थित है उसी का निर्माण सम्भव है। प्लेटो के दर्शन मे प्रत्यक्ष दिखाई पडने वाले ससार को भ्रम एव बुरा कहा गया है। इसका यह अर्थ हुआ कि निर्माता ने भ्रम एव पाप का निर्माण किया है। इस पर प्रश्न उठता है कि परमात्मा ने भ्रम-रूप ससार का निर्माण क्यो किया ? क्या वह सत् पदार्थों की दुनिया से सन्तुष्ट नहीं था।

प्लेटो द्वारा निर्मित सामान्य व विशेष की गहरी खाई, अरस्तु के दर्शन में प्लेटो की आलोचना बनकर आयी। अरस्तू सामान्य एव विशेष को इसी विश्व में मानते हैं। उनके मत मे सामान्य विशेष से पृथक नही है। प्लेटो ने अपने दर्शन मे द्रव्य की सत्ता को स्वीकार किया है परन्तु वह इसके विषय मे साफ-साफ नहीं बताते। प्लेटो कहते हैं कि ब्रह्माण्ड को अनियमित रूप मे देखकर ईश्वर ने इसको नियमित एव क्रमानुसार बनाया'।[1] रसल का ख्याल है कि यहा पर प्लेटो यह नही मानते कि ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण शून्य से किया जैसा कि यहूदी व ईसाइयो का ख्याल है परन्तु पूर्व ही वर्तमान द्रव्य (matter) से

1 "Finding the whole visible sphere not at rest, but moving in an irreguler and disorderly fashion, out of disorder he brought order" (Thus it appears that Plato's God unlike the Jewish and Christian God did not create the world out of nothing, but rearranged pre-existing matter) History of Western Philosophy, P. 165, Bertrand Russell 1946.

किया। द्रव्य की सत्ता को स्वीकाद करने पर भी प्लेटो का दर्शन यथार्थवादी (realism) नही कहा जा सकता क्योंकि ससार के निर्माण की वास्तविक सामग्री तो प्रत्यय (Ideas) हैं जिनकी द्रव्य पर छाप पडती है। प्लेटो के मत मे दृश्य-मान जगत प्रत्ययो का प्रतिविम्व मात्र है।

स्वामी दयानन्द के दर्शन मे प्लेटो के दो दुनिया के सिद्धान्त जैसा कोई विचार नही है। यदि प्लेटो के सामान्य, ईश्वरीय ज्ञान मे ऋत के रूप मे प्रकृति के शाश्वत नियम हैं तव स्वामी दयानन्द इस रूप मे इसे मान लें, लेकिन उस प्रवस्था मे प्लेटो की दो विश्वो की घारणा स्थिर नही रहेगी। क्योकि प्लेटो के मत मे अनुभव मे आने वाला विश्व असत् है और अनुभव से परे व्यवहार शून्य विश्व सत् है इसे स्वामी दयानन्द मानने को तैयार नही हैं। स्वामी जी के दर्शन मे वही जगत् सत् है जिसकी सत्ता किसी भी रूप मे चेतन पर आश्रित नही है। दयानन्द क विचारानुसार व्यक्ति रहे या जायें ससार के किसी भाग का कोई प्रत्यक्ष करे या न करे, इन्हे इस ससार के किसी कार्य का ज्ञान हो या न हो, इस जगत् के अस्तित्व पर इसका कोई प्रभाव नही पडता।

बर्कले—भौतिकवाद के विरुद्ध सवसे भयकर एव शक्तिशाली आक्रमण वर्कले के प्रत्ययवाद (Idealism) का रहा है। उनका दर्शन द्रव्य की सत्ता को नष्ट कर देता है। उनके मत मे द्रव्य नाम का कोई पदार्थ नही है बल्कि वस्तुओ का अस्तित्व एव सत्ता हमारे प्रत्यक्ष पर आधारित है। इसका तात्पर्य है कि जब हम किसी वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं वह वास्तव मे हमारे मस्तिष्क की अनुभूतिया (Sensations) मात्र होते हैं, जिनका हम वाह्य जगत् में वस्तुरूप मे प्रत्यक्ष करते हैं। हमारी अनुभूतियो से पृथक् पदार्थों की कोई सत्ता नही है। इस पर प्रश्न उठता है कि जिन पदार्थों को कोई नही देखता उनका अस्तित्व कैसे रहता है? इसके उत्तर मे इनका कहना है कि वे पदार्थ परमात्मा के मस्तिष्क मे रहते हैं। यदि हम इसकी शकर से तुलना करें तव व्यष्टि अविद्या जीव के जगत् का कारण होती है एव समष्टि रूप से माया समग्र जगत् का कारण होती है, जिसे ईश्वर वनाता है।

बर्कले की समालोचना—वर्कले का आगे कहना है कि हमे केवल वस्तु के गुणो का प्रत्यक्ष होता है वस्तु का नही। यह गुण हमारे मस्तिष्क से बाहर नही

हैं इसलिए हम अपने ही मानसिक विचारों का प्रत्यक्ष करते हैं। वर्कले का यह सिद्धान्त इस भ्रान्त उक्ति पर आधारित है कि (१) मानसिक प्रत्यय मनस् से बाहर नहीं है (२) वस्तुओं का ज्ञान जिस रूप में कि उनका प्रत्यक्ष होता है, मानसिक प्रत्यय हैं (३) अतः वस्तुएं मनस से बाहर नहीं हैं। इस उक्ति में मुख्य दोष यह है कि इसमें मानसिक प्रत्यय (Idea) तथा वस्तु को एक कर दिया है जबकि प्रथम रूप में प्रत्यय को ज्ञान-क्रिया के अर्थ में, और दूसरे में प्रत्यय को वस्तुरूप में लिया गया है। जोड (Joad) का कहना है कि विचार क्रिया कभी भी वस्तु नहीं हो सकती क्योंकि विचार-क्रिया किसी वस्तु के बारे में हो रही है।[1] विचार-क्रिया और वस्तु इन दोनों को एक कर देना भारी भूल है। अतः वर्कले का यह मत व्यवहार एवं बुद्धि दोनों के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त प्रश्न उठता है कि जब हर मनस् की अपनी अलग दुनिया है तब कुछ कम या अधिक रूप में सबकी अनुभूतियां एक सी क्यों हैं? जब कि मनुष्यों के विचार, चिन्तन एवं इच्छाओं में भारी भेद पाया जाता है? फिर हम अपने विचारों के अनुसार अपने जगत की रचना क्यों नहीं कर लेते तथा हम क्यों वातावरण के दबाव में आकर अपनी इच्छाओं को दबा देते या नष्ट कर देते हैं? यदि हम अपनी-अपनी दुनिया के निर्माता है तब हम क्यों नहीं अपनी-अपनी दुनिया बना लेते और जीवन में क्यों नहीं निराशा से बच जाते? दूसरे कोई वस्तु हमारे हजार विपरीत चिन्तन पर भी अपना स्वरूप क्यों नहीं बदलती। इस पर यदि कहा जाय कि समस्त वस्तुयें ईश्वर के मस्तिष्क में हैं तब प्रथम तो, ईश्वर का अस्तित्व क्या हमारा विचारमात्र नहीं है जैसा कि ह्यूम ने वर्कले के अनुभववादी विचारों का बौद्धिक परिणाम निकाला है। इसके अतिरिक्त क्या अपने सदृश्य दूसरे जीवों का मानना एक भूल न होगी जब कि यह भी प्रत्ययमात्र हैं। इस प्रकार ईश्वर सहित सारा संसार विचारमात्र रह जायेगा जैसा कि

1. "But the objects of an act of thought can never be the same as the act of thought of which it is an object". Introduction to Modern Philosophy.

P. 10, C E. M. Joad, 1953.

ह्यूम कहता था। इस स्थिति पर पहुँचने मे ह्यूम का अपना कोई दोष नही है, यह तो अनिवार्य तार्किक परिणाम था उस अनुभववादी प्रणाली का जिसके बीज देकर्त के दर्शन मे पाये जाते हैं एव जिसका प्रयोग लॉक ने तथा बाद मे अधिक उत्साहपूर्वक बर्कले ने किया।

भारतीय दर्शन मे आदर्शवाद (Idealism in Indian Philosophy)—भारतवर्ष मे शकराचार्य जी का अद्वैतवाद भी आदर्शवाद ही है। शकराचार्य जी केवल ब्रह्म को सत्य मानते हैं। उनके दर्शन मे जगत् का अस्तित्व अर्थात् चित् व अचित् का द्वैत मायामात्र है, परमार्थ मे केवल अद्वैत है। शकराचार्य जगत् के मिथ्यात्व को समझाने के लिये जगत् को कभी मायावी की मिथ्या माया के प्रसारण के रूप मे कहते हैं, जैसे जादूगर अपने जादू से कभी आकाश मे जाता दिखायी पडता है, तो कभी पृथिवी पर, वास्तव मे वह न कही जाता है न आता है। कभी वे परिणामवाद को प्रकट करने वाली उपमा का सहारा लेते हैं, जैसे वह कहते हैं कि समुद्र के फेन के समान यह यह जगत् ब्रह्मरूपी उपादान से बना है।[1] मालूम यह देता है कि विशुद्ध विवर्तवाद के सहारे चलना उन्हे कठिन प्रतीत हुआ इसलिये कही-कही उन्होने परिणामवाद की द्योतक उपमाओ का सहारा भी लिया।[2] परन्तु वे ब्रह्म-परिणाम को मानते नही थे। श्रुति मे अनेक ऐसे स्थल आते हैं जो ब्रह्म-परिणामवाद के समर्थक मालूम पडते है उनकी व्याख्या वे परिणामवाद के अनुरूप ही करते हैं। जगत् के विषय मे उनके लेखो मे कही परिणामवाद और कही विवर्तवाद दोनो का ही उल्लेख मिलता है। श्री शकराचार्य पर गौणपाद की माण्डूक्यकारिकाओ का काफी प्रभाव मालूम पडता है। माण्डूक्यकारिकाओ मे जगत् की सत्ता को एकदम भ्रम बताया है। तथा उन पर लिखे अपने भाष्य मे शकर स्वामी भी जगत् को मायावी की माया के समान मिथ्या मानते हैं और इसका प्रतिपादन करते हैं कि सत्य केवल ब्रह्म

---

१ 'आत्मभूतनामरूपोपादनभूत' सन्सर्वज्ञो जगन्निर्मिमीत इत्यविरुद्धम् ।' ऐ० उ० १-१-२ पर शकरभाष्य, पृ० ३७ गी० प्रेस।

२. 'सलिलफेनस्थानीये आत्मभूते नामरूपे अव्याकृते आत्मैकशब्दवाच्ये व्याकृतफेनस्थानीयस्य जगतः उपादान भूते सभवतः।' वही, पृ० ३६।

ही है। शाकर मत मे जगत् के स्वरूप को निश्चित करने मे हमे इस सम्प्रदाय के अन्य पश्चात्वर्ती विद्वानो से वडी सहायता मिलती है। इन्हें हम बौद्धो के वाद देखेंगे। यहा पर शकर स्वामी को समझने के लिये बौद्धो के प्रत्ययवाद को समझना आवश्यक है क्योंकि शकर स्वामी का अधिकांश मत बौद्धो के शून्यवाद से प्रभावित है।

बौद्ध पंडित नागार्जुन व चन्द्रकीर्ति ज्ञान को दो प्रकार का लोक सवृति व परमार्थ ज्ञान के रूप मे मानते हैं। अतएव नागार्जुन अपनी माध्यमिककारिका मे कहते हैं कि बौद्धो के दर्शन मे दो प्रकार का सत्य है, एक तो अज्ञान से ढका हुआ सवृत्ति सत्य जो साधारण बुद्धि पर आश्रित है तथा दूसरा परमार्थ सत्य जो कि निरपेक्ष है। सवृत्ति का अर्थ है ढका हुआ। चन्द्रकीर्ति इसे ही सब तरफ से अज्ञान से ढका हुआ कहते हैं।[1] कार्य-कारण का यह जगत् जिसमे एक कार्य अपने कारण पर आश्रित है, तथा जहा किसी पदार्थ की वास्तविकता का पता नहीं चल सकता, सयोग-वियोग से चलता दिखाई देता है। सत्य, अज्ञान से इस तरह ढका हुआ है कि वास्तविकता का पता नहीं चल सकता। यही अज्ञान का पर्दा लोक सवृत्त से कहा गया है। साथ ही इसे मिथ्या सवृत्ति से अलग भी वताया है। मिथ्या सवृत्ति रज्जु में सर्प के भ्रम व आधारहीन भ्रम का नाम है। इसका मिथ्यात्व जगत् में ही सिद्ध हो जाता है। नागार्जुन के विचार में जगत् दृश्य इस मिथ्या सवृत्ति की तुलना में सत्य है, वास्तव मे नहीं। क्योंकि नागार्जुन स्पष्ट कहते हैं कि जगत् की स्थिति मृगतृष्णा या स्वप्नवत् मिथ्या है।[2] भ्रम के आरोप करने के लिये आधार की आवश्यकता होती है जिसमे आरोप किया जाये, यथा सर्प की भ्राति का आधार रज्जु है। परन्तु बौद्धों के दर्शन मे ऐसी किसी स्थायी सत्ता को स्थान नहीं है जिसके आधार पर जगत् प्रपंच की सृष्टि हो। वस यहीं पर बौद्धो व शकर मे भेद है। शकर जगत् प्रपच को ब्रह्म पर आरोपित मानते हैं। यह ब्रह्म ही है जो रज्जु के समान जगत् भ्राति का आधार है।[3] परन्तु इससे आचार्य शकर यथार्थवादी नही बन सकते क्योंकि

---

१ माध्यमिक वृत, १४-८।
२ वही, १३-८।
३. देखिये, माण्डूक्यकारिका, वैतथ्य-प्रकरण, का० १२ पर शंकर भाष्य।

इनका ब्रह्म अचिन्त्य एव परिणामरहित है। यह जगत् का परिणामी उपादान नही हो सकता। उन्होने गौणपादीय कारिका १--१७ के भाष्य मे जगत् को मायावी द्वारा फैलायी गई माया के समान प्रपच सज्ञक बताया है तथा आपके मत में है परमार्थ तो अद्वैत है।[1] दृश्यमान् जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन शून्यवादी व शकर दोनो मे समान ही है। अन्तर केवल यह है कि शकर भ्रम का आधार ब्रह्म को मानते हैं जब कि शून्यवादी इस प्रकार की कोई सत्ता नही मानते।

शकर वेदान्त मे माया, अविद्या, या अज्ञान एक ऐसी सत्ता है जो 'है' और 'नही है' एव इनसे विलक्षण 'अनिर्वचनीय' है। इस अनिर्वचनीय शब्द ने बाद मे अद्वैत सम्प्रदाय मे आने वाले दार्शनिको के लिये एक अद्भुत समस्या खडी कर दी कि वे माया को क्या मानें ? परन्तु साथ ही उन्हे इसका भी ध्यान रखना पडता था कि उनकी व्याख्या से शकर का ब्रह्म सत्य एव जगत् मिथ्या का सिद्धात भी नष्ट न हो पाये। पद्मपाद (८२० ई०) ने, जो कि सीधे शंकर के शिष्य थे, माया की व्याख्या मे इसे अज्ञान-शक्ति कहा है जो कि जड-द्रव्य है (जडात्मिका अविद्या शक्ति)। इसी बीजरूप शक्ति से जगत् प्रपच की सृष्टि होती है अर्थात् जडात्मिका अविद्या जगत् का उपादान है। यही जडात्मिका अविद्या-शक्ति शुद्ध आत्मा मे रहकर एक तरफ उसके (शुद्धात्मा) सत्य स्वभाव को, जो कि वास्तव मे ब्रह्म है, छिपाती है और दूसरी तरफ स्वय को अहका-रादि मानस सकल्पो मे परिणत कर लेती है।[2] यहा पर यह स्पष्ट ध्यान रखना चाहिये कि यह अज्ञान यद्यपि अनिर्वचनीय है परन्तु बौद्धो के अज्ञान के समान भ्रान्त विचाररूपी अज्ञान नही है बल्कि जगत् सामग्री है। प्रकाशात्मन (१२०० ई०) भी इसे द्रव्य रूप जगत् की सामग्री मानते हैं जो सृष्टि का उपादान है परन्तु यह ब्रह्म पर आश्रित रहने के कारण ब्रह्म से पृथक नही है और इसी

---

१ देखिये, माण्डूक्यकारिका, आगम-प्रकरण, का० १७ पर शकर भाष्य।

२ 'अत सा प्रत्यक् चित्ति ब्रह्म स्वरूपावभास प्रतिबध्नाति अहकारादि अतद्रूपं प्रतिभास निमित्त च भवति।' पचपादिका, पृ ५, विजयग्राम सस्कृत सीरीज कलकत्ता।

अर्थ में इन्होने ब्रह्म को जगत् का अभिन्निमित्तोपादन कारण कहा है।[1] वाचस्पति मिश्र ब्रह्म व माया दोनो को सयुक्तरूप से जगत् का उपादान कहते है।[2] श्री अप्पय दीक्षित इससे केवल इतना भेद रखते हैं कि जगत् मे सत्ता ब्रह्म से है और जडता माया से है। सर्वज्ञात्म मुनि ब्रह्म को ही जगत् का वास्तविक उपादान बनाना चाहते हैं। जिसमे माया निमित्त कारण है। ये जगत् दृश्य के उत्पन्न होने में माया को ब्रह्म जितना महत्त्व नहीं देना चाहते थे।[3]

एक ही विचारधारा मे माया की व्याख्या पर इस विचार विविधता का कारण स्वयं इस शब्द की जटिलता है जो कि मायावादी सिद्धांत मे जगत् को प्रपच मानने पर अवश्यम्भावी है। शकर स्वामी माया के स्वरूप एव इसकी परमार्थ सत्ता तथा जगत् मे सम्बन्ध को स्पष्ट रूप में नही कह गये। शायद उनके विचार मे इसकी इतनी विशेषता न हो जितनी कि बाद मे हो गई। बाद के टीकाकार साफ-साफ शब्दो मे एक तरफ ब्रह्म को जगत् का उपादान कहने तथा दूसरी तरफ जगत् को मिथ्या सिद्ध करने मे हिचकिचाते हैं। साथ ही वे शंकराचार्य के दर्शन से भी किसी प्रकार हटना नही चाहते, इसलिये कोई माया को जडात्मिका कहता है तो कोई केवल ब्रह्म की शक्ति। लेकिन सभी इस पर सहमत हैं कि यह अज्ञान है जो सत्य को हमसे छिपाता है तथा सत् में असत् की मिथ्या प्रतीति का कारण है। प्रकाशात्मन का तो यहा तक कथन है, जैसाकि दास गुप्ता कहते हैं, कि हर जीव का अपना-अपना पृथक् जगत् है, अतएव एक की अविद्या समाप्त होने पर जगत् का उच्छेद नही होता क्योकि तब अन्य जीवों की अविद्या रहती है।[4]

---

१ 'शक्ति इति आत्मपरतंत्रतया आत्मन. सर्वकार्योपादानस्य निर्वोधत्वम्'। पंचपादिका विवरण, पृ० १३, प्रकाशात्मन्।

२. 'अविद्या सहित ब्रह्मोपादानम्'। वे० सू० १-१-२ पर सांख्य भाष्य पर 'भामती' से।

३ संक्षेप शारीरिक (भाउ शास्त्री संस्करण) पृ० ३३३–३३४

४ 'Brahman as reflected in Maya and Avidya is the cause of the world, pure Brahman is immortal and individual souls

स्वामी दयानन्द का यथार्थवाद—स्वामी दयानन्द के लिये जगत् मिथ्यात्व का सिद्धात एकदम अवैदिक है। वह कहते हैं कि 'जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्तमान मे अनित्यत्व और (उसके) परमसूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नही हो सकता'[१] फिर आगे स्वप्न के आधार पर जगत् के मिथ्यात्व को अनुचित बताते हुए वह कहते हैं कि 'जो (ससार को) स्वप्न, रज्जु-सर्पादिवत् कल्पित कहें तो भी नही बन सकता, क्योकि कल्पना गुण है।" 'जैसे स्वप्न बिना देखे सुने कभी नही आता, जो जाग्रत अर्थात् वर्तमान समय मे सत्य पदार्थ है उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर सस्कार अर्थात् उनका वासनारूप ज्ञान आत्मा मे स्थित होता है, स्वप्न मे उन्ही का प्रत्यक्ष देखता है।"[२] दयानन्द दृश्यमान जगत् की वास्तविकता व उसके आदि कारण प्रकृति की नित्यता को एक शाश्वत सत्य के रूप मे मानते हैं। उनके विचार से 'जैसे सुषुप्ति होने से वाह्य पदार्थ के ज्ञान के अभाव मे भी वाह्य पदार्थ विद्यमान रहते हैं वैसे प्रलय मे भी कारण द्रव्य वर्तमान रहता है।"[३] इनके मत मे ब्रह्म जगत् का अभिन्निमित्तोपादन कारण भी नही हो सकता क्योकि "उपादान कारण के सदृश्य कार्य मे गुण होते है" अर्थात् या तो जगत् के जडादि गुणो को ब्रह्म मे मानना पडेगा, नही तो प्रश्न उठेगा कि जगत् की जडता का क्या कारण है? इसको वेदान्ती ब्रह्म को जगत् का निमित्तोपादान कारण मानकर नही समझा सकते।

शकर स्वामी व बाद मे आने वाले अद्वैतवादी विद्वान माया की एक ऐसी भूलभूलैया मे पड गये कि उनके अपने लेख एक दूसरे के विपरीत पडने लगे।

---

are associated with Avidya Individual souls have their own illusions of the world and these through similarity appear to be the permanent world (A History of Indian Philosophy, V 3, P 198 by S N Dass Gupta)

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१८।
२ वही पृ० २१६
३ वही, पृ० २१६

शकर व प्रकाशात्मन जगत् को जीव द्वारा अविद्या से ब्रह्म में कल्पित कहते हैं जैसे रज्जु मे सर्प। दूसरी ओर स्वय शकर जब अपने वेदान्त भाष्य में कहते हैं कि मुक्त पुरुषो को भी सृष्टि-निर्माण मे हस्तक्षेप का अधिकार नही है तब ऐसा प्रतीत होता है कि दृश्यमान् जगत् का वास्तव मे निर्माण हुआ है। जबकि तथ्य यह है कि शकर परमार्थ मे ससार का निर्माण हुआ नही मानते।[1] उनके मत मे ससार की सत्ता केवल व्यावहारिक है। दयानन्द के अनुसार ब्रह्मवादियो ने माया की व्याख्या सर्वथा अग्राह्य रूप में कर उसे कभी अज्ञान, कभी जादू की शक्ति, कभी भ्रम पैदा करने वाली शक्ति, तो कभी त्रिगुणमयी प्रकृति मान लिया है। उनके अनुसार शकर का माया को भ्रमित करने वाली शक्ति मानना और फिर उसे ही त्रिगुणमयी प्रकृति मानना सर्वथा अनुचित है।

दयानन्द के मत मे दृश्यमान जगत् की सत्ता एकदम सत्य है। यह सत् प्रकृति का सत् विकार है और इसकी सत्ता किसी भी रूप मे जीव या परमात्मा के चिन्तन पर आश्रित नहीं है। ना ही यह परमात्मा का विकार है जैसा कि भास्कर कहता है और ना ही शकर की माया है जिसका स्वयं का न कोई विवेचन है और न आधार। दयानन्द की प्रकृति त्रिगुणमयी है जैसा कि सांख्य कहते हैं। यह किसी मायावी (जादूगर) की माया (जादू की शक्ति) भी नहीं है जैसा कि कभी-कभी पश्चिमी प्राच्यविदो को आभास होने लगता है, और ना ही यह विज्ञान भिक्षु की सत् प्रकृति की तरह है जो त्रिगुणमयी है परन्तु पर-ब्रह्म की ही एक शक्ति है जो प्रलय काल मे ब्रह्म में लीन होकर एकत्व को प्राप्त हो जाती है। यह स्पीनोजा की भाषा मे निरपेक्ष (Absolute) का एक रूप (Attribute) भी नही है। परन्तु दयानन्द के मतानुसार प्रकृति सत् है, इसका विकार ससार भी सत् है। ससार के सब पदार्थ सत् हैं, परन्तु परिवर्तनशील है। बौद्धो के क्षणिकवाद मे पदार्थ क्षण-क्षण मे नष्ट होकर अगले क्षण नवीन बनते हैं इससे किसी भी पदार्थ की नित्यता का प्रसग नही उठता। लेकिन दया-नन्द परिवर्तन के आधार रूप द्रव्य को नित्य मानते हैं। द्रव्य के सूक्ष्म अवयवो का आपसी सयोग-वियोग नवीन वस्तुओ का सृजन करता है परन्तु द्रव्य अपने

---

१ माण्डूक्यकारिका २-३२ पर शंकर भाष्य

आप मे नाशरहित एव अपरिवर्तशील है। यदि क्षणिकवाद का तात्पर्य नाम-रूपात्मक जगत् की परिवर्तनशीलता से हो तव स्वामी दयानन्द इसे मान सकते हैं और शायद महात्मा बुद्ध का 'सर्वं क्षणिक' कहने से यही तात्पर्य भी रहा होगा। स्वामी दयानन्द प्रकृति की सत्ता को सत् मानकर वैज्ञानिको के लिये खोज का मार्ग खोल देते हैं, जिनके आविष्कारो को वे यथावत् स्वीकार करने से कभी नही हिचकिचाते। एक सच्चा दार्शनिक विज्ञान की मर्यादा का उल्लघन नही करता परन्तु साथ ही विज्ञान को मर्यादा से बाहर भी नही जाने देता, क्योकि उसका मस्तिष्क प्रकृति तत्त्व के अतिरिक्त पराभौतिकी आध्यात्मिक तत्त्वो का ज्ञान भी रखता है। दयानन्द प्रकृति को सत् मानकर प्रकृतिवादी नही बनते। यह विचार कि प्रकृति को सत् मानने वाले भौतिकवादी हो जाते हैं केवल भ्रमपूर्ण ही नही वरन् असगत भी है। वर्कले द्वारा चलाये जाने वाले आदर्शवाद का यही आधार था कि प्रकृति की सत्यता की धारणा भौतिकीवादी है, इसे मानकर विज्ञान के पजे से नही छूटा जा सकता फिर धर्म का क्या बनेगा जबकि बाईबिल कहती है कि ईश्वर ने ससार को शून्य से बनाया। बर्कले स्वय पादरी थे इसलिए ईसाई धर्म को किसी भी प्रकार सिद्ध करना एव उस विज्ञान से टक्कर लेना जो उसकी भ्रान्त धारणाओ पर कुठाराघात करता है, उनका कर्तव्य हो गया।[1] स्वय स्वामी शकराचार्य जब विरोधी तर्कों से निरुत्तर हो जाते हैं तब श्रुति का सहारा पकडते हैं और जब कोई श्रुति में द्वैतवाद भावना को दिखलाता है तब श्रुति मे पाये जाने वाले अद्वैतपरक वाक्यो की दुहाई देते हैं कि फिर एकत्व का कथन करने वाली श्रुति का कैसे अर्थ करोगे। हमारी समझ मे किसी वाक्य विशेष को सिद्ध करने के लिए विज्ञान या बुद्धि के विरुद्ध तर्क देना दोनो बातें अपने मत की असमर्थता प्रकट करना है।

---

१. 'He (Berkeley) believed that his denial of existence of material substance enabled, materialism, scepticism and atheism to be refuted and the cause of religion to be more firmly established than hither to" Encyclopedia Britannica Vol 12, P 66, pnblished in 1960

जगत् भ्रम से बचने के लिए श्री रामानुजाचार्य को प्रकृति को अनादि मानना पड़ा। परन्तु उपनिषद वाक्यों में आये अद्वैतपरक वाक्यों की सफलता-पूर्वक व्याख्या करने की धुन में इनको भी एक विशेष प्रकार के अद्वैतवाद का आश्रय लेना पड़ा। इनके मत में प्रकृति जीव के साथ-साथ ब्रह्म के शरीर के समान है। वास्तव में प्रकृति, जो द्रव्यात्मक है जगत् का उपादान कारण है तथा ब्रह्म निमित्त। इससे रामानुज के मत में दृश्यमान् जगत् प्रपंच न होकर सत्रूप है। प्रकृति ब्रह्म के शरीर एवं ब्रह्म शरीरीवत् होने से ब्रह्म ही जगत् का अभिन्निमित्तोप दान कारण है। इनका कथन है कि इससे ब्रह्म के शुद्धत्व का बाध नहीं होता तथा शरीर के परिवर्तनों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार ब्रह्म पर जगत् व्यापार का कोई प्रभाव नहीं होता। इस मत में ब्रह्म जगत् का अन्तर्यामिन् है।

इस मत के विरुद्ध कहा जा सकता है कि शरीर और आत्मा दो पृथक् तत्त्व हैं। विद्वान् कभी इनको एक नहीं कहता, अज्ञानी ही चित्-अचित् के भेद को न मानकर शरीर को ही आत्मा समझते हैं। प्रकृति व जीव को ब्रह्म का शरीर बनाने से क्या अर्थ है? शरीर रूप प्रकृति में हुए विकारों को कोई भी ब्रह्म का विकार नहीं मान सकता फिर ब्रह्म को जगत् का अभिन्निमितोपादान कारण क्यों कहा? उपादान कारण प्रकृति है, ब्रह्म नहीं और ब्रह्म प्रकृति से पृथक् ही कहा जाना चाहिये, जैसे शरीर और आत्मा पृथक् गुण वाले पृथक् तत्त्व हैं।

महर्षि दयानन्द ने इन आपत्तियों को समझते हुए एवं वेद वाक्यों में यथार्थ-वाद का प्रतिपादन देखकर स्पष्ट शब्दों में प्रकृति को अनादि तत्त्व स्वीकार किया है रामानुजाचार्य की तरह विशेषणयुक्त नहीं बल्कि स्पष्ट त्रैतवाद जिसमें ब्रह्म जीव व प्रकृति तीनों अनादि तत्त्व हैं तथा जगत् एक सत्यता है।

दयानन्द की प्रकृति की धारणा

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

ऋग्वेद म० १ सू० १६४ मं० २०॥

"(द्वा) जो ब्रह्म और जीव दोनों (सुपर्णा) चेतनता और पालनादि गुणों से सदृश (सयुजा) व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त (सखाया) परस्पर मित्रतायुक्त

सनातन अनादि हैं और (समानम्) वैसा ही (वृक्षम्) अनादि मूलरूप कारण और शाखारूप कार्ययुक्त वृक्ष अर्थात् जो स्थूल होकर प्रलय मे छिन्न-भिन्न हो जाता है, वह तीसरा अनादि पदार्थ इन तीनो के गुण, कर्म, स्वभाव भी अनादि है। इन जीव और ब्रह्म मे से एक तो जीव है वह इस वृक्षरूप ससार मे पाप-पुण्य रूप फलो को (स्वाद्वत्ति) अच्छे प्रकार भोगता है और दूसरा परमात्मा कर्मो के फलो को (अनश्नन्) न भोगता हुआ चारो ओर अर्थात् भीतर बाहर सर्वत्र प्रकाशमान हो रहा है। जीव से ईश्नर, ईश्वर से जीव और दोनो से प्रकृति भिन्न स्वरूप तीनो अनादि हैं।"[1]

यह हम इस अध्याय के प्रथम भाग मे कह आये हैं कि स्वामी दयानन्द जगत्-भ्रम के मायावादी सिद्धान्त को नही मानते तथा साथ ही साथ भास्कर का ब्रह्म परिणामवाद भी उन्हे वैदिक साहित्य का सही-सही मत नही मालूम होता, क्योकि ब्रह्म सच्चिदानन्द एव आप्तकाम है फिर वह अपनी किस अपूर्ण कामना की पूर्ति के लिये स्वय को जीव एव जगत् मे परिणत करेगा। इसके अतिरिक्त ब्रह्म-परिणामवादी (भास्कर) इसका भी उत्तर नही दे सकते कि सर्वज्ञ ब्रह्म क्यो जीवरूप मे परिणत होकर सर्वज्ञ के स्थान पर अल्पज्ञ, विभु के स्थान पर अणु-रूप व शुद्ध चिन्मय अवस्था से अविद्या के अन्धकार मे, तथा जगतरूप मे त्रिगुणातीत से स्वय त्रिगुण होकर जड होना पसन्द करेगा ? इसी कठिनाई को अनुभव कर रामानुजाचार्य ने प्रकृति को अनादि पदार्थ माना परन्तु ब्रह्म के शरीर के समान।

स्वामी दयानन्द स्पष्ट व सीधे शब्दो मे कहते हैं कि जगत् का कारण प्रकृति आदि पदार्थ है।[2] ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है तथा प्रकृति उपादान कारण है। दयानन्द तर्क देते हैं कि उपादान कारण के सदृश कार्य मे गुण होते हैं इसलिये ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नही हो सकता। क्योकि ब्रह्म अदृश्य और जगत् दृश्य है ब्रह्म अखण्ड और जगत् खण्डरूप है और जो ब्रह्म से पृथि-व्यादि कार्य उत्पन्न होवें तो पृथिव्यादि मे कार्य के जडादि गुण ब्रह्म मे भी होवें अर्थात् जैसे पृथिव्यादि जड है वैसा ब्रह्म भी जड हो जाय।[3]

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २०९–२१०

२. 'ईश्वर, जीव और जगत् का कारण से तीन अनादि हैं।" सत्यार्थ प्रकाश पृ० २०१

३. सत्यार्थप्रकाश पृ० २१३

परमात्मा अनादि प्रकृति से कल्प के आदि मे सृष्टि का निर्माण करता है, तथा प्रलय काल मे प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्मावस्था मे वर्तमान रहती है उसका नाश या ब्रह्म मे लय नही होता। जगत्-निर्माण के उपादान के रूप मे यह परमात्मा पर आश्रित है, यदि परमात्मा इसे कारण रूप से कार्यरूप जगत् मे परिणत न करे तब सृष्टि का निर्माण प्रकृति स्वय नही कर सकती, अर्थात् कार्यरूप होने के लिये यह ब्रह्म पर आश्रित रहती है, जैसे मृत्तिका अपने विकारो, कुम्भ इत्यादि मे परिणत होने के लिये कुम्भकार के आश्रित है परन्तु अपने अस्तित्व के लिये नही। उसी प्रकार मूल प्रकृति का अस्तित्व ब्रह्म के आश्रित नहीं वरन् प्रकृति अनादि है। दयानन्द के अनुसार प्रकृति परमात्मा की सामर्थ्य है जैसे धनिक की सामर्थ्य उसका धन होता है वह अपने धन से अनेक प्रकार के खेल रचा लेता है परन्तु स्वय धन नही होता और न ही धन उसका कोई स्वाभाविक गुण होता है। प्रकृति भी न तो ब्रह्म मे अध्यास है न उसका परिणाम है। स्वामी जी यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म जीव व जगत् दोनो से अति सूक्ष्म होने से इनमे व्यापक है जैसे अग्नि अति सूक्ष्म होने से लोहे मे व्यापक हो जाती है। एक उपनिषद मत्र के सहारे उसके भाष्य मे स्वामी जी कहते हैं कि "एक प्रवेश दूसरा अनु प्रवेश अर्थात् प्रवेश कहाता है। परमेश्वर शरीर मे प्रविष्ट हुए जीवो के साथ अनुप्रविष्ट के समान होकर वेद द्वारा मत्र नाम-रूप आदि की विद्या को प्रकट करता है।"[1] ब्रह्म प्रकृति के अन्दर व्यापक होकर उसको अवस्थान्तर युक्त करता है।

स्वामी जी अपनी इस त्रैतवादी धारणा के पक्ष मे वेद, उपनिषद व षड्दर्शनो के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं श्वेताश्वेतरोपनिषद् का मत्र "अजामेका लोहित शुक्ल कृष्णा बह्वी प्रजा. सृजमाना सरूपा.। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगाजोऽन्य।" स्पष्ट प्रकृति अनादिवाद की घोषणा करता है। इसके भाष्य मे स्वामी दयानन्द कहते हैं 'प्रकृति, जीव व परमात्मा तीनो अज अर्थात् जिनका कभी जन्म नहीं होता।'[2] उपनिषदो में स्वामी दयानन्द के यथार्थ-वाद का समर्थन करने वाले विचार पर्याप्त मात्रा मे पाये जाते हैं इसमें तनिक भी सदेह नही किया जा सकता। छान्दोग्य कहता है 'हे श्वेतकेतो। अन्नरूप पृथिवी कार्य से जल रूप मूल कारण को तू जान। कार्यरूप जल से

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० १९५
२ श्वेत० उ०, ४-५

तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान। यही सत्य स्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है।'[1] 'यह प्रकृति समस्त जड जगत् का आदि कारण है। सृष्टि से पूर्व यह सब जगत् असत् के समान प्रकृति मे लीन होकर वर्तमान था।'[2] 'हे सोम सत् रूप प्रकृति पूर्व ही विद्यमान थी।'[3] उपनिषदो मे माया शब्द का भी यदा प्रयोग किया है जैसे उपनिषद कहता है कि 'माया को प्रकृति जानो और मायावी को परमेश्वर।'[4] उपनिषद के ऋषि ने यहा पर माया को प्रकृति माना है जो 'लोहित कृष्ण व शक्ल वर्ण की न उत्पन्न होने वाली है।'[5] जिससे वह परमात्मा सृष्टि की रचना कर देता है जिसमे एक अन्य (जीव) सत्व, रज, तम इन गुणो के चक्र मे पाया जाता है।[6]

ब्रह्म सूत्र उपनिषद दर्शन के अत्यन्त समीप हैं। इन ब्रह्म-सूत्रो मे शुरू से अत तक माया शब्द केवल एक स्थान पर आया है वह भी शकराचार्य के मायावाद के अर्थ मे न आकर जगत् की सत्यता को स्वप्नवत् बताने वालो के विरुद्ध आया है। प्रसग इस प्रकार है स्वप्नवादी (संसार को स्वप्नवत् मिथ्या वाला) कहता है कि स्वप्न मे जाग्रत के समान ही सब पदार्थ होते हैं जैसे रथ के स्वप्न मे रथकार एव उनके निर्माता आदि वर्तमान होते है इसलिये स्वप्न के समान जगत् भी मिथ्या है।[7] इसका महर्षि बादरायण उत्तर देते है कि 'यह तो सब मायामात्र है क्योकि स्वरूप से इनकी अभिव्यक्ति नही होती है'।[8] इससे पूर्व शास्त्रकार कह आये हैं कि वैधर्म्य के होने से स्वप्न व जाग्रत के पदार्थ एक से नही हो सकते।[9] यहा पर माया का अर्थ अज्ञान रूप मे किया गया है जैसा कि मायावादी भी कहते हैं। परन्तु शास्त्रकार को जाग्रत की अवस्था स्वप्न के

---

१ '(एवमेव खलु) सोम्यान्ने···सत्प्रतिष्ठा।' छा० उ० ६-८-४ पर दयानन्द का अर्थ देखिये सत्यार्थप्रकाश पृ० २११।
२ 'असद्वा इदमग्र आसीत्।' तै०उ० २-७-१।
३ 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'। छ०उ० ६-२।
४ 'माया तु प्रकृति विद्यान्मायिन तु महेश्वरम्'। श्वेत०उ० ४-१०।
५ 'अजामेका लोहित शुक्ल कृष्णां'। वही, ४-५
६ 'तस्मिश्चान्यो मायया सनिरुद्ध'। वही, ४-६।
७ वे० दर्शन, ३-२-२।
८. वही, पृ० ३-२-३।
६ वही, पृ० २-२-१।

समान मान्य नही है क्योंकि दोनो में गुणात्मक भेद है। एक स्वयमेव भ्रम है दूसरा समष्टि सत्य है। इसलिये मायावादी का सिद्धान्त स्वय वेदान्त सूत्रों में प्रमाणित नही होता वल्कि इसके विपरीत इस शास्त्र में जगत् व प्रकृति की सत्यता एव परमात्मा द्वारा उससे सृष्टि की रचना का व्याख्यान अनेक सूत्रों में वहुतायत से पाया जाता है।[1] यहा पर आनन्द की वात यह है कि इन सूत्रो का भाष्य शकराचार्य जी भी जगत् की सत्यता के रूप मे ही करते हैं लेकिन व्यवहारिक सत्ता के रूप मे जो स्पष्टतया अनुचित है। शास्त्रकार कही भी इन दो प्रकार की सत्ताओ का वर्णन नही करता।

उपनिषदों के अध्ययन मे स्वामी दयानन्द की विचारधारा का यही आधार है कि ब्रह्म जो कि परमात्मा, ईश्वर आदि नामों से पुकारा जाता है, तथा जीव व प्रकृति तीनो अनादि सत्तायें हैं।

स्वामी दयानन्द के दर्शन मे प्रकृति का स्वरूप एकदम साख्यो की प्रकृति से मिलता हुआ है। वह कहते हैं कि "(सत्व) शुद्ध (रज) मध्य (तम) जाड्य अर्थात् जडता तीन वस्तु मिलकर जो सघात् है उसका नाम प्रकृति है।"[2] यहाँ पर स्वामी दयानन्द का साख्यो के अनुसार प्रकृति को मानने से उन पर साँख्यों के समान नास्तिक व प्रकृतिवादी (Materialist) होने का आरोप लगाया जा सकता है। परन्तु विरोधियो का वह आरोप सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि प्रथम तो दयानन्द प्रकृति के साथ-साथ ईश्वर व जीव को भी अनादि सत सत्ता वताते हैं दूसरे उनके मत में साख्य भी अनीश्वरवादी नही है। दयानन्द साख्य-दर्शन को अनीश्वरवादी नहीं मानते, यह हम तीसरे अध्याय में प्रमाणो के आधार पर दिखा चुके हैं। स्वामी शकराचार्य का साख्य शास्त्र के विरुद्ध यह प्रमुख आक्षेप था कि निष्क्रिय पुरुष एव जड प्रधान से प्रधान में गति न आने से सृष्टि का उपक्रम नही रचा जा सकता। इस आक्षेप मे तभी तक औचित्य रहता है जव तक कि हम साख्य को अनीश्वरवादी मानते हैं। स्वामी दयानन्द ने सांख्य सूत्रों के ही आधार पर साख्य मे ईश्वरवाद का विचार वनाया है, इसलिए साख्यो के प्रधानवत् अपने दर्शन मे प्रकृति का स्वरूप मानने पर स्वामी दयानन्द प्रकृतिवादी (materialist) नही होते।

१. 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'। वही, पृ० १-४-२३।
२ 'सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति...।' सां० सू० १-६१। इस सूत्र पर दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश पृ० २१०।

कार्य-कारणवाद

महर्षि दयानन्द द्वारा मान्य तीन कारण—नैयायिकों की तरह स्वामी दयानन्द तीन कारण मानते है "**एक निमित्त, दूसरा उत्पादन, तीसरा साधारण कारण। निमित्त कारण** उसको कहते है कि जिसके बनाने मे बने न बनाने मे न बने। आप स्वयं बने नही दूसरे को प्रकारान्तर बना देवे। दूसरा **उपादान कारण** उसको कहते हैं जिसके विना कुछ न बने, वही अवस्थान्तर रूप होके बने और बिगडे भी। तीसरा **साधारण कारण** उसको कहते है कि जो बनाने मे साधन और साधारण निमित्त हो। निमित्त कारण दो प्रकार के हैं। एक—सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सबकी व्यवस्था रखने वाला **मुख्य निमित्त** कारण परमात्मा। दूसरा परमेश्वर की सृष्टि मे से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर बनाने वाला **साधारण निमित्त कारण** जीव। उपादान कारण प्रकृति परमाणु जिसको सब ससार की बनाने की सामग्री कहते है वह जड होने मे आप से आप न बन और न विगाड सकती हैं। परन्तु दूसरे के बनाने मे बनती और बिगाडने मे विगडती है।" वह आगे कहते है "जब कोई वस्तु बनायी जाती है तब जिन-जिन साधनो से अर्थात् ज्ञान दर्शन बल, हाथ और नाना प्रकार के साधन और दिशा-काल और आकाश साधारण कारण होते हैं।"[1]

स्वामी दयानन्द के अनुसार कार्य-कारण का नियम सृष्टि का एक व्यापक नियम है। यह ससार की प्रत्येक घटना मे वर्तमान पाया जाता है, जैसे आकर्षण का सामान्य नियम है जो ब्रह्माण्ड की समस्त घटनाओ मे व्यापक मिलता है। वैशेषिक शास्त्र का मत है कि कारण के होने ही से कार्य होता है[2] अर्थात् कारण के अभाव मे कार्य का अभाव होता है परन्तु इसके विपरीत कार्य के अभाव मे कारण का अभाव नही होता।[3] दयानन्द वैशेषिक के इस सिद्धान्त

---

१ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१२।

२ वै० सू० ४—२—२।   ३. वै० सू० १—२—२।

को यथावत् मानते हैं कि कारण के बिना कार्य सम्भव नहीं, जैसे मिट्टी के अभाव में मिट्टी से निर्मित घड़े का अभाव होगा क्योंकि हो सकता है कुम्भकार न हो या कुम्भकार भी हो परन्तु साधन न हो। अतः किसी वस्तु के बनने में उपादान, निमित्त और साधारण इन तीनों कारणों की आवश्यकता होती है। दयानन्द के मत में इस सृष्टि के भी ये ही तीन कारण हैं अर्थात् जगत् का उपादान कारण प्रकृति निमित्त कारण ईश्वर तथा साधारण कारण दिक्, काल, जीवों के कर्म आदि हैं। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा (निमित्त कारण) पहले से वर्तमान प्रकृति (उपादान कारण) से सृष्टि की रचना दिक्-काल आदि (साधारण कारण) से करता है। अतः दयानन्द के दर्शन में जगत् का उपादान ब्रह्म न होकर प्रकृति है जो नित्य है।

प्राचीन ग्रीक दर्शन में अरस्तू ने जगत् के पीछे चार कारणों को स्वीकार किया था वे हैं उपादान कारण (Material Cause), प्रत्यय कारण (Formal Cause), निमित्त कारण (Efficient Cause), एवं अन्तिम कारण (Final Cause)। इनमें उपादान कारण द्रव्य (Matter) है, प्रत्यय कारण जगत् का प्रत्यय है जिसके अनुसार जगत् का निर्माण हुआ है, निमित्त कारण ईश्वर है जिसने जगत् निर्माण को गति दी तथा अन्तिम कारण जगत् बनाने का उद्देश्य है जिसके लिये संसार का निर्माण किया गया है। दयानन्द और अरस्तू के कार्य कारण के सिद्धान्त में कोई विशेष भेद नहीं है। अरस्तू के उपादान व निमित्त कारण बिल्कुल दयानन्द की तरह हैं तथा प्रत्यय कारण व अन्तिम कारण दयानन्द के साधारण कारण के अन्दर ही समा जाते हैं क्योंकि दयानन्द साधारण कारण में, ईश्वर के ज्ञान, दर्शन, बल तथा जीव के कर्म आदि को जिनके भोग के लिये सृष्टि का निर्माण हुआ है, लेते हैं।

कार्य-कारणवाद का नियम शाश्वत है या नहीं? क्या वास्तव में संसार की प्रत्येक घटना के पीछे कोई न कोई कारण होता है? इन प्रश्नों पर दार्शनिकों में सदैव ही शंका रही है। ब्रिटिश अनुभववादियों में ह्यूम ने कार्य-कारण के नियम का खण्डन किया है। ह्यूम संसार की घटनाओं में कार्य पूर्वापर सम्बन्ध नहीं मानते वरन् आकस्मिक संयोग मात्र मानते हैं।

ह्यूम के कार्य-कारणवाद को आकस्मिक घटनाओं के रूप मे नही माना जा सकता। क्योंकि यदि माना जाय कि पृथक-पृथक घटनाओं के आकस्मिक सम्बन्ध को ही अज्ञानवश कार्य-कारण माना गया है। तब हम पूछते हैं कि गेहूँ के बीज से अनुकूल वातावरण मिलने पर गेहूँ का ही पौधा क्यों होता है चने या धान का क्यों नही होता ? यद्यपि आज के कुछ वैज्ञानिक दार्शनिक कार्य-कारणवाद के नियम को एक पुरानी कल्पना बताते है लेकिन फिर भी विज्ञान इसी सिद्धान्त पर आश्रित है। शून्य आकाश मे मानवरहित राकेट अपने निश्चित पथ पर क्यों चलते हैं क्योंकि वैज्ञानिकों को विश्वास है कि उसके सकेतों पर राकेट सदैव ही तदनुकूल व्यवहार करेगा। यदि यह भी घटनाओं का आकस्मिक मेल होता तो सारी की सारी वैज्ञानिक गणना व्यर्थ हो जाय। वैज्ञानिक गणनाये भविष्य की घटनाओं को, निश्चित कारणों द्वारा निश्चित कार्य उत्पन्न करने के सिद्धान्त के आधार पर ही, तय करती हैं। यह तो हो सकता है कि एक कार्य के अनेक सूक्ष्म कारण होते हैं उनमे से सभी को हम न जान सकें। जैसे चीटिया अपने अण्डो को वर्षा के आगमन पर सुरक्षित स्थान पर ले जाती हैं लेकिन बिना वर्षा के भी ले जाती देखी गयी है। जब वर्षा नही होती तब टीले के असुरक्षित होने के कारण ले जाती हैं। तात्पर्य यह है कि चाहे हम किसी कार्य को कारण की सूक्ष्मता अथवा विविधता के कारण न जान सकें परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि कार्य-कारण का सम्बन्ध होता ही नही। जब स्वामी दयानन्द यह कहते हैं कि "कारण के न होने से कार्य कभी नही होता"[1] तब इससे उनका तात्पर्य यह है कि कारणावस्था कार्यावस्था से पूर्व होती है। कारणावस्था मे परिवर्तन ही कार्यावस्था है। जो यह पदार्थ एक क्षण पूर्व था उसमे अगले क्षण मे जो परिवर्तन हुए वह उसके कार्य हैं। लेकिन जिन पदार्थों का कोई कारण नही और उनकी सत्ता है, वे नित्य पदार्थ है। जिस समय पदार्थ अपनी विशुद्ध कारणावस्था मे होते हैं एवं उनमें परिवर्तन नही होते उस समय तक उनमे कार्य-भाव नही होता जैसे प्रलयावस्था मे प्रकृति अपनी मूल कारणावस्था मे जब तक परिवर्तनरहित बनी

१ सत्यार्थ प्रकाश पृ० २८।

रहती है उसमें कार्य-मात्र तिरोहित होता है। परमात्मा के गति देने से कारणावस्था से कार्यावस्था की ओर क्रिया प्रारम्भ हो जाती है

वैशेषिक का असत्कार्यवाद व सांख्य का सत्कार्यवाद—इसी पुस्तक के पृष्ठ ७६ पर देखिये।

परिवर्तन

जब हम परिवर्तन पर विचार करते हैं तब बौद्धों के क्षणिकवाद पर विचार किये बिना इसका अध्ययन अधूरा ही रह जाता है। बौद्ध दर्शन में संसार को क्षणिक कहा गया है। महात्मा गौतम बुद्ध ने जब इस संसार को सर्व क्षणिक कहा तो उनका इससे तात्पर्य था कि जिस संसार में हम रहते हैं वह क्षणभंगुर है। उनके लिये यह एक विशुद्ध नैतिक प्रश्न था। अंगुत्तर निकाय में वह कहते हैं संसार अनित्य है।[1] यह ऐसा उपदेश है जो बौद्ध साहित्य में ही नहीं वरन् औपनिषदिक ऋषियों एवं गीता में अनेक बार कहा गया है। भगवान बुद्ध कहा करते थे सम्पूर्ण भव अनित्य, दुःख एवं परिवर्तनशील है।[2] संसार को पानी के बुलबुले की तरह देखो, मृगमरीचिका की तरह देखो तब फिर मृत्युराज तुम्हें नहीं देखेगा।[3] यहां पर संसार का क्षणिक कहने में महात्मा बुद्ध का तात्पर्य कभी भी एक विशुद्ध तात्विक सिद्धान्त के रूप में नहीं था, जोकि उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों का केन्द्रिय सिद्धान्त बन गया। और यदि हम डा० राधाकृष्णन् के शब्दों पर विश्वास करें (जैसा कि अविश्वास का कोई कारण नहीं दीखता) तो बुद्ध परिवर्तनों के आधार में एक स्थायी तत्त्व

---

१. 'अनिच्चावत संखारा'। बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भाग १ पृ० ७०१ पर अंगुत्तर- निकाय से उद्धृत ले० बलदेव उपाध्याय।

२. 'सब्बेनव अनिच्चा दुखा विपरिणामधम्मा'। अंगुत्तरनिकाय, ४–१९–१

३. 'यथा बब्बलूकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं। एवं लोकमवेक्खन्तं मच्चु राजा न पस्सति।' धम्म पद, १३

को मानते थे,[1] एव क्षणिक कहने से उनका तात्पर्य ससार की क्षणभगुरता से ही था ।

लेकिन वाद के वौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायो ने इसी वाक्य को गम्भीर चिन्तन का विषय वना लिया । रत्नकीर्ति वहते हैं कि स्थिर वस्तुओ मे परिवर्तन सम्भव नही इसलिये जिन अवस्थाओ से परिवर्तन है, केवल वही है और कोई स्थायी द्रव्य नही है । क्षणिकवाद का मूल कथन है कि कोई भी वस्तु स्थिर नही है सव परिवर्तनशील हैं जो अव से एक क्षण पहिले था वह अव नही हैं, जैसे नदी का प्रवाह एक स्थान पर प्रतिक्षण नवीन है तो भी नदी का प्रवाह सतत् प्रतीत होता है । अर्थ-क्रिया-कारित्व का अर्थ है सत् पदार्थ प्रत्येक क्षण अपने कार्यों को उत्पन्न करता है अन्यथा वह सत् नही रहेगा । कार्यो को उत्पन्न करने का अर्थ है अपने स्वरूप का परिवर्तन और जहा परिवर्तन है वहा क्षणिकता है । इस प्रकार हर अर्थ-क्रियाकारी पदार्थ—अर्थात् सत्—क्षणिक ही है ।

स्वामी दयानन्द वौद्धो की क्षणिकवाद की इस सुन्दर व प्रिय व्याख्या को नही मानते । उनका कथन है कि "जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्तमान मे अनित्यत्व और परम सूक्ष्म कारण को अनित्य कहना कभी नही हो सकता ।"[2] इससे स्वामी दयानन्द का तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ मे वर्तमान मे दिखाई दे रहे हैं वे प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओ का सघातमात्र हैं, जो निरतर परिवर्तनशील है क्योकि परमाणुओ का सयोग-वियोग सदैव चलता रहता है इसलिये इनका वाह्य रूप अनित्य है परन्तु वास्तविक स्वरूप जो कि परमाणुओ मे भी सूक्ष्म सत्व, रज व तम का प्रधान है उसमे कोई परिवर्तन नही होता ।

---

१. "There is a an unborn, an unoriginated an unmade an incompounded, were there not, mendicants, there would be no escape from the world of the born, the originated, the made and the compounded"

(Udyana VIII 3 as quoted by Dr S Radhakrishnan in his book Indian Philosophy, Vol 1, Page 379-380)

२. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २१८ ।

वर्तमान के पदार्थ इन्हीं तीनों गुणों के भिन्न-भिन्न अनुपात में मिलने पर बनते हैं। स्वामी शङ्कर बौद्धों का खण्डन इस आधार पर करते हैं कि बौद्धों के मत में जगत् भ्रम का आधार असत् अर्थात् शून्य है। आचार्य शङ्कर का कहना है कि निराधार न तो जगत् हो सकता है न भ्रम और न परिवर्तन। कान्ट के सत् पदार्थ (thing-in-itself) का विचार भी यही है कि परिवर्तन के पीछे एक नित्य पदार्थ है।[1] परन्तु हम यह भी नहीं कह सकते कि यह नित्य पदार्थ परिवर्तनशील है, वरन हमें यह कहना चाहिये कि नित्य पदार्थ के अवयवों संयोग-वियोग से नवीन पदार्थ उत्पन्न होते हैं स्वयं द्रव्य अपने स्वभाव अपरिवर्तनशील है क्योंकि जो परिवर्तनशील है वह स्थायी नहीं हो सकता।

स्वामी दयानन्द के ज्ञान में यह नित्य पदार्थ जो कि जगत् का उपादान शङ्कर का ब्रह्म नहीं है जिसमें जगत-भ्रम होता हो वरन प्रकृति है जो सत् तथा त्रिगुणात्मक है। कान्ट इसे अज्ञेय बताते हैं इसलिये वह नहीं कह सकते कि यह क्या है? क्षणिकवाद में एक भारी कमी यह है कि इस सिद्धान्त के आधार पर वस्तुओं की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि नवीन वस्तु को जन्म देने से पूर्व क्षण में ही वस्तु नाश को प्राप्त हो चुकी होती है। फिर वह पदार्थ दूसरे को क्या जन्म देगा। दूसरी तरफ जो लोग सर्वथा अपरिवर्तनशील निरवयव स्थायी सत्ता को मानते हैं उनके मत में हम स्थायी पदार्थ में परिवर्तन को भी नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा मानने पर वह पदार्थ नष्ट हो जावे फिर वह नवीन को जन्म नहीं दे सकता। इन कठिनाइयों को विचारते हुए हमें स्वामी दयानन्द के इस मत में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि

---

१ 'According to Aristotle, identity is necessary for change All change involves a permanent that changes, we cannot think of change without a permanent It is the truth contained in Kant's Second Analogy of Experience Without the permanent, no relations in time are possible' (Indian Philosophy, Vol 1, P 376-377, Dr S Radhakrishnan)

सृष्टि 'सयोग-विशेषो से अवस्थान्तर दूसरी अवस्था को सूक्ष्म स्थूल-स्थूल बनते बनाते विचित्र रूप बनी है इसी से यह ससर्ग होने से सृष्टि कहाती है ।"[1] प्रकृति के सूक्ष्म अवयवो म सयोग-वियोग से सृष्टि के भिन्न-भिन्न पदार्थ बनते बिगडते ह परन्तु द्रव्य का नाश नही होता ।

दिक् और काल

"निष्क्रमण प्रवेशनमित्याकाशस्य लिगम्" । वैशेपिक सूत्र २-१-२० 'जिसमे प्रवेश और निकलना होता है वह आकाश का लिग है ।"[2] प्रत्येक वस्तु किसी स्थान मे है । हम लोक मे किसी ऐसी वस्तु की कल्पना नही कर सकते जो कही पर न हो । दिक् एव काल के विषय मे स्वामी दयानन्द वैशेपिक के मत को ही अपना लेते है । आकाश मे पदार्थों की स्थिति होती है । इस ब्रह्माण्ड का हर पदार्थ किसी न किसी स्थान पर स्थित है ।[3] जो पदार्थ भ्रमणशील हैं वह भी हर क्षण किसी न किसी स्थान विशेष मे है । एव हर क्रिया किसी काल मे सम्पन्न होती है । यहा-वहा, इधर-उधर एव ऊपर-नीचे यह सब दिक् के भीतर है । दिशाये भी दिक् मे सम्पन्न होती हैं यथा जिधर सूर्य उगता है वह पूर्व जिधर अस्त होता है वह पश्चिम । इसी प्रकार उदय की अपेक्षा से दाहिने दक्षिण और दाये उत्तर होता है ।[4] लम्बाई, चौडाई एव ऊचाई दिक् मे तीन विमायें हैं जो सब भौतिक पदार्थों मे पायी जाती हैं ।

काल मे गति होती हैं । अब, जब एव तब अर्थात वर्तमान, भूत तथा भविष्य काल की माप है । शीघ्र, विलम्ब इत्यादि का प्रयोग भी काल मे किया जाता है ।[5] स्वामी दयानन्द का कथन है कि काल अनित्य पदार्थों मे ही प्रयोग मे आता है परन्तु नित्य पदार्थों के लिये नही[6] है । इससे उनका तात्पर्य यह है

१. सत्यार्थप्रकाश पृ २२४
२ सत्यार्थप्रकाश ५४
३. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २, पृ० ४०५
४ वै० सू० २–२–१५ व १६
५ सत्यार्थप्रकाश, पृ० ५४
६ सत्यार्थप्रकाश, पृ० ५४

कि नित्य पदार्थों मे बनने-बिगडने की क्रिया का अभाव पाया जाता है, अनित्य पदार्थ बनने-बिगडने वाले हैं अत बनने का कार्य भी काल मे होता है और बिगडने का भी।

लेकिन दिक् के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही है। प्रकृति जो कि स्वामी जी के दर्शन मे नित्य पदार्थ है, अपनी कारणावस्था मे भी दिक् मे वर्तमान रहती है। इससे इनके मत मे दिक् सदैव रहने वाला है।[1]

स्वामी दयानन्द की दिक् एव काल की विचारधारा उनकी यथार्थवादी दर्शन की विचारधारा के अनुकूल है। कान्ट दिक्-काल को मानसिक बनाते है तब समझ मे नहीं आता कि द्रव्य जो अपने आप मे वास्तविक है तथा जिसकी सत्ता मन से पृथक है कैसे और कहा स्थित होगा। यहा तक कि दिक् मे वस्तुओ मे आपसी सम्बन्ध भी हमारे मानसिक प्रत्ययो से पृथक है। मानसिक प्रत्यय किसी भी रूप से वस्तुओ के आपसी सम्बन्धो को नही बना सकते। यदि दिक्-काल मानसिक होते जैसा कि कान्ट का कहना है, तब हमारी मानसिक कल्पना उन्हे जैसा चाहे बना लेती, जिस रूप मे चाहे स्थित कर देती है। लेकिन यूरोप भारतवर्ष के पश्चिम मे है इस दिक् सम्बन्ध को हम किसी भी प्रकार बदल नहीं सकते। जब तक कि प्रकृति ही इसे न बदले। हम रसल के विचारो मे इसका समर्थन पाते है।[2]

दिक् मे दिशा हमारी बनाई हुई है, इसे स्वामी जी स्वीकार कर लेंगे क्योकि दिशा सूर्य के और पृथिवी के सम्बन्ध मे है। अनन्त आकाश मे ऊपर-नीचे, इधर-उधर एव भीतर-बाहर कुछ भी नही है यह सब पदार्थो के सम्बन्ध मे है। यही तथ्य काल के सम्बन्ध मे भी है, वर्तमान, भूत व भविष्यत का

---

१ 'वास्तव मे आकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश के परमाणु कहा ठहर सकें।' सत्यार्थप्रकाश, पृ० १२२

२. A History of Western Philosophy, p 241, B Russell

ज्ञान तथा पदार्थों मे क्रिया व परिवर्तन हुए, होते हैं एव होंगे पदार्थों के विषय से सापेक्ष हैं। वास्तव मे अनन्त काल मे न भूत है, न वर्तमान, न भविष्यत्। स्वामी जी कहते है कि परमेश्वर का ज्ञान त्रिकालिक नही होता क्योकि उसके नाम मे त्रिकाल नाम का कोई ज्ञान नही वरन् परमेश्वर का ज्ञान अखड एकरस है। भूत व भविष्यत् जीवो के लिये हैं,[1] जो ज्ञान का सम्बन्ध काल मे करते हैं।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि व्यावहारिक दिक्-काल कोई हमारे मानसिक प्रत्यय होने से हम पर आश्रित हैं जैसा कि कान्ट कहता है। व्यवहार के दिक्-काल भी हमसे पृथक् हैं क्योंकि वस्तुओ की स्थिति हम से पृथक् है और परिवर्तन व स्थिति वस्तुओ मे होती है इससे ये किसी भी रूप मे अपनी सत्ता के लिये जीव पर आश्रित नही हैं। व्यावहारिक काल व दिक् अनन्त काल व दिक् के रूप मात्र है जो हम व्यवहार की सरलता तथा ज्ञान-विज्ञान की गणना के लिये पदार्थों के सम्बन्धो व परिवर्तनो से मान लेते हैं। इस विषय पर विज्ञानभिक्षु का मत स्वामी जी से मिलता है।[2]

सृष्टि वृत्तान्त

साख्यो की तरह स्वामी दयानन्द भी कार्यकारणवाद के सिद्धान्त पर चलते हुये जगत् के उत्पादन कारण के लिये प्रकृति पर पहुँचते है। कारण मे कार्य अव्यक्तावस्था मे होता हैं यह साख्यो का सत्कार्यवाद का सिद्धान्त स्वामी

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६२

२ साख्य प्रवचन भाष्य

"But these, space and time, which are limited, are produced from Akasha through the conjunction of this or that, limiting object (Upadhi)" as quoted by S, Radhakrishnan in his Indian Philosophy, Vol 2, page 277

जी को पूर्णतया मान्य है। यदि कारण में कार्य निहित न हो, तो किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो जाय। तब बौद्धों के शून्यवाद में क्या बुराई है। उनके मत में असत् से सत् अर्थात् शून्य से भाव की उत्पत्ति होती है। स्वामी दयानन्द का कथन है कि कार्य रूपी अंकुर 'जो बीज का उपमर्दन करता है वह पहिले ही बीज में था, जो न होता तो उत्पन्न कभी नहीं होता।'[1] प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है तथा जो कारण है वह भी किसी का कार्य है, परन्तु कार्य-कारण की यह शृङ्खला अनन्त तक नहीं चल सकती। अतः हमें एक अन्तिम कारण के रूप में एक ऐसी सत्ता को मानना पड़ेगा जो समस्त ब्रह्माण्ड का उपादान है। यह उपादान स्वामी जी के शब्दों में 'सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है, (और) यह सब जगत् असत् के सदृश प्रकृति में लीन होकर वर्तमान था अभाव न था।'[2]

प्रारम्भ में प्रकृति अपने तीन गुण सत्व, रज और तम की साम्यावस्था में थी जैसा की सांख्य कहता है। उस अवस्था में यह जगत् न किसी के जानने न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिह्नों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य था।[3] क्योंकि कार्य जगत् अपने सूक्ष्म कारण मूल प्रकृति में लीन था। उस समय प्रकृति की अवस्था गम्भीर कोहरे के सदृश थी। उस अवस्था में परमाणु भी अपनी मूल कारणावस्था सत्व, रज व तम में लीन हो चुके थे। केवल सत्व, रज व तम का सूक्ष्म प्रधान सर्वत्र फैला हुआ था। तब न रात्रि थी, न दिन, न मृत्यु थी और न जन्म, क्योंकि जब सूर्य आदि प्रकाशमान् पिण्ड ही नहीं थे तो दिन का व्यवहार कैसे माना जाता। इसी प्रकार जब शरीरधारी मनुष्य ही न थे तो मृत्यु किसकी होती, इससे मृत्यु भी न थी। सर्वत्र घोर अन्धकार था।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१७।

२. वहीं, पृ० २११।

३. वहीं, पृ० २१८

स्वामी दयानन्द के दर्शन मे सत्व, रज और तम प्रकृति के ये तीनो गुण वैशेषिको के गुणो के समान नही है बल्कि साख्यो के अनुसार स्वय प्रकृति के रूप हैं।[1] वैशेषिको के गुण धर्म-धर्मी भाव से धर्मी के धर्म हैं परन्तु साख्यो के सत्व, रज व तम स्वय प्रकृति है।[2] साम्यावस्था मे प्रकृति के तीनो गुणो म साम्यता रहती है। सत्व, रज व तम का गठन इस प्रकार होता है कि एक गुण दूसरे की क्रिया को रोके होता है।

कल्प के आदि मे परमात्मा अपनी सामर्थ्य से कारणरूप प्रकृति को कार्यरूप जगत् मे परिणत कर देता है। दयानन्द कहते हैं कि यह सब जगत् सृष्टि के पहिले अन्धकार से आवृत्ति रात्रि रूप मे जानने के अयोग्य आकाशरूप सब जगत् तथा तुच्छ अर्थात् अनन्त परमात्मा के सम्मुख एक देशी आच्छादित था पश्चात् परमेश्वर ने अपनी सामर्थ्य से कारणरूप मे कार्यरूप कर दिया।[3] यहा पर दयानन्द का तात्पर्य यह है कि जड प्रधान स्वय सृष्टि उत्पन्न नही कर सकता। और यदि यह कहा जाय कि प्रधान मे सृष्टि कर्तृत्व स्वभाव से है। तब इस पर दयानन्द का तर्क है कि जिन पदार्थों का जो स्वभाव होता है, वह नष्ट नही होता इससे सृष्टि-निर्माण-कला प्रधान का स्वभाव होने से विनाश का प्रश्न नही उठता और यह विनाश स्वभाव से हो तो निर्माण कभी नही हो सकता और जो दोनो स्वभाव युगपत् द्रव्यो मे माने तो दयानन्द उत्तर देते हैं कि इससे उत्पत्ति और विनाश दोनो की ही व्यवस्था भग हो जायेगी।[4]

---

१ '(सत्व) शुद्ध (रज) मध्य (तम) जाड्य अर्थात् जडता तीन वस्तु मिलाकर जो एक सघात है उसका नाम प्रकृति है।' सत्यार्थप्रकाश, पृ० २१०

२ 'सत्वादीनामतद्धर्मत्वम् तद्रूपत्वात्'। साख्यसूत्र, ६–३९।

३. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २०८।

४. 'जो स्वभाव से जगत् की उत्पत्ति होवे तो विनाश कभी न होवे और जो विनाश भी स्वभाव से जानो तो उत्पत्ति न होगी और जो दोनो स्वभाव युगपत द्रव्यो मे मानोगे तो उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था कभी न हो सकेगी।' सत्यार्थप्रकाश, पृ० २२०।

इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द का तर्क है कि 'बिना कर्ता के कोई भी क्रिया या क्रियाजन्य पदार्थ नहीं बन सकता। जिन पृथिवी आदि पदार्थों में संयोग-विशेष से रचना दीखती है वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो संयोग से बनता है वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के अन्त में नहीं रहता।'[1] इससे सृष्टि का निर्माणकर्ता निमित्त रूप परमात्मा है। यह हम इसी पुस्तक के पृष्ठ १०३ पर कह आये हैं कि ठीक इसी रूप में स्वामी दयानन्द सांख्य में भी ईश्वर के द्वारा सृष्टि निर्माण मानते हैं, तभी सांख्य का प्रधान उपादान हो सकता अन्यथा नहीं।

प्रकृति से विकृति का किस प्रकार निर्माण होता है इसका स्वामी जी इस प्रकार वर्णन करते हैं: परमात्मा प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करता है जिससे तीनों गुणों की साम्यावस्था नष्ट हो जाती है और प्रकृति निश्चित नियमों के आधार पर विकृति की ओर चल देती है। प्रकृति का सर्वप्रथम विकार महत्तत्व बुद्धि, उससे अहंकार, उससे पञ्चतन्मात्रा सूक्ष्म भूत और दस इन्द्रियां तथा ग्यारहवां मन, पञ्च तन्मात्राओं से पृथिव्यादि पांच भूतों की उत्पत्ति होती है।[2] प्रकृति से सृष्टि के विधान का यह क्रम दयानन्द ज्यों का त्यों सांख्य से लेते हैं। इनमें और अन्य सांख्य टीकाकारों में भेद यह है कि स्वामी जी पुरुष शब्द से परमात्मा व जीवात्मा दोनों का ही ग्रहण करते हैं। सांख्य की तरह वे भी इस सृष्टि-क्रम को चार विभागों में विभाजित करते हैं (१) प्रकृति अविकारिणी, (२) महत्तत्व, अहंकार और पांच सूक्ष्म-भूत प्रकृति के कार्य हैं, परन्तु स्थूल भूतों के कारण होने से प्रकृति भी है इससे यह प्रकृति-विकृति दोनों है, (३) इन्द्रियां मन व स्थूल भूत विकृति हैं तथा (४) पुरुष न किसी की

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २२०–२२१।

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१०

प्रकृति है और न किसी का कार्य ।[1] सांख्यकारिकाकार ने भी सृष्टि-क्रम के यही चार विभाजन किये हैं ।[2] महत्तत्व आदि प्रकृति के विकार क्या हैं ? इस विषय को दयानन्द अधिक स्पष्ट नही करते । उन्होने इनका कही विशद् वर्णन नही किया । प्रतीत होता है कि इस पर वे सांख्य से पूर्णतया सहमत है ।

महत्तत्व, सृष्टि क्रम मे प्रकृति का प्रथम विकार है, परन्तु इस अवस्था मे परम सूक्ष्म अवयव परमाणु उत्पन्न नही किये हुये थे । स्वामी दयानन्द विज्ञान भिक्षु के इस विचार से सहमत नही है कि प्रकृति की साम्यावस्था मे गुण सूक्ष्म अवयवो के रूप मे थे ।[3] इसके विपरीत दयानन्द का कहना है कि प्रलयावस्था मे जबकि गुण अपनी वास्तविक अवस्था मे विद्यमान थे । परमाणुओ का कोई अस्तित्व नही था क्योंकि उनका अभी निर्माण नही

---

१ वही, पृ० २१०

२. देखो, सांख्यकारिका न० ३ ।

३ "A different view of gunas is found in Vijanabhiksu, who regards them as subtle entities, infinite in number according to the diversity of individuals

(Indian Philosophy Vol 2 P. 265, Dr S Radhakrishnan)

हुआ था।[1] सृष्टि में परमाणु बाद में आकर उत्पन्न हुये।[2] महत्तत्त्व के पश्चात् अहङ्कार की उत्पत्ति हुई। अहङ्कार भेद का सिद्धान्त है। इसी से सृष्टि की पंचतन्मात्रायें पैदा हुई जो कि परमाणुरूप से थी। अहङ्कार से मूलद्रव्य में पृथक्करण हुआ जिनके परिणामस्वरूप सूक्ष्म अवयवों के रूप में पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। इससे परमाणु प्रकृति में अहङ्कार के द्वारा पञ्चतन्मात्राओं के सूक्ष्मतम अवयवों के रूप में उत्पन्न हुये। वैशेषिक शास्त्र परमाणुओं को द्रव्य के परम सूक्ष्म अवयवों के रूप में कहता है। इससे और परमाणु को कार्य कहने वाले स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं है। इस पर प्रश्न किया जा सकता है कि सांख्य के गुणवाद व वैशेषिक के परमाणुवाद का तो मौलिक मतभेद है फिर स्वामी दयानन्द इन दोनों को ही सत्य कैसे मान सकते हैं? यही स्वामी दयानन्द की मौलिकता है कि वे इसे सृष्टि वर्णन का क्रम-भेद मानकर षड्दर्शनों में समन्वय स्थापित कर देते हैं।[3] सांख्यों ने परमाणुओं को प्रकृति का कार्य माना है।[4] परन्तु पञ्चतन्मात्राओं के रूप में उद्भूत होने से प्रकृति-विकृति की अवस्था में आ जाते हैं। इससे ये प्रकृति के परम सूक्ष्म अवयव भी कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त सांख्य के गुण परमाणु की

---

१ 'परमाणवो-निरावृत्'। दयानन्द ग्रन्थमाला भा०, २ पृ० ४०१

२. 'नित्याया सत्त्व रजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां पृथक्-पृथक् वर्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथम संयोगारम्भः संयोग विशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकार प्राप्तिः सृष्टिरुच्यते'। सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २२३

३ सत्यार्थ प्रकाश पृ० २२३

४ सां० सू०, " ८७

विरचित हुई शक्ति हैं। विखण्डन के पश्चात् परमाणु अवयवों में विभाजित न होकर सत्व, रज व तम में परिवर्तित हो जाता है। इसी भी परमाणु को अवयव की दृष्टि से परम सूक्ष्म कहा जा सकता है। परमाणु के विखण्डन के विषय में आधुनिक विज्ञान भी ठीक इसी प्रकार कहता है। विज्ञान के अनुसार परमाणु (Atom) विखण्डनीय है। खण्डित होकर यह तीन रूपों प्रोटोन इलेक्ट्रोन व न्यूट्रोनों में विभाजित हो जाता है। इसमें प्रोटोन परमाणु की नाभि में शान्त भाव से स्थित रहते हैं तथा धनावेशयुक्त होते हैं, ये इलेक्ट्रानों की ऋणावेशयुक्त शक्ति का सन्तुलन करते रहते हैं। इलेक्ट्रोन ऋणावेशयुक्त होते हैं तथा नाभि के चारों ओर तीव्र वेग से परिक्रमा करते हैं। न्यूट्रोन नाभि में प्रोटोनों के साथ निष्क्रिय भाव में विद्यमान रहते हैं तथा ये आवेशरहित होते हैं। विज्ञान की प्रोटोन, इलेक्ट्रोन व न्यूट्रोन की मान्यता सांख्यों के सत्व, रज व तम ही है। विज्ञान इन्हीं तीनों में परमाणुओं की उत्पत्ति मानता है।

परमाणु की व्याख्या ठीक वैशेषिक के अनुसार करते हुए दयानन्द कहते हैं कि 'सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं से मिले हुये का नाम अणु है।' परमाणुओं से पांच स्थूलभूत किस प्रकार बने इस पर दयानन्द कहते हैं कि "दो अणु का एक द्वयणुक जो स्थूल वायु है, तीन द्वयणुक का अग्नि, चार द्वयणुक का जल, पांच द्वयणुक की पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं।"[1] यमुनाचार्य के विचार में सूर्य के प्रकाश में दीख पड़ने वाले सूक्ष्म अवयव जो कि त्रसरेणु हैं, प्रकृति के सूक्ष्मतम अवयव हैं। यमुनाचार्य की यह धारणा न तो प्राचीन वैदिक शास्त्रों के अनुकूल है और न आधुनिक विज्ञान के ही। स्वामी दयानन्द तीन द्वयणुकों का एक

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३०

त्रसरेणु बताते है। तीन द्व्यणुकों से एक दृश्यमान अवयव बन सकता है, यह भी संदेहास्पद है। जबकि विज्ञान के अनुसार कई हजार परमाणुओं का संघात ही दृश्यमान हो सकता है। उपनिषदों में परमाणु के आकार को बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के बराबर बताया है। अतः दो या तीन द्व्यणुकों का संघात दृश्यमान नहीं होता।

दयानन्द अपने इन विचारों की पुष्टि में वेद व उपनिषदों से अनेक मन्त्र प्रस्तुत करते है और अपनी विचारधारा को वास्तविक रूप से वैदिक साहित्य की सही-सही विचारधारा के अनुकूल लेकर चलना ही उनका यत्न रहा है। सृष्टि विवरण में भी वे उपनिषदों के मन्त्र अपने पक्ष में प्रस्तुत करते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् के एक मन्त्र के अर्थ में वह कहते हैं "उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश, अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा होता है, वास्तव में अवकाश की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें? आकाश के पश्चात् वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल, जल के पश्चात् पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष अर्थात् शरीर उत्पन्न होता है।'[1] आकाश दो प्रकार का है एक शून्याकाश जिसमें समस्त सृष्टि वर्तमान है, जिसका लिंग प्रवेश व निकलना है तथा दूसरा शब्द का माध्यम है जिसका गुण शब्द है। वायु का गुण स्पर्श है परन्तु उसमें उष्णता व शीतलता, तेज और जल के योग से रहते हैं। अग्नि का गुण रूप तथा स्पर्शवान् है। रस जल का स्वाभाविक गुण है, इसके अतिरिक्त जल में शीतलता भी है तथा स्पर्श और रूप गौणिक है, गन्ध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है, स्पर्श, रूप व रस, वायु, अग्नि व जल के संयोग से हैं।

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २२२

स्वामी दयानन्द ब्रह्माण्ड की रचना मे वैदिक मन्त्रो के साक्ष्य से आकाशीय पिण्डो की स्थिति व क्रिया-सिद्धातो का बडा रोचक वर्णन करते हैं। यह कहते है कि हमारी पृथ्वी व खगोल के अन्य आकाशीय पिण्ड परमात्मा ने पचभूतो से उत्पन्न किये है। वेदादि शास्त्रो मे ईश्वर को इसलिये विश्वकर्मा कहा है कि वह विश्व का रचने व धारण करने वाला है। उनका कथन है कि इस ब्रह्माण्ड मे हमारे सूर्य जैसे करोडो सूर्य हैं जो पृथक-पृथक अपने सौरमण्डल के ग्रह-परिवार को प्रकाशित करते है।[1] हमारी पृथ्वी आरम्भ मे सूर्य का ही एक भाग थी, वाद मे उससे पृथक हुई। पृथ्वी, सूर्य इत्यादि पिण्ड आकाश मे गति व आकर्षण के कारण ही अपनी-२ कक्षा मे स्थिर है। वेदो मे पृथ्वी आदि के लिये गौ शब्द का प्रयोग किया है इससे स्वामी दयानन्द का कथन है कि वेद इन पिण्डो को गतिशील कहता है।[2] "पृथ्वी सहित सौरमण्डल के अन्य ग्रह अपने उपग्रहो के साथ सूर्य के चारो ओर भ्रमण करते हैं इनके मार्ग निश्चित हैं। चन्द्रमा पृथ्वी का उपग्रह है।"[3] सूर्य भी भ्रमणशील है। दयानन्द कहते है कि " सूर्य अपनी परिधि मे घूमता है किन्तु किसी लोक के चारो ओर नही घूमता।"[4] इसका तात्पर्य है कि सूर्य तीव्रगति से वृत्ताकार परिधि मे घूमता है परन्तु इस वृत का कोई केन्द्र पदार्थ नही है। कुछ विद्वान इसका अर्थ लेते हैं कि सूर्य अपनी कीली पर घूमता है परन्तु परिधि (वृत्ताकार) मे नही घूमता। बहुत काल तक नक्षत्र-विज्ञान भी इसी को मानता रहा है कि तारे अचल हैं और सूर्य एक तारा है अतः यह भी अचल है तथा ग्रह चलते हैं जैसे पृथ्वी एक ग्रह है और सूर्य के चारो ओर घूमती है। परन्तु उन्नीसवी शताब्दी मे ही दयानन्द ने वैदिक प्रमाणो से हमे बता दिया था कि आकाश का कोई भी गुरु पदार्थ बिना घूमे स्थिर नही रह

---

१ सत्यार्थप्रकाश पृ०२३२

२ दयानन्द-ग्रन्थमाला भा०, २ पृ० ४३० शताब्दी सस्करण

३. वही,पृ०४३१।

४. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३२।

सकता। इससे सूर्य भी घूमता है।[1] परन्तु दयानन्द के अनुसार सूर्य किसी लोक विशेष के चारो ओर नहीं वरन् बिन्दु के चारो ओर घूमता है। गैलिलियो से पूर्व यह समझा जाता रहा कि पृथ्वी इस ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और सूर्यादि समस्त ग्रह-नक्षत्र इस पृथ्वी की ही प्रदक्षिणा कर रहे हैं। गैलिलियो ने इस भ्रम को दूर कर सूर्य को ब्रह्माण्ड का केन्द्र बताया। परन्तु अब सूर्य भी ब्रह्माण्ड का केन्द्र नहीं माना जाता जबकि सूर्य स्वयं अपने सौर मण्डल के साथ किसी अन्य पिण्ड या बिन्दु की प्रदक्षिणा कर रहा है।[2] यहाँ स्वामी दयानन्द का नक्षत्र-विज्ञान से मतैक्य प्रतीत होता है। दयानन्द की इसमें विशेषता यह है कि उन्होंने अब से लगभग अस्सी वर्ष पूर्व यह सब वेद के आधार पर कह दिया था। वे आंग्ल भाषा के विद्वान नहीं थे इसमें विज्ञान की किसी आधुनिक प्रणाली का उन्हें ज्ञान नहीं था। इससे उनकी वेद में ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी मान्यता को बल मिलता है। और यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि यदि वेदों का वैज्ञानिक बुद्धि से अध्ययन किया जाय तो विज्ञान व ब्रह्माण्ड सम्बन्धी और भी नवीन तथ्य सामने आ सकते हैं। सौर मण्डल के परिवारीय पिण्ड सूर्य के आकर्षण से अपनी कक्षा में घूमते हैं। सूर्य पृथ्वी आदि का आकर्षण करता है तथा परमदेव परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड को अपने आकर्षण से थामे हुये है।

आगे स्वामी जी कहते हैं कि वेद कहता है कि परमात्मा ने प्रत्येक लोक के चारो ओर सात-सात परीधियें रची हैं, अर्थात् पृथ्वी के चारो ओर सात आवरण हैं उनमें "पहिला समुद्र, दूसरा त्रसरेणु सहित वायु, तीसरा

---

१ दयानन्द ग्रन्थमाला भाग २, पृ० ४३० व स० प्रकाश, पृ० २३३

२ 'तारों का विचित्र दशा है। उनकी परिभाषा ही गलत हो गयी। समझा जाता था कि ग्रह चलते हैं तारा अचल है। पर यह ठीक नहीं है। तारे भी चलते हैं हमारा सूर्य अपने सारे कुटुम्ब के साथ उस दिशा में चला जा रहा है जिधर अभिजित नक्षत्र है। सूर्य भी किसी बिन्दु की परिक्रमा कर रहा होगा। इसकी परिक्रमा करने में सूर्य को २० करोड़ वर्ष लगते हैं।" (सूचना पचांग सम्वत् २०१६ पृ० ३६ सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ)

मेघमण्डल का वायु, चौथा वृष्टि जल, पाचवा वृष्टि जल से ऊपर एक प्रकार की वायु, छटा अत्यन्त सूक्ष्म वायु जिसको धनजय कहते हैं तथा सातवा सूत्रात्मा वायु जो कि धनजय से भी सूक्ष्म है।"[1] स्वामी दयानन्द का इनसे क्या तात्पर्य है यह उन्होंने स्पष्ट नही किया, परन्तु विज्ञान की रोशनी मे देखने पर इन सात परीधियो के वैज्ञानिक रहस्य का पता चलता है। वैज्ञानिक गवेषणाओं से पता चला है कि पृथ्वी के चारो ओर तीन आवरण हैं। पृथ्वी के धरातल के ऊपर दस मील तक की वायु को टोपोस्फियर, इसके ऊपर तीस मील स्ट्रेटोस्फियर तथा सबसे ऊपर के मण्डल को आयनोस्फियर कहते हैं। निम्नतम भाग टोपोस्फियर मे आक्सीजन, नाइट्रोजन तथा कुछ और गैसें मिलती हैं। इससे ऊपर चलकर गैसो के अणु परमाणुओं मे विभक्त हो जाते हैं, उदाहरण के लिए आक्सीजन के अणु मे आक्सीजन के दो परमाणु होते है, स्ट्रेटोस्फियर मे ये अलग-२ हो जाते है। इससे ऊपर चलकर परमाणु भी धन-विद्युन्मय व ऋण विद्युन्मय कणो मे विखण्डित हो जाता है। इस विखण्डन-क्रिया का कारण यह है कि सूर्य मे हो रहे विस्फोटो के परिणामस्वरूप हाइड्रोजन के कण सूर्य से निकलकर करोडो मील दूर तक फैल जाते है। वैज्ञानिको का विचार है कि यह कण पृथ्वी की तरफ आइनोस्फियर तक पहुचते हैं जहा पर इनकी टक्कर आक्सीजन के परमाणुओ से होती है, इस टक्कर से ये परमाणु विखण्डित हो जाते हैं। आइनोस्फियर के कारण सूर्य मे हो रहे विस्फोटो का घातक प्रभाव हमारी पृथ्वी तक आने से रुक जाता है। पृथ्वी के चारो ओर सात परीधियें निर्माण करने से परमात्मा का तात्पर्य क्या रहा, यह दयानन्द ने सम्भवतः स्थानाभाव के कारण न स्पष्ट किया हो। परन्तु यह स्पष्ट हैं कि इनका तात्पर्य पृथ्वी की, अन्तरिक्ष की शक्तियो के घातक प्रभाव से रक्षा करना भी रहा होगा। वास्तव मे वेद मे वर्णित सात परीधियो का वैज्ञानिक रहस्य है। यह इससे भी स्पष्ट है कि इनमे से प्रत्येक एक दूसरे से उत्तरोत्तर सूक्ष्म है। स्वामी दयानन्द जिसे धनजय कहते हैं वह स्ट्रेटोस्फियर और सातवां

---

१ दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग २, पृ ४१८

सुसूक्ष्म सूत्रात्मा आइनोस्फियर मे मिलते है बाकी पाचो परीधिया टोपोस्फियर के ही पाच भेद हैं।

स्वामी दयानन्द का मत है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड, जिसमे सूर्य जैसे एव इससे भी वृहत करोडो पिण्ड हैं आश्चर्यजनक रूप से वृहद् है। परन्तु परमात्मा के सम्मुख तुच्छ एव उसके किंचितमात्र प्रदेश मे है।[1] परमात्मा अनन्त है विश्व सान्त। परमात्मा विश्व को अपने अन्दर धारण किये हुए है, विश्व उस परम पुरुष के एक प्रदेश मे है। इस शताब्दी के महान् वैज्ञानिक आईन्सटीन का निष्कर्ष भी यही था कि यह ब्रह्माण्ड यद्यपि निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहा है तथापि वह असीम नहीं है।[2] परमात्मा समस्त विश्व मे ओत-प्रोत हुआ सबको धारण कर रहा है इसी से ईश्वर को यजुर्वेद मे 'विभु प्रजासु' (यजुर्वेद मे ३२ ८) कहा है।

जैसी सृष्टि हमारी इस पृथ्वी पर है अन्य ग्रहो पर भी जीव सृष्टि है या नही ? इसके उत्तर मे स्वामी दयानन्द कहते हैं कि अन्य ग्रहो पर भी सृष्टि होगी, परन्तु शरीर की बनावट में भेद होगा। वह कहते हैं कि इसी पृथिवी पर भिन्न-भिन्न स्थानो के निवासियो की आकृति मे जलवायु के कारण भेद हो जाते हैं फिर दूसरे ग्रह-नक्षत्रो के जीवो के शरीरो मे भेद हो तो क्या आश्चर्य है। फिर वह कहते हैं कि परमात्मा ने अन्य ग्रहों पर भी मानवीय सृष्टि मे पृथ्वी के समान वेदरूपी ज्ञान का प्रकाश किया है।[3]

कल्प के आदि मे परमात्मा सृष्टि का निर्माण उसी प्रकार करता है जैसे उससे पूर्व कल्प मे किया था सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय दिन और

---

१ (i) दयानन्द ग्रन्थमाला भा० २ पृ ४०८ शा० स०। (ii) 'अनन्त परमात्मा के सम्मुख असख्यात् लोक एक परमाणु के तुल्य भी नहीं कहे जा सकते।' सत्यार्थप्रकाश पृ० २३१

२. सूचना पंचांग स० २०१६ पृ० ४०। उ० प्र० सरकार लखनऊ, सूचना विभाग द्वारा प्रकाशित।

३ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३४

रात की तरह चलते रहते है। इसी से दयानन्द सृष्टि-क्रिया को क्रम से अनादि कहते हैं।[1] जब जगत् का कारण प्रकृति अनादि है तो सृष्टि-क्रिया भी अनादि होगी, इसे मानने मे हमे कोई आपत्ति नही हैं।

स्वामी दयानन्द का सृष्टि उत्पत्ति क्रिया का वर्णन अपने मे वैज्ञानिक है एवं इसकी मुख्य-२ बातें आधुनिक विज्ञान की खोजो से पूर्णतया मेल खा जाती है। जिस समय स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थो को रचना की थी (१९सवी शताब्दी के मध्य मे) तब तक विज्ञान को ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित कम से कम उन तथ्यो का पता नही था जो आइन्सटीन ने इसे दिये है। उस समय भी स्वामी जी उन्हे जानते थे। इसमे महर्षि दयानन्द वेद का सहारा पकडते हैं कि वेद के मन्त्रो मे ज्ञान-विज्ञान भरा हुआ है और अपने ग्रन्थो मे ब्रह्माण्ड सम्बन्वी तथ्यो का उन्ही के आधार पर व्याख्यान करते हैं। उनकी मौलिकता इसी मे है कि उन्होंने वेद के अन्दर छिपे हुये प्रकृति सबन्धी रहस्यो को खोल दिया तथा निर्भयतापूर्वक उनका प्रतिपादन किया है। जहा उनके कुछ दावे आज वैज्ञानिक जगत् मे स्वीकार्य हैं वहाँ अभी कुछ अतिश्योक्ति-पूर्ण भी लगते है। परन्तु यह तो आज माना जाने लगा है कि ब्रह्माण्ड के अन्य पिण्डो पर भी यहा के समान सृष्टि होगी परन्तु जलवायु के भेद से आकृति भेद होंगे। दूसरे लोको मे भी पृथिवी के समान ही वेदो का प्रकाश परमात्मा ने किया होगा यह अभी तो स्वीकार नही किया जा सकता। हा जब कोई मानव किसी नक्षत्र की यात्रा कर इस तथ्य को स्वय देख लेगा तब अवश्य स्वीकार कर लिया जायेगा और फिर स्वामी दयानन्द के वेद-सम्बन्धी सारे दावे विना शर्त स्वीकार कर लिये जायेगे। परन्तु साथ ही हम स्वामी जी के कथन को निमूंल भ्रम मानकर बातो मे भी नही उडा सकते जबकि उनके वेद-सम्बन्धी अन्य अनेक दावे सत्य सिद्ध हो चुके है।

---

१ वही, पृ० २३४

७

प्रमाण—विद्या

(EPISTEMOLOGY)

भूमिका—भारतीय दर्शन मे ज्ञान किसे कहते हैं ? ज्ञान प्राप्ति के क्या साधन हैं ? ज्ञाता एवं ज्ञेय तथा सत्य और भ्रमित ज्ञान इत्यादि विषयो पर पर्याप्त विचार पाये जाते हैं । उपनिषदो में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इत्यादि विषयो पर सन्दर्भानुसार विचार तो पाये जाते हैं परन्तु ज्ञान और उनके साधन आदि विषयो पर प्रमाणशास्त्र की दृष्टि से विवेचन नहीं है । इनका सूक्ष्म विवेचन बाद में षट्दर्शनो मे और विशेष रूप से न्याय-दर्शन और उससे भी सूक्ष्म रूप में इन दर्शनो पर लिखे गये भाष्य, टीका व वृत्ति आदि मे हुआ है । प्रमाण-शास्त्र दर्शन शास्त्र का सहयोगी अंग है । प्लेटो व अरिस्टोटल के तात्विक विवेचन में इस पर काफी विचार किया गया है । परन्तु सोफिस्टो के लिये यह सत्य को जानने का एकमात्र साधन था जिसके परिणामस्वरूप वे संशयवाद की भूल-भुलैयां मे फस गये । लेकिन प्लेटो और एरिस्टोटल इसे दर्शन के सफल सह-योगी के रूप में प्रयोग करते हैं । न्यायदर्शन प्रमाणविद्या के विवेचन से पूर्व ही यह घोषणा कर देता है कि वह इस शास्त्र का प्रयोग सत्य ज्ञान की प्राप्ति एवं उसके फलस्वरूप दुखो के अत्यन्त अभावरूपी मोक्ष की प्राप्ति मे करता है । न्यायसूत्रों के अनुसार यह शास्त्र मनुष्यो की ज्ञानकला का वैज्ञानिकीकरण करता है । इस शास्त्र में, ज्ञान के अवरोधक क्या हैं, सही विचार किस प्रकार किया जाय जिससे सही-सही निर्णयों को प्राप्त किया जा सके ? इत्यादि प्रश्नो पर निष्पक्ष भाव से विवेचन किया जाता है ।

कुछ दार्शनिक पहले से ही इसके विषय मे स्थिर धारणायें बनाकर चलते हैं जिनसे बाहर निकलकर चिन्तन करना उनके सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। ऐसे दार्शनिक यदि प्रारम्भ मे ही भ्रान्त आधार बना लें तब या तो वे विचारो की अधेरी तग व बन्द गलियो मे भटकते रहते हैं और यदि वे भूल सुधार के पक्षपाती हैं तो उस आधार को ही छोड देते है। चाहे हम प्रारम्भ मे किसी भी विचार से सत्य की खोज करें, यदि हम वास्तव मे सत्य को जानना चाहते हैं और हमारे मस्तिष्क के द्वार सत्य के लिये खुले हुए हैं अर्थात् हठधर्मी नही हैं, तब हम भ्रमगत, व तर्कहीन विचारो को एक के बाद एक को छोडकर सत्य की ओर अग्रसर होने लगेंगे। बस यही स्वामी दयानन्द के ज्ञान-शास्त्र का आधार है। उनके लिये प्रामाण्य-विवेचन इसलिये उपयुक्त है कि हमे उससे अधिक से अधिक सत्य की प्राप्ति होती है। दयानन्द के लिये तर्क, तर्क के लिये नहीं वरन् यथार्थ ज्ञान के लिये है।

हम ज्ञान कैसे प्राप्त करते है? इस विषय पर विद्वानो मे परस्पर काफी मतभेद पाया जाता है और उससे भी अधिक विवाद, प्राप्त ज्ञान की सत्यता और असत्यता के सम्बन्ध मे है। भौतिकवादी दार्शनिक किसी स्थायी ज्ञाता को नही मानते तथा उनका मत है कि ज्ञान केवल प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्राप्त किया जाता है। इनके लिये जगत् सत्य है और आत्मा भौतिक विकार है। दूसरी तरफ विज्ञानवादी-बौद्ध विज्ञान को ही बाहर भासता कहते है जबकि बाहर कुछ नही है और आनन्द यह है कि ज्ञाता स्वय सकल्पो व सस्कारो का सघात हैं। इससे ये ह्यूम की तरह सस्कारवादी (Solipsist) हो जाते हैं। भौतिकवादियो मे बिना ज्ञाता के ज्ञान कैसे सम्भव होगा, यह एक समस्या है। दूसरे, केवल प्रत्यक्ष को ही यदि एक प्रमाण मानें तो इन्द्रियो द्वारा प्राप्त ज्ञान सत्य होना चाहिये। ऐसी अवस्था मे भ्रम की कोई सत्ता नही रहेगी। इसी प्रकार विज्ञानवादी के कथनानुसार यदि विज्ञान ही बाहर भासता है तब रज्जु मे सर्प की भ्रान्ति भ्रम नही हो सकती। इस मत में भी भ्रम की व्याख्या नही की जा सकती। प्रमाण-शास्त्र मे ज्ञान के सम्बन्ध मे उत्पन्न होने वाली इन सभी समस्याओ पर समुचित विचार करना आवश्यक है।

दयानन्द का प्रमाण-शास्त्र (Epistemology)

स्वामी दयानन्द एक यथार्थवादी दार्शनिक हैं इसलिये उनका प्रमाणशास्त्र भी यथार्थवाद के अनुरूप ही है। उनके प्रमाणशास्त्र के विषय मे हमारा विवेचन इस प्रकार रहेगा।

(१) ज्ञाता क विना ज्ञान सम्भव नही इसलिये कोई ज्ञाता है।

(२) ज्ञाता के अतिरिक्त ज्ञेय का भी पृथक अस्तित्व है, अन्यथा ज्ञान किसका ?

(३) ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध मे इन्द्रियें साधन हैं।

(४) प्रमाण विवेचन।

(५) क्या जो कुछ हम जानते हैं सब सत्य है यदि नहीं तो असत्य ज्ञान क्या है ?

(६) सत्य ज्ञान का क्या स्वरूप है ?

ज्ञाता की सत्ता—देकर्ट की प्रसिद्ध कहावत "मैं चिन्तन करता हू इसलिये मैं हू" हमारी पहली समस्या की ओर सकेत करती है कि ज्ञान-क्रिया के पीछे कोई ज्ञाता है। क्योंकि यदि मैं सोचने वाला नही हू तब विचार-क्रिया ही नहीं हो सकती। इसमें अनुभूति भी नही होती, उसमे इच्छा भी नहीं होती और दुख-सुख व ससार आदि का भी ज्ञान नही होता। इससे यही जान पडता है कि ज्ञाता के विना ज्ञान सभव नही है। हमे किसी वस्तु का ज्ञान हो या न हो परन्तु दोनो ही स्थिति में 'अहम्' जो ज्ञाता है वह रहता ही है। स्वामी दयानन्द चारवाको के अनात्मवाद के विरुद्ध तर्क मे कहते हैं कि "जब जीव शरीर से पथक हो जाता है तब शरीर मे ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। ...... जिसके सयोग से चेतनता और वियोग से जडता होती है वह देह से पृथक है जैसे आख सबको देखती है परन्तु अपने को नही। इसी प्रकार प्रत्यक्ष का करने वाला अपना ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नही कर सकता जैसे अपनी आँख से सब घटपटादि पदार्थ देखता है वैसे आँखों को अपने ज्ञान से देखता है। जो दृष्टा ही रहता है दृश्य कभी नही होता जैसे विना आधार आधेय, कारण के विना कार्य, अवयवी के विना अवयव और कर्त्ता के विना कर्म नही रह सकते वैसे कर्त्ता ज्ञाता के

बिना प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ।"[1] स्वामी जी यहा पर एक और तथ्य की ओर निर्देश करते हैं कि ज्ञाता सदैव ज्ञाता ही रहता है व जैसे सबको देखने वाला चक्षु अपने आपको नही देख सकता इसी प्रकार आत्मा जो कि ज्ञाता है कभी ज्ञेय नही होता । परन्तु अन्य पदार्थों को अपने स्वाभाविक ज्ञान से अर्थात् ज्ञान शक्ति से जान लेता है । ह्यूम आत्मा को ज्ञेय रूप मे जानना चाहते थे परन्तु जब कभी वे आत्मा का ज्ञान करना चाहते थे उन्हे सदैव ही चित्त मे बहने वाले विचार यानि वृत्ति-प्रवाह ही दृष्टिगोचर होता था जो आत्मा के सस्कार हैं । कान्ट इसीलिये आत्मा को अज्ञेय कहते है । उनके मत मे आत्मा प्रत्यक्ष-समन्वयीकरण करने वाली तात्विक शक्ति (Transcendental Unity of Apperception) है । 'मैं विचारता हूँ इसीलिये मैं हू' देकर्त की यह प्रसिद्ध उक्ति केवल विचारक्रिया की ही स्थिति मे ज्ञाता की सिद्धि कर सकती है । गाढ निद्रा के समय मे चिन्तन कार्य बन्द हो जाता है तब क्या ज्ञाता समाप्त हो जाता है ? नही, निद्रा से उठकर हम कह सकते है कि मैं सुख से सोया । यह सुख की अनुभूति करने वाला निद्रा मे भी था । चिन्तन करना ज्ञाता का एक ही गुण नही और ना ही उसकी सत्ता का एकमात्र लक्षण है । इसलिये हमे देकर्ट की उक्ति 'मैं विचारता हू इसलिये मैं हू' के स्थान पर यह कहना चाहिये कि 'मैं हू इसलिये मैं विचारता हूँ' । ज्ञाता का अस्तित्व स्वयसिद्ध और ज्ञान प्राप्ति मे अवश्यम्भावी है । इसको ज्ञेय रूप मे नही जाना जा सकता जैसा कि ह्यूम ने उसे जानने की भूल की है । सर्वशून्य मानने वाले अनात्मवादी बौद्धो की आलोचना मे भी दयानन्द ज्ञाता के बिना ज्ञान को असभव बताते हुये कहते है कि "शून्य को शून्य नही जान सकता इसलिये ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थ सिद्ध होते हैं ।"[2]

ज्ञेय का अस्तित्व—ज्ञाता के अतिरिक्त एव ज्ञाता से पृथक किसी ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व नही होता, प्रत्ययवादियो का यह कथन यथार्थवादी विचारको से सर्वथा भिन्न है । यथार्थवादी इसके विपरीत कहते हैं कि ज्ञाता के साथ-साथ ज्ञेय की भी सत्ता है अन्यथा बिना ज्ञेय के ज्ञान किसका ? इसके

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५२२ २ सत्यार्थ प्रकाश पृ० ४२८

उत्तर मे प्रत्ययवादी तर्क देते हैं कि भौतिक पदार्थ, जिस रूप में वे जाने जाते हैं, केवल अनुभूतिया हैं क्योकि हम कभी भी पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं करते हमेशा ही मन को कुछ अनुभूतिया प्राप्त होती है जिनके आधार पर हम किसी पदार्थ को जानते हैं। परन्तु ये अनुभूतियें अन्त करण से पृथक नही रह सकतीं इसलिये सांसारिक पदार्थ अन्तरस्थ या आत्मा मे हैं। विज्ञानवादी बौद्ध का कथन है कि आन्तरिक विज्ञान ही वाह्य पदार्थवत् भासता है। वास्तव में विज्ञान के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है और जिस प्रकार स्वप्न मे आत्मा स्वमेव पदार्थों का निर्माण कर लेता हैं परन्तु वास्तव मे सब मिथ्या है उसी प्रकार जाग्रत के पदार्थ हैं। स्वामी शकराचार्य विज्ञानवादियो के इस कथन को कि आतरिक विज्ञान बाहर पदार्थवत् भासता है, इसी प्रकार बताते हैं जैसे कोई कहे कि विष्णुदत्त बन्ध्यापुत्र सा भासता है।[1] यर्थात् विचार अमूर्त हैं वे इसी प्रकार पदार्थ रचना नही कर सकते जैसे बन्ध्या के पुत्र नही हो सकता। स्वामी दयानन्द इन विज्ञानवादी बौद्धो की आलोचना मे कहते हैं कि "जो योगाचार वाह्य शून्यत्व मानता है तो पर्वत इसके भीतर होना चाहिये और जो कहें कि पर्वत भीतर है तो उसके हृदय मे पर्वत के समान आकाश कहा ?" इसलिये पर्वत बाहर है और 'पर्वत ज्ञान आत्मा मे रहता है।"[2]

प्रत्ययवादियो (Idealists) के पक्ष मे एक भूल है कि एक तरफ तो वे यह मानते हैं कि वस्तुयें अनुभूतियों से जानी जाती हैं, परन्तु इससे यह निष्कर्ष कहा निकलता है कि वस्तुयें भी अनुभूति ही हैं। उदाहरणार्थ विष्णुदत्त अपने अपार धन के कारण ससार मे जाना जाता है परन्तु इससे विष्णुदत्त तो धन नहीं हो जाता। सत्य यह हैं कि अनुभूतियो द्वारा पदार्थ जाना जाने से यह सिद्ध होता है कि अनुभूतिया किसी पदार्थ द्वारा उत्पन्न होती हैं और यदि वह पदार्थ न हो तो अनुभूतिया भी नहीं हो सकती। ससार का अस्तित्व किसी भी रूप मे हम पर आश्रित नही है। हमारे लाख प्रयत्न करने पर भी कोई भौतिक

१. ब्रह्मसूत्र, २–२–२८ पर शंकर भाष्य।

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ४२८, ४२९

पदार्थ ऐसा नही वन सकता जिसका उपादान हमारे विचारमात्र हो। और जो विज्ञानवादी यह कहे कि स्वप्न के समान पदार्थों का निर्माण हो सकता है इस पर स्वामी दयानन्द तर्क देते है कि "स्वप्न विना देखे व सुने कभी नही आता, जो जाग्रत अर्थात् वर्तमान समय मे सत्य पदार्थ हैं उनके साक्षात् सम्बन्ध से प्रत्यक्षादि ज्ञान होने पर सस्कार अर्थात् उनका वासनारूप ज्ञान आत्मा मे स्थित होता है, स्वप्न मे उन्ही को प्रत्यक्ष देखता है।"[1] अर्थात् स्वप्न की सत्ता भी जाग्रत पर आधारित है। फिर यदि जाग्रत की सत्ता न हो तो स्वप्न भी नही हो सकते। और जो यह कहे कि जाग्रत और स्वप्न दोनो ही विचारो से निर्मित हैं। आत्मा जाग्रत मे ससार मे और स्वप्न मे अपने ही मे सव कुछ प्रत्यक्ष करता है तो दयानन्द कहते हैं "जो सस्कार के विना स्वप्न होवें तो जन्मान्ध को भी रूप का स्वप्न होवे" अर्थात् ज्ञेय की अनुपस्थिति मे ज्ञान का आधार पूर्व सस्कार होते हैं। जन्मान्ध को जाग्रत मे सासारिक रूप का प्रत्यक्ष नही होता इसी से सोते मे भी रूप का स्वप्न न आने से यह सिद्ध होता है कि स्वप्न भी जाग्रत के सस्कारो पर ही आश्रित हैं। फिर यदि जाग्रत को भी सस्कारो द्वारा निर्मित कहे तव सस्कार आत्मा मे कव और कहा उत्पन्न हुए यह वताना असम्भव हो जायेगा। इससे यही सिद्ध होता है कि जाग्रत का ससार आत्मस्थ नही वरन् ज्ञेय रूप मे ज्ञाता से पृथक है।

ससार मायारूप मिथ्या और ब्रह्म ही सत्य है। ससार की सत्ता रँज्जु मे सर्पवत् भ्रान्त है क्योकि ब्रह्म का परिणाम नही होता वरन् जीव ब्रह्म मे अविद्या से जगत् की मिथ्या प्रतीति करता है, इत्यादि मत वाले ब्रह्मवादी भी आदर्शवादियो की ही मे कोटि मे आते है। जिनके अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ मिथ्या कल्पना होने से अविद्यामात्र हैं। एव ज्ञान और ज्ञेय का भेद-व्यापार मिथ्या है।[2] और यह मिथ्या कल्पना करने वाला भी जीव ही है जो ब्रह्म

१ वही पृ० २१९

२. 'अविद्याकल्पितम् वेद्यवेत्तिवेदना भेदम्"। ब्रह्म सूत्रोपर शाकर भाष्य से ब्रह्म सूत्र १।१।४

मे ससार की मिथ्या उपलब्धि करता है। माण्डूक्योपनिषद् पर लिखी गौण-पादीय कारिकाओ पर भाष्य मे श्री शकराचार्य जी जगत् के पदार्थों को इसलिये मिथ्या बताते हैं कि वे दृश्यमान् है।"[1] अर्थात् जाग्रत के पदार्थ मिथ्या हैं यह प्रतिज्ञा है, दृश्यमान होने से यह हेतु है, स्वप्नो में देखे पदार्थो के समान यह उदाहरण है। जिस प्रकार वहा स्वप्न मे देखे हुए पदार्थों का मिथ्यात्व है उसी प्रकार जगत मे भी उनका दृश्यत्व समानरूप से है यह हेतुपनय है। अत जाग्रत मे भी उनका मिथ्यात्व माना गया है यह निगमन है। यहा पर शकराचार्य जी का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वप्न के पदार्थो का जाग्रत में बाध हो जाता है उसी प्रकार जाग्रत के पदर्थो का तुरीय मे बाध हो जाता है। इस प्रकार जाग्रत का ससार एक बडा भ्रम है।[2] लेकिन स्वामी दयानन्द पहले ही कह चुके है कि स्वप्न तथा भ्रम दोनो मे ही पूर्व सस्कार आवश्यक है तब इस जगत्‌रूपी महान भ्रम के सस्कार किस सत्ता के हैं? रज्जु मे सर्प की कल्पना का कर्त्ता अविद्याग्रस्त होता है तब क्या जगत् भ्रम का दृष्टा जो स्वय ब्रह्म है, माया से आच्छादित है? दयानन्द का कहना है कि यह नहीं माना जा सकता क्योकि ब्रह्म शुद्ध ज्ञानरूप है। इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द कहते है कि कल्पना गुण है।

१. जाग्रत् दृश्यानां भावाना वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः स्वप्न दृश्यभाववदिति दृष्टान्त.? यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनय तस्माज्जागरितेपि वैतथ्य स्मृतमिति निगमनम्। माण्डूक्य कारिका १–४ पर शंकर भाष्य।

3 "That Shankar regards the world in the ordinary sense as illusory and the result of error just in the same way as a snake, while there is a rope only and also as something which can be sublated by the experiences of true knowledge is clear from his writings here and elsewhere," Indian Epistemoloy. P, 314. by Jwala Prasad (The Punjab Oriental Series No XXX – 1939)

जो गुणी से पृथक नही रह सकती और जब कल्पना का कर्त्ता जीव जो स्वय ब्रह्म है, नित्य है तो उसकी कल्पना भी नित्य मानी जाये अन्यथा कल्पक भी अनित्य होगा।[1] और कल्पना के नित्य मानने पर मोक्ष का प्रसग नि स्सार हो जायेगा। इससे यही सिद्ध होता है, की ज्ञेयरूप जगत् सत है।

ज्ञान प्राप्ति मे इन्द्रियें— ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली तद्‌विषयक चेतना ही ज्ञान है। स्वामी दयानन्द के अनुसार आत्मा मन व इन्द्रियो के द्वारा वाह्य जगत् का ज्ञान करता है। मन आत्मा व इन्द्रियो के बीच मे माध्यम है। मन प्रकाशरूप सत्व का बना होने के कारण हर अनुभूति को तद्‌ज्ञान मे जानने की शक्ति रखता है। स्वामी दयानन्द ज्ञान-क्रिया पर अधिक विस्तार मे प्रकाश नही डालते परन्तु तो भी इस सम्बन्ध मे उनके विचार स्पष्ट हैं कि सब पदार्थ— (१) सर्वप्रथम इन्द्रियो के सपर्क मे आते हैं जिससे विषयानुभूति पैदा होती है (२) यह अनुभूतियें जो कि विषय के गुणो की होती है मन मे चली जाती हैं। (३) आत्मा मन के साथ सयुक्त होकर प्राप्त अनुभूतियो के आधार पर गुणी, जिसके वह गुण हैं का प्रत्यक्ष करता है। इस पर यह प्रश्न उठ सकता है कि हमे गुणो का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नही तब इस मान्यता के आधार पर फिर गुणो को क्यो माना जाय ? इस विषय मे स्वामी जी का कथन है कि गुण द्रव्य से पृथक नही रह सकते।[2] गुण अपनी सत्ता के लिये किसी गुणी के आश्रय की अपेक्षा रखते हैं। आदर्शवादियो के मत मे यही छोटी सी भूल है कि वे गुणो से द्रव्य का अनुमान नही करते वरन् गुणो को ही हठधार्मिता से अनुभूतिमात्र मान लेते हैं। जबकि तथ्य यह है कि अनुभूतियाँ गुणो के इन्द्रिय सम्पर्क मे आने से होती हैं।

आठ प्रमाण—ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय के अतिरिक्त यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति मे प्रमाण अर्थात् ज्ञान के साधनो की भी विशेष महत्ता है। प्राप्त किया हुआ

---

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २१८–२१९

२ सत्यार्थ प्रकाश पृ० ५७

ज्ञान सत्य है या असत्य अथवा उसमे कितना सत्य है और कितना असत्य, इसको जानने के लिये प्राप्त ज्ञान की परीक्षा सावधानी से करनी आवश्यक है। ज्ञान की यथार्थता का बोध ज्ञान के साधनो पर किन अ शो तक निर्भर करता है, इसके लिये स्वामी दयानन्द सत्य ज्ञान को पाच प्रकार की परीक्षा बताते हैं, "एक—जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदो मे अनुकूल हो...... दूसरी—जो-जो सृष्टिक्रम के अनुकूल हो .... तीसरी—आप्त अर्थात जो धार्मिक, विद्वान, सत्यवादी, निष्कपटियों का सग, उपदेश के अनुकूल है ...... चौथी—अपनी आत्मा की पवित्रता, विद्या के अनुकूल हो......तथा पाचवी—आठो प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति सम्भव और अभाव"[1] के अनुकूल हो, उसे ही सत्य मानना चाहिये।

उपरोक्त उद्धरण से पता चलता है कि दयानन्द सत्य ज्ञान की प्राप्ति मे अन्य साधनो के साथ-साथ आठ प्रमाणो को मानते हैं। ये आठ प्रमाण इस प्रकार हैं प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव। प्रमाणो के विषय मे दयानन्द न्यायमत पर आश्रित हैं। प्रथम चार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द यह चारो गौतम के न्याय सूत्रो के अनुसार हैं तथा ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव न्यायदर्शन पर वात्स्यायन भाष्य से लिए गये हैं।

प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष पर गौतम के सूत्र की व्याख्या में स्वामी दयानन्द कहते हैं 'जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है। इन्द्रियो के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात संज्ञासंज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह ज्ञान न हो। जैसा किसी ने कहा कि "तू जल ले आ" वह लाकर उसके पास बोला कि 'यह जल है' परन्तु वहा जल इन दो अक्षरो की संज्ञा लाने वा मगाने वाला नही देख सकता है किन्तु जिस पदार्थ का नाम जल है वही प्रत्यक्ष

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४३

होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है वह शब्द प्रमाण का विषय है। 'अव्यभिचारी' जैसे किसी ने रात्रि मे खम्बे को देख के पुरुष का निश्चय कर लिया, जब दिन मे उसको देखा तो रात्रि का पुरुष ज्ञान नष्ट होकर स्तम्भ ज्ञान रहा। ऐसे विनाशी ज्ञान का नाम व्यभिचारी है जो प्रत्यक्ष नही कहाता। 'व्यवसायात्मक' किसी ने दूर से नदी की वालू को देख के कहा कि "वहा वस्त्र सूख रहे हैं जल है या और कुछ है" वह "देवदत्त खडा है वा यज्ञदत्त' जब तक निश्चय न हो तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नही है किन्तु जो अव्यपदेश्य, अव्यभिचारी और निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते है।"[1]

प्रत्यक्ष ज्ञान की इस व्याख्या मे स्वामी दयानन्द इन्द्रिय व मन के सयोग से आत्मा को ही वास्तविक ज्ञाता कहते है। केवल विषय और इन्द्रियो का सम्बन्ध ही विषय का ज्ञान नही दे सकता, मन का इन्द्रियो से सयोग आवश्यक है। क्योकि हम देखते हैं कि सुषुप्ति की अवस्था मे मन का इन्द्रियो से सम्बन्ध टूट जाता है इसलिये किसी विषय का प्रत्यक्ष नही होता। जाग्रत मे भी जब मन किसी एक विषय पर केन्द्रित होता है उस समय आखो के सामने से गुजर जाने वाली वस्तु का भी प्रत्यक्ष नही होता। अत प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियो का मन से सयोग होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त मन का आत्मा से सयोग भी आवश्यक है। आत्मा के बिना मन जड है फिर मन को ज्ञान कैसे हो सकता है? वास्तव मे इन्द्रिय और मन के सयोग से आत्मा ही ज्ञाता है।

बाकी अन्य तीन विशेषतायें अव्यपदेशी, अव्यभिचारी व व्यवसायात्मिकता हैं। इनके अर्थों को स्वामी दयानन्द ने उपरोक्त उदाहरण मे स्पष्ट कर दिया हैं और हम उसे दुबारा लिखने की आवश्यकता नही समझते।

निर्विकल्पक व सविकल्पक प्रत्यक्ष — इन्द्रियो द्वारा विषय के सम्पर्क से उसके सम्बन्ध मे भिन्न २-गुणो की अनुभूतिया उत्पन होती हैं जैसे जल के प्रत्यक्ष मे जल के स्पर्श मे शीतलता जिह्वा मे रस, चक्षुओं से

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग १, पृ० १४१

तरलता आदि की पृथक्-पृथक अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं। अलग-अलग ये अनुभूतियें केवल शब्द, रूप, रस, स्पर्श व गन्धादि की सूचनामात्र हैं। इनसे विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसी अवस्था में विद्वान इन्हें निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। मन में जाकर जब यह सारी सूचनायें एकत्रित होती हैं वहां इनके संयोग-वियोग से बुद्धि, विषय का निश्चय करती है कि यह अमुक विषय है। इस ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। स्वामी दयानन्द ने प्रत्यक्ष का इतना सूक्ष्म विश्लेषण तो नहीं किया परन्तु निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष का संकेत उनके इस कथन में अवश्य मिलता है 'अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथिवी है उसका आत्म-युक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है।"[1]

अनुमान—दूसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण है।

"जो प्रत्यक्षपूर्वक अथवा जिसका कोई एक देश या सम्पूर्ण द्रव्य (या), किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो उसका दूर देश से सहचारी (अर्थात्, एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं जैसे पुत्र को देख के पिता, पर्वतादि में धूम को देख के अग्नि, जगत में सुख-दुख देख के पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।"

वात्स्यायन की तरह स्वामी जी भी प्रत्यक्ष के बिना अनुमान को असम्भव मानते हैं। वे कहते हैं कि 'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते जायते येन यद‍नुमानम् अर्थात् प्रत्यक्ष के पश्चात् उत्पन्न ज्ञान को अनुमान कहते हैं जैसे धूम के प्रत्यक्ष देखे बिना अदृश्य अग्नि का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। 'किसी एक पदार्थ के किसी एक देश के प्रत्यक्ष से शेष का अनुमान साहचर्य से लगा लिया जाता है, जैसे धूम को देखकर अग्नि का अनुमान लगा लेते हैं। क्योंकि धूम और अग्नि में साहचर्य का नियम है। यह ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान कराता है, जैसे

---

१ सत्यार्थप्रकाश, पृ० १७६

२. दयानन्द ग्रन्थमाला, भाग १ पृ० १४१–१४२

दुख, सुख चेतनादि लक्षणो को देखकर आत्मा का अनुमान होता है।

साधन और साध्य का परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध ही व्याप्ति है। अनुमान व्याप्ति के विना सम्भव नही। स्वामी दयानन्द साख्य सूत्रो के आधार पर व्याप्ति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं 'जो दोनो साध्य-साधन अर्थात् सिद्ध करने योग्य और जिससे सिद्ध किया जाय उन दोनो अथवा एक, साधनमात्र का निश्चित धर्म का सहचार है उसी को व्याप्ति कहते हैं जैसे धूम और अग्नि का सहचार है।"[1]

अनुमान तीन प्रकार का है—

"पूर्ववत्"—जैसे (कारण) बादलो को देखकर वर्षा (कार्य) का ज्ञान होता है,[2] वह पूर्ववत् अनुमान है।

'शेषवत्'—अर्थात् जहा कार्य को देख के कारण का ज्ञान हो, जैसे नदी के प्रवाह को बढता देखकर ऊपर हुयी वर्षा का ज्ञान होता है।[3]

"सामान्यतोदृष्ट"—जो कोई किसी का कारण न हो परन्तु किसी प्रकार का साधर्म्य एक दूसरे के साथ हो, जैसे कोई भी विना चले दूसरे स्थान को नही जा सकता वैसे ही दूसरो का भी स्थानान्तर मे जाना विना गमन के कभी नही हो सकता।"[4] नैयायिक सामान्यतोदृष्ट अनुमान के आधार पर ही शरीर मे सुख, दुख, इच्छा, द्वेष इत्यादि को देखकर ही आत्मा के होने का अनुमान लगाते है।

उपमान—जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्य से साध्य अर्थात् सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो उसको उपमान कहते हैं "उपमीयते येन-तदुपमानम्" जैसे किसी ने कहा ‥ ‥जैसी यह गाय है वैसी ही गवय अर्थात् नील गाय होती है जगल मे जिस पशु को गाय के तुल्य देखा उसको निश्चय

---

१ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ६०

२ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५०—५१

३ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५१

४ वही, पृ० ५१

कर लिया कि इसी का नाम गवय है।"[1]

प्राय तर्कशास्त्र के विद्वान उपमान प्रमाण की निम्न प्रकार से आलोचना किया करते हैं। वह कहते हैं कि किसी वस्तु को केवल उपमा मात्र से जानना तर्कशास्त्र मे अत्यन्त विवादास्पद है क्योंकि यदि साध्य और साधन मे पूर्ण साधर्म्यता होवे तो यह कहना, इसके समान हो गया कि देवदत्त देवदत्त के समान है। इससे किसी नवीन बात का पता नही चलता। यदि कुछ विषमता व अधिकाश में साम्यता हो तो भी यह आवश्यक नहीं कि अधिकाश में साम्यता से, साधन से साध्य का ज्ञान हो जाय क्योकि भैंस और काली गाय में काफी साम्यता है। परन्तु इससे भैंस गाय नहीं हो सकती। और यदि अधिकांश वैधर्म्यता कहें तो बिल्कुल ही ज्ञान नही हो सकता। वैशेषिक इसको अनुमान मे गिनता हैं कि यह गवय है क्योंकि यह गाय के समान है और जो भी गाय के समान है वह गवय है। सांख्य इसे शब्द प्रमाण मे ले लेता है। लेकिन हमारे विचार से उपमान न तो पूर्णरूप से अनुमान ही है और न शब्द प्रमाण और न दोनों मिलकर। इसमे (१) किसी ने कहा है कि गवय गाय के समान है, (२) जगल मे गवय का प्रत्यक्ष होता है, (३) पूर्वश्रुत, कि गवय गाय के समान की स्मृति है, (४) तथा जो यह देखता हू इस प्रकार का पशु गाय के समान होने से गवय है, ये चार मुख्य अवयव है। यह अन्तिम वाक्य समानता का द्योतक है न कि कार्य-कारण के सहचर्य का। इससे यह अनुमान नहीं है। केवल किसी के द्वारा कहे जाने से भी गवय का निश्चय नहीं होता इससे यह शब्द प्रमाण नहीं और केवल गवय के प्रत्यक्ष से भी जबकि गाय से उसकी समानता का बोध नहीं है, गवय का निश्चय सभव नहीं। इससे यह प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द मे से कोई सा भी नहीं है। उपमान की विशेषता मनोवैज्ञानिक साम्यता है, जिसे सूत्रकार ने प्रसिद्ध साधर्म्य से और स्वामी दयानन्द ने प्रत्यक्ष साधर्म्य कही है, अर्थात् ऐसा साधर्म्य जो गवय के देखने पर स्वत ही गवय का निश्चय करा देता है।

---

१. वही पृ० ५७

शब्द प्रमाण— "जो आप्त अर्थात् पूर्ण विद्वान, धर्मात्मा, परोपकारप्रिय सत्यवादी, पुरुषार्थी, जितेन्द्रिय पुरुष जैसा अपने आत्मा मे जानता हो, (और जो) सब मनुष्यो के कल्याणार्थ उपदेष्टा हो, अर्थात् जो जितने पृथिवि से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थो का ज्ञान प्राप्त होकर उपदेष्टा होता है। जो ऐसे पुरुष और पूर्ण आप्त परमेश्वर के उपदेश वेद हैं उन्हीं को शब्द प्रमाण जानो।"[1]

ज्ञान प्राप्त करने मे मानव जाति के जीवन मे शब्द प्रमाण का महत्वपूर्ण एव विशिष्ट स्थान है। यदि हम अपने पूर्वजो के ज्ञान पर विश्वास न करते और हर नयी पीढी सब कुछ नए सिरे से ज्ञान प्राप्त करती तो मानव जाति आज इस उन्नत ज्ञान की अवस्था तक नही पहुचती। लेकिन पूर्वजो या मान्य पुरुषो द्वारा दिया हर ज्ञान भी सत्य नही होता यह व्यवहार से पता चलता है। कोपरनिकस के गणित सम्बन्धी नियमो में न्यूटन ने सुधार किया और न्यूटन के सिद्धान्तो मे आइन्सटीन ने किया और अब सुना है कि नर्लेकर ने आइन्सटीन के सिद्धान्तो मे भी फेर-बदल किया है। लेकिन फिर भी हमे विद्वानो के निष्कर्षों व कथनो पर तब तक तो विश्वास करना ही पडता है जब तक वे असिद्ध न हो जाय। स्वामी दयानन्द के अनुसार जिन पुरुषो के उपदेशो को सत्य माना जाय उनमे दो विशेषतायें अवश्य होनी चाहियें कि प्रथम वे विद्वान हों जिन्होने सत्य का साक्षात् किया हो एव दूसरे परोपकारी हो अर्थात् जिनमे स्वार्थबुद्धि किंचितमात्र न हो। ऐसे पुरुष ही आप्त कहलाते हैं। स्वार्थ बुद्धि से मुक्त पूर्ण विद्वान् असत्य क्यो बोलेगा। इस पर भी यदि उनके वचन वेदो से विपरीत हो तो वेदो के वचन मान्य हैं और यह समझना चाहिए कि इनको अभी पूर्ण ज्ञान नही है। परन्तु वेद को प्रमाण मानने पर एक सबसे बडी कठिनाई यह होती है कि वेद के मत्रो के गूढ व रहस्यपूर्ण होने के कारण विभिन्न विद्वान् उनकी परस्पर विरोधी व्याख्या करते हैं फिर यह प्रश्न है कि कौन सी व्याख्या प्रमाण मानी जाय ? व्याख्या न किया हुआ वेद का मत्र अपने आप मे एक पहेली है। इस पर यह कहा जा सकना है कि जो व्याख्या बुद्धि-

---

१ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५१–५२

संगत व सृष्टिक्रम के अनुकूल हो उसे मान लिया जाय। परन्तु कठिनाई तो यह है कि पदार्थ विद्या स्वयं अस्थिर है। वैज्ञानिक क्षेत्र में मान्यतायें बड़ी तेजी से बदल रही हैं। आज जिस वैज्ञानिक सिद्धान्त पर व्याख्या की जाय और वही कल बदल जाय तब क्या किया जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि वेद को स्वतः प्रमाण मानने के लिये वेद के मन्त्रों की गवेषणापूर्ण व्याख्या करना आवश्यक है जिससे निरापद रूप से इन्हें स्वतः प्रमाण माना जा सके।

ऐतिह्य —किसी के जीवन चरित्र का नाम ऐतिह्य प्रमाण है।

अर्थापत्ति—अर्थात् किसी बात के कहने से उसके अर्थ रूप में कोई दूसरी बात सिद्ध हो "जैसे किसी ने किसी से कहा कि बादल के होने से वर्षा और कारण के होने से कार्य उत्पन्न होता है इससे (इस कथन से) बिना कहे यह दूसरी बात सिद्ध होती है कि बिना बादल वर्षा और बिना कारण के कार्य कभी नहीं हो सकता।"[1]

सम्भव—जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध है उन बातों का न होना जैसे माता-पिता के बिना सन्तानोत्पत्ति का होना सर्वथा असम्भव है। तथा जो बात सृष्टि-क्रम के अनुकूल हो वही सम्भव है, जैसा माता-पिता के संयोग से पुत्र का होना।[2]

अभाव—'न भवन्ति यस्मिन् सोऽभाव' अर्थात् जिसका भाव नहीं उसका अभाव है जैसे किसी ने कहा कि हाथी ले आ वह वहां हाथी का अभाव देखकर जहां था वहां से ले आया।[3]

अन्त के चार प्रमाण विशेष महत्व के नहीं हैं। इनको आसानी से पूर्व चारों में गिना जा सकता है। स्वामी जी कहते हैं "इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य और अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव व अभाव की गणना करें तो चार प्रमाण रह जाते हैं" न्यायकार भी अन्तिम चार प्रमाणों का इसी तरह पूर्व चारों में तिरोभाव कर देते हैं।

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५२
२. वही ५२
३. वही, ५२

इन्द्रिय जन्य ज्ञान की सत्ता

इन्द्रियें ससार में ज्ञान-प्राप्ति के द्वार है। ससार का सारा ज्ञान सबसे पहले इन्ही द्वारो से होकर अन्त करण मे और वहाँ से जीवात्मा तक पहुचता है। स्मृति, चिन्तन व मनन यह सब मानसिक क्रियायें बाद मे होती है। अर्थात् इनका आधार भी प्रत्यक्ष ज्ञान है। स्वामी दयानन्द ससार को सत्य मानते हैं और इन्द्रियें ससार का ज्ञान प्राप्त करने मे आत्मा के साधन है। श्रोत्र, चक्षु, रसना, नासिका एव त्वचा इन पाचो ज्ञानेन्द्रियो से ससार के पाचो विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध व स्पर्श का ज्ञान हो जाता है।[1] न्याय शास्त्र द्वारा ससार मे शब्द, रूप, रस, गध व स्पर्श आदि पाँच सूक्ष्म तत्वो और उनके कार्य पाँच स्थूल भूतो को स्वीकार करने का एक यह भी आधार स्वीकार किया गया है कि क्योकि इन्द्रिया पाँच हैं[2] अर्थात मनुष्य जो ईश्वर की सृष्टि मे उच्चतम कृति है पाँच ज्ञानेन्द्रियो वाला है। उसके भोग और अपवर्ग के निमित्त ससार बना है तो ज्ञान के विषय भी पाच ही होने चाहियें, नही तो इनसे अतिरिक्त विषयो को वह किस प्रकार जानेगा।

स्वामी शकराचार्य जी इन्द्रियजनित ज्ञान को मिथ्या ज्ञान मानते हैं क्योकि इन्द्रियें जीवात्मा को सदैव मिथ्या की ओर ले जाती हैं। ब्रह्मसूत्रों पर लिखी चतुर्सूत्री मे वह कहते है कि प्रत्यक्षादि सब प्रमाण व शास्त्र अविद्यावत् हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि इनके मत मे प्रत्यक्ष ज्ञान जो इन्द्रियो से उत्पन्न होता है अविद्यावत् है। सत्य तो यह है कि यही मान्यता शकराचार्य जी के जगत्-भ्रम के सिद्धान्त से मेल भी खाती है। रामानुज यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी हैं परन्तु वे दृश्यमान् जगत् को सत्य मानते हैं तथा इन्द्रियजन्य ज्ञान को शकराचार्य की तरह आवश्यक रूप से मिथ्या नही कहते। उनका कहना है कि जो

---

१ "जो श्रोत्र, त्वचा ·····उसको प्रत्यक्ष कहते है"। सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७६।

२ 'इन्द्रियार्थ पचत्वात्।' न्याय ३।१।६१

३ 'अविद्यावद् विषयानि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणिचेति।' वेदान्त पर शकर भाष्य की चतुर्सूत्री से।

शंकराचार्य इन्द्रियजन्य ज्ञान को इस आधार पर मिथ्या मानें कि श्रुति वाक्यो से इसका विरोध है तो उनके स्वय के अनुसार श्रुति व्यावहारिक जगत् में होने से अमान्य है ।[1] कहने का तात्पर्य वह है रामानुजाचार्य शकराचार्य से सहमत नहीं हैं ।

इन्द्रियो को ज्ञान के साधन मानने पर हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि क्या यह मान्यता हमे लॉक, बर्कले व ह्यूम की तरह, प्रत्ययवाद (Idealism) की ओर नही ले जायेंगी ? क्योकि लॉक की इसी मान्यता का बर्कले और ह्यूम के दर्शन में यही तार्किक परिणाम निकला है । हम यहा पर यह स्पष्ट करदें कि स्वामी दयानन्द केवल इन्द्रियजन्य अनुभूतियो को ही नहीं बल्कि इसके अतिरिक्त अन्य दो सिद्धान्तो को ज्ञान-प्रक्रिया मे मुख्य मानते हैं । वे हैं एक तो आत्मा की ज्ञान-रूप शक्ति । दयानन्द कहते हैं कि जीवात्मा सत्यासत्य जो जानने की शक्ति रखता है तथा दूसरे पूर्वजन्म के सस्कार जो इस जन्म में प्राणियो की मानसिक रचना, वृत्ति समूह, रुचि व व्यवहार के प्रवाह को बनाते हैं । लॉक मन को जन्म के समय साफ स्लेट की तरह बताता है । जिस पर इस जन्म में प्राप्त ज्ञान अकित होता रहता है । यदि लॉक के इस कथन को मान लिया जाय कि इन्द्रियों से जो कुछ भी प्राप्त होता है वह मन पर अकित हो जाता है । तो यह अकित चिन्ह ज्ञान कैसे हो जाते हैं तथा मिथ्या ज्ञान कैसे होता है वह यह नहीं बता सकेंगे । लेकिन दयानन्द के मत मे यह स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानरूप है, वह सत्यासत्य को जानने वाला है परन्तु मन पर पड़े पूर्व संस्कारो के प्रभाव से मिथ्या उपलब्धि की ओर झुक जाता है ।

अब यह स्पष्ट है कि दयानन्द के मत मे इन्द्रियें बाह्य जगत् का ज्ञान कराने वाले ज्ञानाधिकरण हैं । परन्तु इन्द्रियें जो भी ज्ञान प्राप्त करती हैं वह केवल पदार्थों के गुण हैं जिनकी व्याख्या आत्मा से सयुक्त होकर मन करता है ।

---

१. Sri Bhasya P 55 as quoted by the writer of Indian Epistemology on Page 329-330 by Jwala Prasad, M. A , Ph D

मिथ्या ज्ञान (False Knowledge)

जो भी ज्ञान हमे इन्द्रियो से प्राप्त होता है वह सब ही सत्य नही होता। इन्द्रिय ज्ञान के अतिरिक्त बहुत सी मानसिक उपलब्धिया भी मिथ्या होती हैं जैसे विभ्रम व स्वप्न। वाद मे हमें उसका ससार में वाध होता दिखायी पडता है इससे मिथ्या ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। कोई भी ज्ञान-उपलब्धि तभी तक सत्य है जब तक उसे असत्य सिद्ध नही कर दिया जाता। रज्जु में सर्प की भ्रान्ति होती है।[1] जब तक हम भ्राति में होते हैं तब तक वह हमारे लिए सर्प ही है। लेकिन रज्जु का सत्य ज्ञान होने पर सर्प की भ्राति समाप्त होने जाती है। स्वामी दयानन्द इस भ्राति का कारण अविद्या अथवा अज्ञान वताते हैं जो इन्द्रिय और सस्कारो के दोषो के कारण उत्पन्न होता है।[2] विद्या तथा अविद्या की और भी स्पष्ट व्याख्या करते हुये दयानन्द कहते हैं कि 'जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप वोध होवे वह विद्या और जिससे तत्व स्वरूप न जान पड़े, अन्य मे अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहलाती है।"[3] योग दर्शनकार महर्षि पातजलि ने भी अविद्या की व्याख्या करते हुये कहा है कि अनित्य मे नित्य, अशुचि में शुचि, दुख मे सुख और अनात्मा मे आत्मा की बुद्धि करना अविद्या है। यहा महर्षि पातजलि का तात्पर्य भी वही है जो दयानन्द का है परन्तु वह दार्शनिक रूप में है।

अविद्या को मिथ्या ज्ञान या मिथ्या ज्ञान का कारण अविद्या कह देने से या इन्द्रिय या सस्कार के दोष से अज्ञान पैदा होना मात्र कहने से अविद्या क्या है यह प्रश्न नही सुलझता। क्योकि अविद्या की इन सव व्याख्याओ से तो केवल इतना पता चलता है कि भ्रम या मिथ्या ज्ञान का कारण अविद्या है परतु अविद्या क्या है इसके उत्तर में केवल यह कह देना कि मिथ्या ज्ञान अविद्या है अन्योन्याश्रय दोष उत्पन्न करना है। व्यास योग भाष्य मे कहते हैं कि "किंतु विद्या के विपरीत

---

१ सत्यार्थ प्रकाश, भूमिका पृ० २

२ 'इन्द्रियदोषात्सस्कार दोषाच्चाविद्या'। वै० स० ९ २ १०।

३ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २३६।

ज्ञान अविद्या है।"[1] वैशेपिक इसे दुष्ट ज्ञान कहता है।[2] साख्य इसी अविद्या को अविवेक कहकर उससे बन्ध बताते है।[3] परन्तु अविद्या कैसे उत्पन्न होती है? तथा इसका स्वरूप क्या है? यह दो प्रश्न फिर भी अस्पष्ट रह जाते हैं। यह हमने माना कि रज्जु में सर्प की भ्राति अविद्या से है परन्तु अविद्या किससे है? अविद्या जिससे सारा समार भ्रमित है, स्वय क्या है? यह एक रहस्य है और जो इस रहस्य को समझ ले वह इससे मुक्त हो जाता है। शायद इसीलिये श्री शकराचार्य ने इसे अनिर्वचनीय कहकर इससे पीछा छुडाया। परन्तु यह होती क्यो है, आखिर जीवात्मा या ब्रह्म भ्रमित क्यो हो जाता है? यह प्रश्न शकर-मत में भी विना सुलझा रह गया है। साख्यकार महर्पि कपिल ने इसे सुलझाने की चेष्टा की है। वे अविवेक को चित्त का धर्म बताते हैं जिससे प्रकृति सग होता है तथा प्रकृति के अन्य अविवेक प्रकृति सग होने से पैदा होते हैं।'[4] शकर की तरह साख्य भी कहता है कि अविवेक तत्व नही है। परन्तु जब साख्य कहता है कि यह कथनमात्र अर्थात् चित्त की एक अवस्था मात्र है,[5] इस अ श में वह शकर से मेल नही खाता। क्योकि शकर इसे अनादि, अनन्त और नैसर्गिक मानते हैं।[6] परन्तु समस्या अभी सुलझी नही क्योकि यदि अविवेक चित्त का धर्म है तब धर्म-धर्मी के पृथक न होने से अविवेक सदैव उसमें रहेगा और क्योकि चित्त पुरुप के साथ हैं इससे अविवेक भी उसी के साथ रहेगा। इससे साख्य मत में मुक्ति का प्रसग ही नही उठेगा।

इस समस्या पर स्वामी दयानन्द कहते हैं कि "आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ दुराग्रह और अविद्यादि

१ 'किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति' । योग, व्यासभाष्य २–५,

२ 'तद् दुष्टज्ञानम्। वै०सू० ९–२–११

३ 'तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्' । सा० सू० १–५५

४ 'प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम्।' सा० सू० १–५७

५ 'वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थिते:' । सा० सू० १–५८

६ 'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्या प्रत्ययरूप ।'
वे० सू० पर शकर भाष्य की चतुर्सूत्री से।

दोषों से सत्य को छोड असत्य में झुक जाता है"[1] तथा जीव का स्वरूप अल्प होने से आवरण में आता।"[2] इन उपरोक्त वाक्यो मे दो बाते मुख्य हैं एक तो यह है कि मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है अर्थात् आत्मा में सत्य और असत्य में विवेक करने की शक्ति है। परन्तु दूसरी ओर शरीर में आकर सासारिक प्रयोजनो अर्थात् सुख की प्राप्ति के कारण असत्य की ओर झुक जाता है क्योकि वह स्वरूप से अल्पज्ञ हैं। **अविद्या या अज्ञान जिससे मिथ्या उपलब्धि होती है जीव की अल्पज्ञता से उत्पन्न होती है।** कोई भी जीव न स्वभाव से मुक्त है न बद्ध।[3] दयानन्द कहते हैं कि जो जीवात्मा स्वभाव से बद्ध होता तो मुक्त न हो सकता था और जो मुक्त होता तो बन्ध न होता। जीव की अल्पज्ञता से स्वामी दयानन्द का का तात्पर्य है कि जीवात्मा ज्ञान धारण करने की शक्ति तो रखता है परन्तु परमात्मा की तरह सर्वज्ञ नही होता। सर्वज्ञ अर्थात् सब कुछ जानने वाला क्यो विषय वासनाओं के चक्र मे आयेगा। यह तो जीव अपनी अल्पज्ञता से वासनाओ के चक्र मे फसकर अन्य मे अन्य के दर्शन करता है यही अविद्या का स्रोत है। दयानन्द के मत मे अविद्या कोई अनिर्वचनीय तत्व नही है जिसे सतासत् दोनो भी कहा जाय और नही भी कहा जाय।

भ्रान्ति उत्पन्न होने के कारण— मिथ्या उपलब्धि क्यों होती है ? इस पर दयानन्द वैशेषिक के साथ सहमत हैं कि यह इन्द्रियदोष अथवा सस्कार दोष अथवा दोनो मे होती है।[4] कुछ भ्रातिया केवल इन्द्रिय दोष से होती हैं जैसे पीलिए का रोगी आखे पीली होने के कारण सब ओर पीला ही पीला देखता है इसमे मानस सस्कारो के कारण भ्राति नहीं होती। कुछ भ्राति केवल मानसिक भ्राति होती है जैसे निरालम्ब भ्रज (Hallucination)

---

१ सत्यार्थप्रकाश, भूमिका पृष्ट २

२ सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३७

३ '(प्र०) बन्ध और मोक्ष स्वभाव से होता है या निमित्त से (उत्तर-दया०) निमित्त से' सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३७

४ सत्यार्थ प्रकाश, पृ० ५९

कुछ भ्रान्तिया इन्द्रिय और मानसिक दोनो दोषो के कारण हो सकती हैं जैसे कि दोषपूर्ण चक्षु सीपी को देखती है तथा मन मे स्थित रजत के संस्कार की सहायता से सीपी मे रजत की भ्राति होती है। जयन्त भट्ट भ्रातियो को इन्द्रिय-भ्रान्ति व मानस-भ्राति इन दो भागो मे बाटते हैं। इनमे पहली इन्द्रिय-दोष से उत्पन्न होती है तथा सालम्बन होती है। दूसरी निरालम्ब होती है। इनमे पहली भ्रम है दूसरी निरालम्ब भ्रम (Hallucination)[1] श्रीधर सालम्ब-भ्रम को निर्विकल्पक और सविकल्पक दो भागों में बांटते हैं। इनमे निर्विकल्पक भ्रम विशुद्ध इन्द्रिय-दोष से उत्पन्न होते है जैसे पीलिए का रोगी सबको पीला देखता है तथा दूसरे सविकल्पक भ्रम वे हैं जिनमे इन्द्रिय व सस्कार दोनो ही दोष मिश्रित हैं जैसे रस्सी का पूर्ण भान न करने वाली दोषयुक्त चक्षु सर्प के मन मे स्थित सस्कारो से मिलकर रज्जु मे सर्प की भ्राति उत्पन्न करती हैं।[2] तीसरे प्रकार की भ्रातियें निरालम्ब भ्रम हैं जिनका बाहर कोई आधार नहीं होता। इस विषय में स्वामी दयानन्द का इन विद्वानो से कोई विरोध नही दिखाई देता।

जयन्त भट्ट कहते हैं कि भ्रांन्ति में अनेक बाह्य एवं विषय सम्बन्धी दोष भी होते हैं, जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष में प्रकाश के कम अथवा अधिक होने से भ्रान्ति हो जाती है। इसी प्रकार विषय-दोष में सादृश्य, चलत्व, दूरत्व इत्यादि के होने से भ्राति हो जाती है, जैसे रज्जु में सादृश्य से सर्प की भ्रान्ति होती हैं। इसी प्रकार अलात चक्र में भ्रान्ति तीव्र गति के कारण तथा दूरत्व के कारण चन्द्रमा का आकार में लघु दीखना इत्यादि होता है। यद्यपि स्वामी दयानन्द मिथ्या ज्ञान का इतना सूक्ष्म विवेचन नहीं करते परन्तु इनसे उनका कोई विरोध भी प्रतीत नही होता। उनका मुख्य विरोध तो नवीन वेदान्तियो की अनिर्वचनीय ख्याति से है।

शकर वेदान्तियो का कथन है भ्रम के पदार्थ न सत् हैं न असत् और न सदासत् वरन् अनिर्वचनीय हैं। इसी से यह अनिर्वचनीय ख्याति कहलाती है।

---

१ Indian Psychology. Perception Vol I.P 274. J N Sinha

२. Indian Psychology, Perception, P. 275. J. N Sinha.

इस मत के अनुसार जो भी पदार्थ ज्ञान से प्रकाशित होते हैं वही ज्ञान का विषय हैं। सीपी मे रजत की भ्रान्ति मे रजत विषय है इसी से रजत का भान होता है। वेदान्तियो का कहना है कि यदि नैयायिक भ्रम की अवस्था में अन्य का ज्ञान मानते हैं तो सीपी मे रजत का ही क्यो भान होता है किसी अन्य पदार्थका क्यो नही हो जाता। भ्रम के पदार्थ को असत कहने मे उनका तर्क है कि सीपी मे रजत सत् इसलिए नही है कि यदि यह सत् होती तो बाद में इसका बाध नही होना चाहिए था और असत् इसलिए नही कि असत् होकर यह रजत का ज्ञान उत्पन्न नही कर सकती। और सदासत् इसलिए नही कि उस दशा मे उपरोक्त दोनो कठिनाइयाँ उत्पन्न होगी। इसलिए सीपी मे रजत का मिथ्या ज्ञान अनिर्वचनीय है।[1] शकर अध्यास की व्याख्या "जो नही है उसकी इसमें कल्पना करना"[2], के रूप मे करते हैं, अर्थात वस्तु मे अवस्तु को प्रतीति करना जैसे जो सत्पदार्थ वस्तु है मे अवस्तु सर्प जो असत्पदार्थ है कि बुद्धि उत्पन्न रज्जु करना अध्यास है।

स्वामी दयानन्द अनिर्वचनीय ख्याति के पोषक वेदान्तियो के मत मे एक भूल की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। वे वेदान्तियो से कहते हैं कि 'तुम (शकरवादी) रज्जु को वस्तु और सर्प को अवस्तु मानकर इस भ्रम जाल मे पड़े क्या सर्प वस्तु नही है? जो कहो कि रज्जु में नही तो देशान्तर मे है और उसका सस्कार मात्र हृदय में है फिर वह सर्प भी अवस्तु नही रहा।" इससे स्वामी जी का अभिप्राय यह है कि रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के समय रज्जु के स्पष्ट न दीखने से तथा रज्जु व सर्प की समानता का ही भान होने से पूर्व दृष्ट सर्प के चित्त में स्थित सस्कारो की स्मृति हो जाती है, इससे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, जो अन्य में अन्य की प्रतीति है, वस्तु में अवस्तु की प्रतीति नही। क्योकि पूर्वदृष्ट सर्प अवस्तु नही वस्तु है। यही नैयायिको की अन्यथा ख्याति है। स्वामी जी अन्यथा ख्यातिको मानने में न्यायमत से सहमत हैं।

---

१ Indian Philosophy V 2, P 133, by Dr S Radhakrishnan

२ 'अध्यासो नामातस्मिस्तदबुद्धि'। वे० सूत्र पर शकर भाष्य की भूमिका से।

वेदान्तियो की अनिर्वचनीय ख्याति का श्री रामानुज अनेक प्रकार मे खण्डन कर अपनी सत्-ख्याति की इस प्रकार स्थापना करते हैं। सीपी मे रजत के भ्रम मे रजत सत् पदार्थ है क्योकि असत् पदार्थ की उपलब्धि नितान्त असम्भव है। (यहा तक दयानन्द और रामानुज मे भेद नहीं है।) परन्तु रामानुज आगे कहते है कि सीपी और रजत की समानता से मिथ्या ज्ञान नही होता क्योकि इससे केवल चित्त पर पडे रजत के सस्कार ही जाग्रत हो सकते हैं जिसे स्मृति कहते हैं, इससे यहा पर रजत का प्रत्यक्ष नहीं होता। उनका आगे कहना है कि रजत में अग्नितत्व की प्रधानता है और रजत कुछ अशो मे सीपी में रहती है, जिसमे (सीपी में) पृथिवी तत्व की प्रधानता है। और फिर यह नियम भी है कि कोई पदार्थ दूसरे के समान तभी होता है जबकि पहले मे दूसरा कुछ अ शो के रहता है। इससे सीपी मे रजत कुच अ शों में रहता है। तभी इनकी आपस में समानता दिखायी पडती है। इससे हमे सीपी मे अवस्थित इन्ही रजत के अ शो के कारण रजत का भान होता है। इस पर प्रश्न होता है कि यदि वास्तव में ऐसा है तब फिर इसे सीपी मे रजत का मिथ्या ज्ञान क्यो कहते है जबकि हमें सीपी स्थित वास्तविक रजत का भान होता है। इसके उत्तर मे रामानुज कहते हैं कि सीपी मे रजत इतने कम अशो मे होता है कि वह रजत् का व्यवहार नहीं कर सकती।[1] अत हम इसे सीपी मे रजत की भ्रान्ति कहते हैं।

प्रतीत यह होता है कि रामानुज शकर की अनिर्वचनीय ख्याति, वस्तु मे अवस्तु के आरोपण के खण्डन की धुन में रजत को सीपी मैं सिद्ध कर उसे सीपी के समान वस्तु सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु यह व्यवहार और तथ्य दोनो के विपरीत है। दयानन्द के अनिर्वचनीय ख्यातिवाद के खण्डन में यह दोष नहीं है। वे रजत को सीपी में वस्तु रूप में सत् नही मानते बल्कि रजत पूर्व दृष्ट जौहरी की दुकान में सत् है और उसका सस्कार चित्त में सस्काररूप में सत् है। दूसरी तरफ वातावरण के प्रभाव से सीपी में रजत के समान

1 Indian Psychology, Perception V 1 P. 295 by J N Sinha.

चमक देखने से सस्कार के रजत का स्मरण हो आता है । इससे सीपी रजतवत् दिखायी पडती है ।इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि सस्कारो के स्मरण से तो स्मृति ही हो सकती है रजत का प्रत्यक्ष नही । तो उत्तर है कि स्वप्न में भी तो सस्कार साकार वस्तुवत् दिखाई पडते हैं तो इसमें क्या दोष हैं ? लेकिन इससे अद्वैतवाद की सिद्धि नही होती क्योकि दयानन्द किसी भी भ्रम या स्वप्न के लिए सस्कारो की परिस्थिति को आवश्यक कहते है जोकि केवल जाग्रत में ही हो सकती है । इससे हम यह देखते हैं कि दयानन्द शकर व रामानुज के मतो में आयी भूल को सुधार कर, अन्य में अन्य की प्रतीती मानकर न्याय की अन्यथा-ख्याति को ही पुन स्थापित करते हैं ।

सत्य–ज्ञान का स्वरूप

स्वामी दयानन्द ज्ञान की परिभाषा मे कहते हैं कि 'यथार्थ दर्शन ज्ञानमिति' अर्थात् यथार्थ दर्शन ही ज्ञान है । स्वामी शकर ने सत्य ज्ञान की परिभाषा मे कहा है कि जो किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो वह ज्ञान सत्य है । आचार्य शकर की सत्य-ज्ञान की इस व्याख्या से स्वामी दयानन्द का कोई विरोध नही है क्योकि पदार्थ का यथार्थ दर्शन वास्तव मे उसका अपने स्वभाव का ज्ञान है । रज्जु को रज्जु सीपी को सीपी एव मृगतृष्णिका के जल को मृगतृष्णिका जानना ही यथार्थ है । लेकिन शकराचार्य समस्त जगत् को ही एक महान् भ्रम बताते हैं जिसका उनके अनुसार परमार्थ मे बाध हो जाता है, जैसे रज्जु का भान होने पर सर्प का भ्रम बाधित हो जाता है । परन्तु दयानन्द की सत्य-ज्ञान की यह व्याख्या किसी सत्ता विशेष से सम्बन्धित नही है वरन् हर वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना सत्य ज्ञान है जगत् के पदार्थ हैं । और इनके वास्तविक स्वरूप को जानना ज्ञान है ।

स्वामी दयानन्द का यथार्थ दर्शन से क्या तात्पर्य है इसकी वह इस प्रकार व्याख्या करते हैं—"जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या और

जिससे तत्वस्वरूप न जान पड़े अन्य मे अन्य की वुद्धि होवे वह अविद्या है[1]।"

इन्द्रियो से प्राप्त होने वाला सारा ही ज्ञान सत्य नहीं होता यह हम पूर्व प्रकरण मे देख चुके हैं। परन्तु साथ ही यह भी तथ्य है कि मिथ्या उपलब्धि मे इन्द्रियो के अलावा और भी अनेक कारण हैं। इससे यह पता चलता है कि इन्द्रियें भी सत्य-ज्ञान को प्राप्त कर सकती हैं परन्तु उनकी सीमा गुणो तक सीमित है। इससे इन्द्रियो का कभी द्रव्य से सीधा सम्वन्ध नही होता। इससे द्रव्य अपनी यथार्थता को हमसे वरावर छिपाये रहता है। परन्तु गुण ससर्ग मे इन्द्रियो की उपलब्धि यथार्थ ही है। इससे तत्व के स्वरूप के जानने मे इन्द्रियें अशत सफल होती हैं पूर्णतया नही। जव स्वामी दयानन्द पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के वोध को विद्या कहते हैं तव उनका तात्पर्य है कि कोई भी उपलब्धि चाहे वह इन्द्रियो से हो या वुद्धि से उस पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को जो वह यथार्थ मे है जानने वाली होनी चाहिए। इससे इन्द्रियें जहाँ तक उनकी पहुच है, उस तक यदि तत्व का यथार्थ वोध कराती हैं तव यह इन्द्रियजन्य ज्ञान भी उस अश तक उस तत्व का सत्य ज्ञान हो सकता हैं। यहा शकराचार्य और दयानन्द मे अन्तर है। शकराचार्य जगत् को ही भ्रम मानते हैं, इससे व्यावहारिक स्तर की प्रत्येक उपलब्धि भ्रमपूर्ण होने से मिथ्या ही होगी, क्योकि उसका परमार्थ मे वाध होना पाया जाता है। इन्द्रियो के क्षेत्र मे साधारण प्रत्यक्ष में गुणो के आधार पर द्रव्य का अनुमान किया जाता है, परन्तु सधी हुई योग वुद्धि पदार्थों के ज्ञान को तथा उनके वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ होती है। साधारण वुद्धि के सम्मुख आने वाला ज्ञान वाहरी आवरणमात्र है जिसे सधी हुई वुद्धि भेदकर तत्व के स्वरूप तक पहुच जाती है, उदाहरणार्थ स्वर्ण का टुकडा साधारण वुद्धि के लिए स्वर्ण है परन्तु वैज्ञानिक वुद्धि के लिए स्वर्ण के परमाणुओं का सघात है, जिनका विशिष्ट स्वरूप है। परन्तु अति उच्च वैज्ञानिक

१, सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३६

के लिये ये स्वर्ण के परमाणु एलेक्ट्रोन, प्रोटोन व न्यूट्रोन की निश्चित सख्या वाले है, जिनमे परिवर्तन करने पर स्वर्ण के परमाणुओ को किसी अन्य तत्व के परमाणुओ में वदला जा सकता है। नि सन्देह वैज्ञानिक बुद्धि अति तीक्ष्ण है, परन्तु वह सावारण बुद्धि जो उसे स्वर्ण का टुकडा मानती है वह भी उस अश तक सही है। ससार का ज्ञान रज्जु में सर्पवत् नही है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड और इससे परे जीव, ईश्वर पर्यन्त समस्त तत्वो के सही-सही स्वरूप को जानना कि वास्तव में वह क्या है, सत्य ज्ञान की अन्तिम सीमा है। जिसने सत्य ज्ञान की इस अवस्था को प्राप्त कर लिया है उस व्यक्ति के बारे मे उपनिषदें कहती हैं कि उसके सारे सशय नष्ट हो जाते।[1] इससे स्पष्ट है कि तात्विक दृष्टि रखने वाला व्यक्ति पदार्थों के विषय मे सशयरहित हो जाता है क्योकि उसे उनका तात्विक वोध हो जाता है।

अविद्या की व्याख्या मे दयानन्द पातजलि से सहमत है कि अनित्य में नित्य, अशुचि में शुचि, दुख म सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान कराने वाली अविद्या ही है। तव इससे स्वय ही यह सिद्ध होता है कि अशुचि को अशुचि, दुख को दुख, अनित्य को अनित्य तथा अनात्मा को अनात्मा ही जानने वाला विद्या को जानता है। अर्थात् पदार्थों का यथावत् मानना ही सत्य ज्ञान है।[2] और इसे हम समस्त पदार्थों के विषय में भी लागू कर सकते हैं। इसी को वैशेपिक दुष्ट और अदुष्ट ज्ञान[3], साख्य विवेक और अविवेक के रूप में कहते हैं। दयानन्द की इस व्याख्या मे आचार्य शकर का वाध न होने का सिद्धान्त तो आ ही जाता है क्योकि यथार्थ का वाव कभी नही होता परन्तु साथ ही मिथ्या

---

१ मु उ०, २–२–८

२ वेत्ति यथावतत्त्व पदार्थ स्वरूप यया सा विद्या यया तत्त्व स्वरुप न जानाति भ्रमादन्यस्मिन्नन्यत्रिश्चिनोति यया साऽविद्या।" सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३६

३ वैशे० सू०, ९–२–११

को मिथ्या मानना भी आ जाता है। मिथ्या ज्ञान का बाद के ज्ञान से बाध हो जाता है इससे उसकी असत्ता की सिद्धि नही होती वरन् सत्ता की सिद्धि होती है। इससे हमे उसको भी जानना चाहिए कि वास्तव मे यह क्या है और क्यो पैदा होता है ? इसी से दयानन्द कहते हैं कि "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है वह अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।[1]

---

१ यजुर्वेद, ४०–१४ पर दयानन्द स० प्रकाश. पृ० २३६

८

मनोविज्ञान

(PSYCHOLOGY)

दयानन्द के मनोवैज्ञानिक विचारो का आधार

भारतीय मनोविज्ञान मे मन का बडा महत्व है। मन द्वारा ही आत्मा का शरीर से सम्बन्ध होता है। यही मन दर्पण के समान इन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभूतियो को ज्ञान मे परिवर्तित करता है। मन की साधना के द्वारा योगी पुरुष अध्यात्म ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

यजुर्वेद के चौंतीसवें अध्याय के शिवसकल्प सूक्त में जिसका देवता मन है, मन की शक्ति व इसके कार्यों का विवरण पाया जाता है। स्वामी दयानन्द यजुर्वेद के इस सूक्त तथा ऋग्वेद व अथर्ववेद मे प्राप्त उच्च कोटि के मन सम्बन्धी सूत्रो के आधार पर ही अपनी मन एव मनोविज्ञान सम्बन्धी विचारधारा का सृजन करते हैं। उपनिषदो मे, मन व मनस शक्ति तथा मन के कार्यों का वर्णन स्थान-स्थान पर पाया जाता है। पातजलि अपने योग दर्शन मे मन के स्थान पर चित्त शब्द का प्रयोग करते हैं तथा महर्षि कपिल ने बुद्धि शब्द को ही मन के स्थान पर प्रयुक्त किया है। पातजलि ने अपने योग-सूत्रो मे उपनिषदो मे यत्र-तत्र बिखरे हुये मनोवैज्ञानिक तत्त्वों को अपने योग दर्शन मे वैज्ञानिक रूप मे दिया है। पातजलि के, मन के स्थान पर चित्त के प्रयोग से उनका अन्य वैदिक शास्त्रो से कोई विरोध नही है।

स्वामी दयानन्द वेद, उपनिषद् व षड्-शास्त्रो मे प्रतिपादित मनोविज्ञान के आधार पर ही अपने मनोविज्ञान का प्रतिपादन करते हैं। महर्षि पातजलि के योगदर्शन मे जिस गम्भीर मनोविज्ञान का विकास हुआ है उसे वैदिक मतो के साथ-साथ अवैदिक सम्प्रदाय भी अपने मार्ग-दर्शक के रूप मे स्वीकार करते हैं। फिर स्वामी जी तो सत्यान्वेष्टा हैं, इससे वह पातजलि

को क्यो न स्वीकार करते। योगसूत्रो पर अन्य शास्त्रों की तरह अनेक भाष्य लिखे गये हैं परन्तु दयानन्द इसमे व्यास भाष्य को ही प्रामाणिक मानते हैं। यही नहीं वरन् कही-कही पर तो वह व्यास भाष्य मे भी सशोधन करते हुये दिखायी पड़ते हैं।

दयानन्द की मनोवैज्ञानिक मौलिकता उनके द्वारा प्रतिपादित मनोविज्ञान के वैदिक आधार मे निहित है। मन क्या है? तथा मन का शरीर से क्या सम्वन्ध है? इसका हमारे जीवन मे क्या महत्व है? इत्यादि प्रश्नो के रूप मे स्वामी जी हमारे सम्मुख यजुर्वेद के शिव-सकल्प-सूक्त के छ मत्रो को प्रस्तुत करते हैं। इन मत्रो का अर्थ इस प्रकार है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवन्तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मन. शिव सकल्पमस्तु ॥१॥
येनकर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीरा।
यदपूर्वं यक्षमन्त प्रजानां तन्मे मन शिव सकल्पमस्तु ॥२॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृत प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किचन कर्म क्रियते तन्मे मन शिव सकल्पमस्तु ॥३॥
येनेदं भूते भुवन भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु ॥४॥
यस्मिन्नृच. साम यजु षि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा·।
यस्मिश्चित्त ं सर्वमोत प्रजाना तन्मे मन शिवसकल्पमस्तु ॥५॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशु'भर्वाजिनऽइव।
हृत्प्रतिष्ठ यदजिर जविष्ठ तन्मे मन शिव सकल्पमस्तु ॥६॥

(१) यह जो मेरा मन जाग्रत अवस्था मे दूर-दूर जाता है, तथा दिव्यगुण युक्त रहता है, वही सुषुप्ति को प्राप्त होता है तथा स्वप्न मे दूर-दूर जाने का व्यवहार करता है, वह सव ज्योतिओं की ज्योतिरूपी मेरा मन सत्य सकल्पो वाला हो।

(२) जिसके द्वारा विद्वान् मनीषी लोग शुभ कर्मों को करते हैं जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, पूजनीय व सव प्रजाओ के भीतर रहने वाला है वह मेरा मन सत्य सकल्पो वाला हो।

(३) जो उत्कृष्ट ज्ञान और दूसरो को चिताने वाली निश्चयात्मक वृत्ति

है और जो प्राणियो में प्रकाशयुक्त व नाशरहित है, जिसके बिना कोई कुछ नही कर सकता, वह मेरा मन सत्य सकल्पो वाला हो।

(४) जिसके द्वारा योगी पुरुष वर्तमान, भूत व भविष्य को जानते, जो नाशरहित जीव को परमात्मा से मिलाकर त्रिकालज्ञ करता है जिसमे ज्ञान और क्रिया है तथा जो पाच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि और आत्मायुक्त रहता है, वह मेरा मन सत्य सकल्पो वाला होवे।

(५) जिस प्रकार रथ के मध्य धुरे मे आरे लगे रहते हैं वैसे ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथववेद जिसमे प्रतिष्ठित हैं तथा जिसमे प्राणियो का सब पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान सूत मे मणियो के समान जिसमे सयुक्त है वह मेरा मन कल्याणकारी हो।

(६) रश्मियो से सारथि द्वारा जिस प्रकार घोडे नियन्त्रित किये जाते हैं, उसी प्रकार यह सब प्राणियो को अपने अधिकार मे इधर-उधर डुलाता है, जो हृदय मे प्रतिष्ठित गतिमान् और अत्यन्त वेग वाला है, वह मेरा मन शुभ गुणो वाला हो।

मन उसके कार्य व उसमे छिपी शक्तियो का इससे सूक्ष्म व सुन्दर वर्णन सारे लौकिक व अलौकिक साहित्य मे कही नही मिलता। इसमे कहा हैं कि मन प्राणियो के शरीरो मे हृदय मे रहता है इसका मुख्य कार्य शरीर का आत्मा से सम्बन्ध कराना है। मन मे ज्ञान धारण करने की बडी अद्‌भुत शक्ति है। पाँचो ज्ञानेन्द्रिएँ, पाचो कर्मेन्द्रिएँ, पाचो प्राण व बुद्धि इसी के नियत्रण मे कार्य करते है। मन जाग्रत, स्वप्न व, सुषुप्ति इन तीनो अवस्थाओ मे बराबर विद्यमान रहता है। योग द्वारा सयमित व नियन्त्रित मन तीनो कालो का ज्ञान धारण करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। योग द्वारा मन मे इससे भी परे सूक्ष्म तत्त्वो व पदार्थों का ज्ञान करने की शक्ति आ जाती है। शुद्ध मन मे परमात्मा का वेदरूपी ज्ञान स्वतः प्रवाहित होता है। यजुर्वेद के इन मन्त्रों में वैदिक मनोविज्ञान की सारी मान्यतायें व निष्कर्ष बीजरूप मे मिल जाते हैं। उपनिषदो के ऋषियो ने इसी वैदिक धारणा का विस्तार अपने ग्रन्थो मे अनुभव के आधार पर किया है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद मे भी मन को साधने तथा परमात्मा में स्थिर करने के आदेशात्मक मन्त्र मिलते हैं। ऋग्वेद कहता है कि "अपने मन

को परमात्मा में स्थिर करो "[1] अर्थात् ऋग्वेद के अनुसार मन परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। और भी इस प्रकार के अनेक मन्त्र वेदों में पाये जाते हैं जिनमें से कुछ दयानन्द जी ने अपनी ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका में दिये भी हैं।

शिव-सकल्प-सूक्त में मन की सत्ता, उसके कार्य व शक्ति का निर्देशात्मक विवरण है तथापि मनोविज्ञान की मूलभूत धारणायें व इसके अध्ययन से मानव जाति को प्राप्त होने वाले लाभों का स्पष्ट व्याख्यान भी इसमें मिलता है और साथ ही यह भी कहा है कि मन के बिना प्राणियों में कोई भी व्यवहार संभव नहीं है। इससे वैदिक ऋषियों के हृदय में इस मनरूपी अद्भुद् शक्ति को जानने की जिज्ञासा पैदा होना स्वाभाविक ही था। लेकिन साथ ही हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि वेदों में मन शब्द का उस समस्त शरीरस्थ उपकरण के लिए प्रयोग हुआ है जिसको बाद के दर्शनकारों ने अन्तःकरण कहा है।

अन्तःकरण चतुष्ट्य—पूर्ववर्ती दार्शनिकों व भाष्यकारों की तरह ही स्वामी दयानन्द ने भी कार्य की दृष्टि से अन्तःकरण के चार विभाग मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार किए हैं। स्वामी दयानन्द मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को क्रमशः संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान-गुणों वाला कहते हैं।[2] मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना है। इसका शरीर में मुख्य कार्य पांचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सूचना प्राप्त करना तथा कर्मेन्द्रियों को कार्य करने के लिये आदेश देना है। इसी रूप में सांख्यशास्त्र ने भी इसे माना है।[3] आधुनिक मनोविज्ञान में वाटसन के व्यवहारवाद में उत्तेजना-प्रतिक्रिया (Stimulus & Response) को ही प्राणी का पूर्ण मनोविज्ञान मान लिया है। उन्होंने इस बात के जानने की चेष्टा नहीं की कि मस्तिष्क में होने वाले

---

१ 'युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
ऋ० ४४ २४.१

२. अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार से संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण और अभिमान का करने वाला दण्ड और मान्य का भागी होता है। (सत्यार्थप्रकाश पृ० २३८)।

३. उभयात्मकं च मनः। सांख्य सूत्र ५—८१—१।

सकल्प-विकल्पो का कर्त्ता कौन है ? हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष की निर्विकल्पक अवस्था मे मिलने वाली अनुभूतियो से, विषय के सम्बन्ध मे कुछ भी पता नही चल सकता। और यदि कुछ पता चलता है तो केवल इतना कि ये कुछ अनुभूतियें हैं, परन्तु किस वस्तु की ये कुछ नही। ये अनुभूतियें जब मन मे आती हैं, मन इनको सयुक्त करता है और तब यह ज्ञान होता है कि यह पदार्थ अमुक वस्तु है। यही प्रत्यक्ष की सविकल्पक अवस्था है। यहा पर ज्ञान क्रिया मे ज्ञाता को केवल मात्र अनुभूतियो का ही ज्ञान नही वरन् ज्ञाता का तत्सम्बन्धी मानसिक निर्णय भी इसमे सहायक है। यह निर्णय बिना चेतन ज्ञाता के सम्भव नही हो सकता। क्योकि निर्णय मे 'यह' नही 'वह' और क्रिया पक्ष मे एक कार्य के बदले मे दूसरा कार्य होता है। स्वामी शकराचार्य चेतन प्राणी के तीन गुण बताते हैं कि वह किसी कार्य को करे, ना करे या उल्टा करने लगे। इच्छानुसार किसी कार्य को करने के लिए उपयुक्त समझना यह सिद्ध करना है कि प्राणियो के व्यवहार वाटनस के उत्तेजना-प्रतिक्रिया ही नही बल्कि सकल्प-विकल्प धारण करने वाली शक्ति से किए गए सजीव निर्णय हैं। और यह मन ही है जो आत्मा की चेतन शक्ति से शरीर के व्यापार करता है। अन्त करण का दूसरा भेद बुद्धि है। बुद्धि निश्चयात्मक ज्ञान धारण करने वाली होती है। इसमे द्विविधा नही होती। अन्त.करण जब स्मरण करता है तब वह चित्त होता है। मन द्वारा की हुई समस्त क्रियायें सस्काररूप होकर अन्तःकरण मे चली जाती हैं जहाँ से चित्त उन्हे स्मृतिरूप मे पुन प्राप्त करता है। वाटसन स्मृति को विशुद्ध Sensory-Motor कहते हैं। परन्तु वह यह नही बताते कि विभिन्न अनुभूतियें किस प्रकार और कहाँ एकत्रित होती हैं तथा समय पडने पर कैसे पुन सामने आ जाती हैं। इसके अतिरिक्त हम यह भी देखते हैं कि शान्त बैठे हुए बिना किसी बाह्य उत्तेजना अथवा आन्तरिक प्रेरणा (Stimulus) के हमे ऐसी स्मृति हो जाती है जिनका वर्तमान से कोई सम्बन्ध नही होता। इस तथ्य को वाटसन Sensory-Motor आधार पर नही समझा सकते। दयानन्द के अनुसार जैसा कि अन्य वैदिक दार्शनिक भी मानते हैं स्मृतियें अन्त करण में स्थित चित्त-वृत्तियें हैं। अन्त करण का चौथा कार्य अहकार है। स्वय को जानना तथा अन्य पदार्थों से अपने को पृथक सत्ता समझना अहकार का कार्य है।

मैं अपने क्रिया-कलापों, भावनाओं, संवेगों, अनुभूतियों से परिचित तो हूँ ही, परन्तु साथ ही अपने को इनसे पृथक ज्ञातारूप सत्ता भी मानता हूँ। देकार्त ने इसे ही "मैं चिन्तन करता हूँ इसलिये मैं हूँ" (I think therefore I am) के प्रसिद्ध मुहावरे में कहा है। परन्तु दयानन्द इसे "मैं हूँ इसलिये मैं चिन्तन करता हूँ" (I am therefore I think) इस रूप में मानना अधिक पसन्द करेंगे। मैं हूँ कि भावना ही अहंकार है।

अन्तःकरण चतुष्टय के विवरण से दयानन्द का तात्पर्य यह नहीं है कि मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार चारो तत्त्व अलग-अलग हैं और इनका संघात अन्तःकरण है। बल्कि ये एक ही अन्तःकरण की चार भिन्न-भिन्न कार्य करने की शक्तियाँ हैं। इस प्रकार दयानन्द के मनोविज्ञान के अन्तर्गत ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियो के व्यापार (Sensory-Motor) स्मृति, निश्चय (Judgment) व अभिमान वृत्ति मन मे रहने वाले संस्कार तथा मन मे उठने वाली आवेगात्मक वृत्तियें इत्यादि सब ही आ जाती हैं। इसके साथ ही मानसिक वृत्तियों का जीवन के शुभ के लिए संयमन भी आ जाता है।

सूक्ष्म शरीर

दीख पडने वाले स्थूल शरीर के अन्दर में, और भी तीन शरीर हैं, वैदिक दर्शन ने यह विचार उपनिषदो मे भी पाया जाता है। इसी औपनिषदिक दर्शन को स्वामी दयानन्द ने पुनः प्रकाशित किया है। स्वामी जी कहते हैं "शरीर तीन हैं एक स्थूल जो यह दीखता है। दूसरा पाच प्राण, पाच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाच सूक्ष्म भूत और मन तथा बुद्धि, इन सतरह तत्त्वो का समुदाय सूक्ष्म शरीर कहाता है। यह सूक्ष्म शरीर जन्म-मरण आदि मे भी जीव के साथ रहता है। इसके दो भेद हैं, एक भौतिक अर्थात् जो सूक्ष्म भूतो के अंशो से बना है। दूसरा स्वाभाविक जो जीव के स्वाभाविक गुणरूप है। यह दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति मे भी रहता है। इसी से जीव मुक्ति मे सुख को भोगता है। तीसरा कारण (शरीर) जिसमे सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होता है वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और सब जीवों के लिए एक है।"[1]

१. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २४८

स्थूल शरीर के कार्य सूक्ष्म शरीर से नियन्त्रित होते हैं, कृत्य एव अनुभूत विषयो के सस्कार इसी सूक्ष्म शरीर मे अन्त करण मे चले जाते हैं। जिस पुरुष का जैसा सस्कार-प्रवाह होता है वैसा ही वह दैनिक जीवन मे व्यवहार करता है। सूक्ष्म शरीर मे पडे सस्कार आदत (Habits) और स्थायी भाव (Sentiments) भी बनाते हैं। ये ही प्रसुप्तावस्था मे पडे सस्कार अर्ध-चेतन (Sub conscious) व अचेतन मन (unconscious mind) का रूप ग्रहण कर लेते हैं। सामाजिक व नैतिक प्रतिबन्धो के कारण दबा दिये जाने वाले ये शक्तिशाली सस्कार जीवन मे अनेक मानसिक रोग व गुत्थियाँ बना देते हैं। इसी शरीर मे आकर असम्बद्ध विचार व अनुभूतियाँ एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। समय पडने पर प्रत्यभिज्ञा (Memory) भी इन्ही सस्कारो मे से कुछ सस्कारो के मन के चेतन स्तर पर आने पर होती हैं।

पाँच प्राण Five Vital Forces)—सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत शरीर मे विभिन्न कार्यों को करने वाले पाँच प्राण होते हैं इनमे प्रथम 'प्राण' जो भीतर से बाहर जाता (है) 'अपान" जो बाहर से भीतर आता (है) "समान" जो नाभिस्थ हो सर्वत्र शरीर मे रस पहुँचाता (है) "उदान" जिससे कण्ठस्थ अन्नपान खीचा जाता है "व्यान' जिससे सब शरीर मे चेष्टा आदि कर्म जीव करता है।[1]

पाँच ज्ञानेन्द्रिया—इसके अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर मे पाच ज्ञानेन्द्रिया अपने शक्ति रूप मे होती है। स्वामी दयानन्द का सूक्ष्म शरीर स्थित पाच ज्ञानेन्द्रियो से स्थूल शरीर की त्वचा, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण व रसना से तात्पर्य नही है वरन् इनकी सूक्ष्म शक्तियो से है। भारतीय मनोविज्ञान मे ज्ञानेन्द्रियो का यह शक्तिरूप व स्थूलरूप का भेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्थूल ज्ञानेन्द्रियें इन्ही सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियो से शक्ति प्राप्त करके ही क्रियाशील होती है। साख्य दर्शन इन पाँचो ज्ञानेन्द्रियो की उत्पत्ति अहकार से मानता है, इनकी सृष्टि स्थूल भूतो से पूर्व ही पचतन्मात्राओ के साथ-साथ होती है। यद्यपि आधुनिक परा-मनोविज्ञान (Para-Psychology) ज्ञानेन्द्रियो की सूक्ष्म शक्तियो को स्वीकार नही करता। परन्तु परा-मनोविज्ञान की समस्यायें जैसे दूर-दर्शन, दूर-श्रवण व दूसरे के मन की बात जान लेना इन्हे सिद्ध करती है। दूर

१. वही, पृ० २४८

दर्शन मे स्थूल चक्षुओ का सीधा वस्तु से सम्बन्ध नही होता इसलिए इसे मनोविज्ञान की भाषा मे इन्द्रिय प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान कैसे होता है ? भारतीय मनोविज्ञान कहता है कि सूक्ष्म इन्द्रियें अपनी असाधारण शक्ति से उन्हें जान लेती हैं। साधारण अवस्था मे इन्द्रियें स्थूल इन्द्रियो व नाडी तन्त्र के द्वारा अपने कार्य करती हैं। परन्तु योगाभ्यास द्वारा सूक्ष्म इन्द्रियो मे स्वतन्त्र कार्य करने की क्षमता उत्पन्न की जा सकती है।

पांच सूक्ष्म भूत मन तथा बुद्धि—सूक्ष्म शरीर मे पाच सूक्ष्म भूत अर्थात् शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध भी होते हैं जिन्हे पचतन्मात्राएँ भी कहा जाता है। इन पन्द्रह तत्त्वो (पांच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच सूक्ष्म भूत) के अतिरिक्त मन तथा बुद्धि सहित सतरह तत्त्वो का सूक्ष्म शरीर होता है। स्वामी दयानन्द सूक्ष्म शरीर के दो भाग भौतिक और अभौतिक करते हैं। भौतिक का वर्णन ऊपर किया गया। अभौतिक शरीर जीवात्मा की निज की शक्तियो का स्वाभाविक गुणरूप है। और यही "दूसरा अभौतिक शरीर मुक्ति मे भी रहता है।"[१]

कारण-शरीर

इसके अलावा स्वामी दयानन्द के ग्रन्थो मे एक अन्य शरीर कारण शरीर का भी वर्णन पाया जाता है जो कि "प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु है और सब जीवों के लिए एक है।"[२] इसी के अन्तर्गत तमस से घनीभूत अन्त करण गाढनिद्रा अर्थात् सुषुप्ति मे रहता है।

मन व इन्द्रिया

साख्य की तरह स्वामी दयानन्द भी मन को एक इन्द्रिय ही मानते हैं। जिससे आत्मा इन्द्रियो के द्वारा वाह्य जगत से सम्बन्ध स्थापित करता है। मन और इन्द्रियो के बीच प्राण की शक्ति है। यह प्राण सारे शरीर मे मुख्य रूप से पाँच प्रकार से प्राण, अपान, समान, व्यान व उदान के रूप मे बहता रहता है। इसी के पाँच उपभाग नाग, कर्म, देवदत्त, कृककल, धनञ्जय

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४८

२ सत्यार्थप्रकाश पृ० २४८

के नाम से हैं। शरीर मे प्राण वह शक्ति है जो शरीर को गतिशील रखती है, तथा शरीर के हर कोष्ठ व नाडी मे स्पन्दन करती है। प्राण शक्ति मन के अधिकार मे रहती है। दयानन्द के विचार मे आत्मा जब कुछ करना चाहता है, वह "मन के साथ सयुक्त होकर प्राणो को प्रेरणा करके अच्छे या बरे कामो मे (मन को) लगाता है।"[1] प्राण इन्द्रियो को कार्य करने की शक्ति प्रदान करते हैं। इस प्रकार मन प्राणो द्वारा इन्द्रियो को क्रियाशील करता है।

स्वामी जी के मत मे, मन कोई चेतन सत्ता नही है बल्कि जैसा कि अन्य वैदिक दर्शन भी मानते हैं मन प्रकृति का विकार होने से जड पदार्थ है।[2] परन्तु आत्मा की चित्ति शक्ति के साथ सयुक्त होकर चेतनवत् प्रतीत होता है। आत्मा की शक्ति से प्रेरित होकर ही यह कार्य मे लगता है। शरीर व आत्मा का सम्बन्ध मन द्वारा होता है। मन से विषयो का सीधा सम्पर्क नही होता परन्तु विषयो का सीधा सम्बन्ध तो इन्द्रियो से होता है। इन्द्रिया विषय के सम्पर्क से उत्पन्न अनुभूतियो (Sensations) को ज्ञानवाही नाडियो द्वारा मन तक पहुँचा देती हैं।[3] उससे मन अपनी विभिन्न शक्तियो यथा सकल्प-विकल्प, स्मृति निश्चय आदि से पहले प्राप्त हुई अनुभूतियो पर विचार कर निश्चय करता है कि यह क्या पदार्थ है। उनका पूर्व प्रत्यक्ष से सम्बन्ध स्थापित करता है इससे इसमे पूर्वदृष्ट की स्मृति भी सयुक्त रहती है।

मन इन्द्रियो से उच्च प्राणो का भी स्वामी होने से इन्द्रियो को अपने वश मे रखता है। मन मे उत्पन्न होने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार तरग

---

१ सत्यर्थप्रकाश पृ० २४६

२ 'वैसे प्राण भी जड हैं । वैसे ही मन भी जड है व उसको हर्ष न शोक हो सकता है किन्तु मन से हर्ष, शोक, सुख-दुःख का भोग जीव करता है। सत्यार्थप्रकाश, पृ० २३८

३ जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरणरहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के सयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है।' वही पृ० ५०

भी इन्द्रियो पर प्रभाव डालती हैं। मन इन्द्रियो पर किस प्रकार अपनी सत्ता बनाये रहता है। इसे स्वामी दयानन्द एक वेद मन्त्र के भाष्य में कहते हैं कि "मन रस्सी से घोडो के समान अथवा घोडों के नियन्ता सारथी के तुल्य मनुष्यो को अत्यन्त इधर-उधर डुलाता है।"[1] परन्तु जब इन्द्रियो में किसी कार्य को करने की स्थायी आदत हो जाती है तब वे विषयो की ओर, अनियन्त्रित शक्तिशाली अश्वो की भांति, अनायास ही मन को खीच लेती हैं। ऐसी अवस्था में मन की दुर्बलता से उन विषयो की ओर इन्द्रियो को जाने में मूक सहमति होती है।

सत्व, रज तम का मन व इन्द्रियो पर प्रभाव

सत्व, रज व तम का शरीर व मन पर प्रभाव—महत् से लेकर स्थूल पदार्थो तक समस्त रचना सत्व, रज व तम इन्ही तीन गुणो का विकारमात्र है। मन, इन्द्रियां व शरीर भी गुणो के प्रभाव के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। सांख्यो ने महत्—जिसे विश्व अन्त करण भी कहते हैं—की उत्पत्ति विशुद्ध सत्व गुण से बतायी है और सत्व गुण प्रकाश, विज्ञान व शुद्धता का द्योतक है। मन व दश इन्द्रियें सात्विक अहकार से उत्पन्न हुयी हैं। परन्तु इनमे अन्य दो गुण रज व तम दबी हुयी अवस्था मे होते हैं।[2] दूसरी तरफ शरीर जिन महाभूतो से बनता है उनमे तमोगुण प्रधान होता है। स्वामी दयानन्द सांख्य दर्शन द्वारा प्रतिपादित गुण-त्रय विभाग एव उससे जड व चेतन जगत् की उत्पत्ति को यथावत् मानते हैं इससे मन व शरीर पर तीनो गुणों के प्रभाव को भी मानना उनके लिए आवश्यक है। गुणत्रय विभाग सांख्य दर्शन की एक ऐसी अद्भुद् वैज्ञानिक देन है जिसके कारण कम से कम वैदिक दार्शनिको को अन्य विषयो पर सांख्य से असहमति रखते हुये भी गुण विभाग को मानना पडता है। उदाहरणार्थ स्वामी शकर व रामानुजाचार्य सांख्य के द्वैतवाद के घोर विरोधी हैं तथा उसे नास्तिक दर्शन मानकर आलोचना भी करते हैं। परन्तु सत्व, रज व तम के विभाग को वे भी मानते हैं। जिस

१. वही पृ० १८२
२. सांख्य कारिका न० २५ ईश्वर-कृष्ण—इस पर वाचस्पति मिश्र की सांख्य-तत्त्व-कौमुदी मे भाष्य।

पदार्थ से मन, इन्द्रिय व शरीर बने हैं उसी पदार्थ मे कुछ थोडा बहुत इधर-उधर करमे से ससार के सारे पदार्थों का निर्माण हुआ है। अत' शरीर तथा मन पर उनका प्रभाव पडना अनिवार्य ही है। वास्तव मे तीन गुणो के मानव जीवन पर प्रभाव की धारणा वैदिक मनोविज्ञान की आधारभूत विशेषता है जिसके ऊपर मानव का ही नही वरन् सारे प्राणी जगत का व्यवहार आधारित है।

सत्व, रज व तम का प्रभाव हमारे व्यवहार पर किस प्रकार पडता है ? इस प्रश्न को दयानन्द शरीर मे तीनो गुणो की स्थिति व उत्कर्ष का वर्णन करते हुये कहते हैं "जब आत्मा मे ज्ञान हो तब सत्व जब अज्ञान रहे तब तम और जब राग व द्वेष मे आत्मा लगे तब रजोगुण जानना चाहिये। ये तीन प्रकृति के गुण सब ससारस्थ पदार्थों मे व्याप्त होकर रहते हैं।"[1] यद्यपि तीनो गुण बराबर हम पर अपना प्रभाव अनेक प्रकार से डालते रहते है परन्तु एक काल मे एक ही गुण का प्रभाव प्रधान होता है बाकी दो गौण हो जाते हैं और जिस काल मे "जो गुण इन जीवो के देह मे अधिकता से वर्तता है" "वह गुण उस जीव को अपने सदृश कर लेता है।"[2] इन गुणो का क्या-क्या प्रभाव व उनके उत्कर्ष मे प्राणी की क्या स्थिति होती है वह इससे समझा जा सकता है। दयानन्द कहते हैं "जब आत्मा मे प्रसन्नता मन प्रशान्त के सदृश शुद्धभानयुक्त वर्ते तब समझना कि सत्व गुण प्रधान और रजोगण तथा तमोगुण अप्रधान हैं। जब आत्मा और मन दुखसयुक्त, प्रसन्नतारहित विषय मे इधर-उधर गमन आगमन मे लगे तब समझना कि रजोगुण प्रधान, सत्वगुण और तमोगुण अप्रधान हैं। जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों मे फसा हुआ आत्मा और मन हो, जब आत्मा और मन मे कुछ विवेक न रहे, विषयो मे आसक्ति, तर्क-वितर्करहित-जानने के योग्य न हो तब निश्चय समझना चाहिये कि इस समय मुझ मे तमोगुण प्रधान और सत्व गुण तथा रजोगुण अप्रधान है। अब जो इस तीन गुणो का उत्तम, मध्यम और निकृष्ट फलोदय होता है उसको पूर्ण भाव से कहते हैं। जो वेदो का अभ्यास धर्मानुष्ठान ज्ञान की वृद्धि, पवित्रता की इच्छा, इन्द्रियो का

---

१ सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५६

२. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५६

निग्रह, धर्मक्रिया और आत्मा का चिन्तन होता है यही सत्वगुण का लक्षण है। जब रजोगुण का उदय सत्व और तमोगुण का अन्तर्भाव होता है तब आरम्भ मे रुचिता, धैर्यत्याग, असत् कर्मो का ग्रहण, निरन्तर विषयों की सेवा मे प्रीति है, तभी समझना कि रजोगुण प्रधानता से मुझ मे वर्त रहा है। जब तमोगुण का उदय और दोनो का अन्तर्भाव होता है तब अत्यन्त लोभ अर्थात् सब पापो का मूल बढता, अत्यन्त आलस्य और निद्रा, धैर्य का नाश, क्रूरता का होना नास्तिक्य अर्थात् वेद और ईश्वर में श्रद्धा का न रहना, भिन्न-भिन्न अन्तःकरण की वृत्ति और एकाग्रता का अभाव और किन्हीं व्यसनो मे फसना होवे तब तमोगुण का लक्षण विद्वान को जानने योग्य है। तथा जब अपनी आत्मा जिस कर्म को करके करता हुआ और करने की इच्छा से लज्जा, शंका और भय को प्राप्त होवे तब जानो कि मुझमे प्रवृद्ध तमोगुण है। जिस कर्म से इस लोक मे जीवात्मा पुष्कल प्रसिद्धि चाहता, दरिद्रता होने मे भी चारण, भाट आदि को दान देना नहीं छोडता तब समझना कि मुझमे रजोगुण प्रबल है। और जब मनुष्य का आत्मा सबसे जानने को चाहे, गुण ग्रहण करता जाय, अच्छे कामो मे लज्जा न करे और जिस कर्म से आत्मा प्रसन्न होवे अर्थात् धर्माचरण मे ही रुचि रहे तब समझना कि मुझमें सत्व गुण प्रबल है। तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ-सग्रह की इच्छा और सत्व गुण का लक्षण धर्म सेवा करना है परन्तु तमोगुण से रजोगुण और रजोगुण से सत्वगुण श्रेष्ठ है।"[1] क्योकि सत्वगुण प्रकाश विज्ञान को देने वाला है रजोगुण विक्षेप तथा तमोगुण अज्ञान का प्रतीक है।

स्वामी जी यह पहले कह चुके हैं कि प्रकृति के समस्त पदार्थ इन्हीं तीन गुणो के विकार हैं। इससे प्राणियो के व्यवहार की वस्तुयें भी इन्हीं तीन गुणो को उत्पन्न करने वाली हैं। भोजन, वस्त्र, रहने-सहने की प्रणाली तथा आस-पास का वातावरण यह सब मानव व्यवहार पर इसी प्रकार का प्रभाव डालते हैं, उदाहरणार्थ प्रकृति का सौंदर्य मन मे शान्त भाव उत्पन्न करता है। भोजन मे भी इसी प्रकार के प्रभाव होते हैं। अधिक चरपरा भोजन रजोगुण, ताजे फल सात्विक व बासी भोजन तमोगुणी वृत्ति उत्पन्न करता है। स्वामी जी भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण में भोजन मे इन तीनो प्रकार के

---

१. सत्यार्थ प्रकाश पृ० २५९—२६०

गुणो को बताते हुए कहते हैं कि मासाहारी "मनुष्य का स्वभाव मांसहारी होकर हिंसक हो जाता है।"[1] गुण प्राधान्य के अनुसार प्राणियो के अन्त करण तथा उनकी वृत्तियाँ भी उसी प्रकार की हो जाती हैं जिस प्रकार के गुण की अन्त करण मे प्रधानता होती है।

अन्त करण मे स्थित वृत्ति-प्रवाह नदी के वेग की तरह अपनी गति से प्रवाहित होता रहता है। जिससे सुख दुख व पुनर्जन्मादि होता है। सतोगुणी, रजोगुणी व तमोगुणी प्रधान वृत्तियो वाले प्राणी मृत्यु के पश्चात् किन-किन गतियो को प्राप्त होते हैं तथा कहा-कहा जन्म प्राप्त करते हैं, इस विषय पर दयानन्द हमको मनुस्मृति के प्रमाण से एक लम्बा विवरण देते हैं। जिसका मुख्य आशय है कि "जो मनुष्य सात्विक हैं वे देव अर्थात् विद्वान, जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम मनुष्य और जो तमोगुणयुक्त होते हैं वे नीच गति को प्राप्त होते हैं।"[2] इस प्रकार सतोगुण अन्य गुणों से सर्वथा उच्च कोटि का है। परन्तु गुण चाहे सात्विक हो या तामसिक वन्धन तो है ही, जैसे कि एक पशु लोहे की जजीर मे वधा हो चाहे स्वर्ण की जजीर से परन्तु है वधा हुआ ही। मनुष्य को, गुणो के वन्धन से छूटे विना मोक्ष नही मिल सकती। इसी से स्वामी दयानन्द सतोगुण के द्वारा निम्न गुण को दवाकर और वाद मे सतोगुण से भी छुटकारा पाने का उपदेश करते हैं। वे कहते हैं कि "मनुष्य रजोगुण, तमोगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध सत्वगुणयुक्त कर्मों से भी मन को रोक शुद्ध सत्वगुणयुक्त हो पश्चात् उसका निरोध कर एकाग्र अर्थात् एक परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म इनके अग्रभाग मे चित्त को ठहरा रखना निरुद्ध अर्थात् सव ओर से मन की वृत्ति को रोकना जब चित्त एकाग्र और निरुद्ध होता है तब सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप मे जीवात्मा की स्थिति होती है।"[3] इससे पूर्व किसी भी प्रकार का गुणो का वन्धन जीवात्मा को परमात्मा के स्वरूप मे स्थित होने से रोकता है।

योग व मन सयम

प्राणियो का मन (योग की भाषा मे चित्त) एक ऐसा अद्भुत तत्त्व है जो सदैव किसी न किसी कार्य मे सलग्न रहता है। मन की सदैव चचल

१ वही पृ० २९४ २. वही पृ० २६१ ३. वही पृ० २६२

व वदलने वाली दशाओ को ही योग दर्शनकार ने चित्तवृत्ति कहा है। ये चित्तवृत्तियें संख्या मे असख्य होती हैं जैसा कि वाचस्पति कहते हैं, परन्तु योगदर्शनकार ने इनको पाच विभागो मे वाट दिया है। स्वामी दयानन्द यहा भी योगदर्शन के वृत्ति-विवरण से सहमत हैं। ये पांचों वृत्तिया इस प्रकार हैं, प्रमाण, विपयय (भ्रम) विकल्प, निद्रा और स्मृति।

प्रमाण—योग दर्शन ने तीन प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द माने हैं। परन्तु स्वामी दयानन्द आठ प्रमाण माने हैं जिनमे यह तीन भी हैं। तथापि इसमे इनका कोई विरोध नही है। इनका वर्णन प्रमाण-विद्या के अध्याय मे किया जा चुका है।

विपर्यय—"जिसमे मिथ्या ज्ञान हो अर्थात् जैसे को तैसा न मानना अथवा अन्य मे अन्य की भावना कर लेना" विपर्यय है।

विकल्प—'जिसका शब्द तो हो परन्तु किसी प्रकार का अर्थ किसी को ना मिल सके।"

निद्रा—"जो वृत्ति अज्ञान व अविद्या के अन्धकार में फंसी हो।" यहा दयानन्द का तात्पर्य तमोगुण के घोर अन्धकार मे फसी मन की ऐसी स्थिति से है जैसी कि गहन निद्रा मे होती है। यहा जीव को तमोगुण की गहनता के कारण स्वप्न भी नही होते और चेतना भी लुप्त प्राय हो जाती है। व्यास का कथन है कि इसमे उठने के वाद केवल आराम व आलस्य का अनुभव रहता है। इससे निद्रा मे भी मन की विशेष स्थिति वनी रहती है। इनसे यह मन की ही वृत्ति है।

स्मृति—"जिस व्यवहार या वस्तु को प्रत्यक्ष देख लिया हो उसी का संस्कार ज्ञान मे वना रहता है और उस विषय को भूले नही, इस प्रकार की वृत्ति को स्मृति कहते हैं।"[१] व्यास स्मृति को स्वप्न और जाग्रत दो प्रकार की वताते हैं। दयानन्द इस विषय मे मौन है। (परन्तु वे योगदर्शन पर व्यास भाष्य को प्रमाण मानते हैं। इससे हमारे विचार मे व्यास मे और दयानन्द मे विरोध नहीं है।)

१. वृत्तियो के विवरण के लिये दयानन्द ग्रंथमाला भाग २, पृ० ४६६–४६७ शताब्दी संस्करण देखिये।

पाँच क्लेश —ये पाचो वृत्तिया क्लिष्ट (क्लेश सहित) और अक्लिष्ट (क्लेशरहित) दो प्रकार की होती हैं। स्वामी दयानन्द का क्लेशसहित वृत्तियो से ऐसी वृत्तियो से तात्पर्य है जो अविद्या आदि क्लेशो से उत्पन्न होती हैं, परन्तु जो उपासक योगी हैं उनकी वृत्तिया क्लेशरहित शान्त होती हैं।[1] अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश पाच क्लेश है। "अनित्य संसार और देहादि मे नित्य । अशुचि अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्या भाषण चोरी आदि अपवित्र मे पवित्र · दुख मे सुख और अनात्म मे आत्म बुद्धि"[2] करना अविद्या है। "पृथक वर्तमान बुद्धि को आत्मा से भिन्न न समझना अस्मिता, सुख मे प्रीति राग दुख मे अप्रीति द्वेष और मृत्यु दुख से त्रास अभिनिवेश कहाता है।"[3] लेकिन इन सब मे अविद्या ही प्रमुख है। पातजलि कहते हैं कि यही बाकी सबकी उत्पत्ति की भूमि (कारण) है। स्वामी दयानन्द का भी यह निश्चय है कि 'यह चार प्रकार की अविद्या ससार के अज्ञानी जीवो को बन्धन का हेतु होने से उनको नचाती रहती है।'[4]

मन सयम व योग—वैदिक मनोविज्ञान, मन व उसकी शक्तियो, वृत्तियो, उनकी उत्पत्ति व जीवन पर प्रभाव, इत्यादि विश्लेषणात्मक अध्ययन करने के पश्चात् मन-सयम का व्याख्यान करता है। जिसके द्वारा प्राणी अपने वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। योगसूत्रो मे इस शास्त्र का उप-सहार करते हुए पातजलि कहते हैं कि जब तीनो गुण अपना कार्य समाप्त कर देते हैं अर्थात् सस्कारो को उत्पन्न करने की शक्ति नही रहती और पुरुष अपने स्वरूप मे स्थित हो जाता है वह कैवल्य है, वही इस शास्त्र के व्याख्यान का उद्देश्य है। वैदिको ने मनोविज्ञान की रचना मानव-स्वभाव, व्यवहार व सस्कार आदि को समझने व सुधारने के लिए की है ताकि लक्ष्य प्राप्ति मे बाधक सस्कारो को हटाया जा सके। स्वामी दयानन्द भी मनोविज्ञान को मन-सयम के लिए प्रयोग करते हैं।

---

१ वही, पृ० ४६६

२. सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २३६ ३. वही, पृ० २५०

४. दयानन्द ग्रन्थमाला, पृ० ४८८

योग का अर्थ—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध.'[1] पातजलि ऋषि योग को चित्तवृत्ति निरोव के अर्थों मे वताते हैं। इस सूत्र मे 'योग' व 'निरोध' इन दो शब्दो पर विद्वानो मे काफी चर्चा है। योग शब्द के अर्थ व्यास जी ने 'योग. समाधि.'[2] के रूप मे किए हैं। इसकी पुष्टि मे वाचस्पति कहते हैं कि योग शब्द 'युज्' धातु से वना है जिसका अर्थ समाधि है। समाधि अवस्था मे चित्त की वृत्तियो का निरोध हो जाता है इसीलिए शास्त्रकार ने योग का अर्थ 'चित्तवृत्तियो का निरोध" किया है। महर्षि व्यास द्वारा योग का अर्थ समाधि मे करने के कारण विद्वानो में यह विचार घर कर गया कि योग केवल चित्त-वृत्ति-निरोध ही है तथा पातजलि का योग शब्द का तात्पर्य परमात्मा से मिलाने से नही है। स्वय व्यास जी ने ऐसा तो नहीं कहा परन्तु उन्होंने भी अपने भाष्य मे यह कहीं नहीं कहा कि योग परमात्मा मे मिलाने के अर्थों में भी है। "तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्"[3] के भाष्य मे भी व्यास पुरुष को अपनी निज की शुद्धता में स्थित होना कहते हैं। इसमे भी सन्देह वढ जाता है कि यह शास्त्र योग मे जीवात्मा का परमात्मा से मिलन नही कहता। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान योग को मिलाने के ही अर्थो मे लेते हैं कि ब्रह्म-प्राप्ति कराना ही योग का अर्थ है। और जो पातजलि ने योग को चित्त-वृत्ति-निरोध वताया है वह वृत्तियो का दमन करना है।

स्वामी दयानन्द 'योगश्चित्त-वृत्ति-निरोध" का व्याख्या मे योग शब्द को केवल समाधि के अर्थों मे ही नहीं वरन् परमात्मा से मिलन में भी लेते है। वे कहते हैं 'चित्त की वृत्तियो को सब बुराइयो से हटाकर, शुभ गुणो मे स्थिर करके परमेश्वर के समीप मे मोक्ष को प्राप्त करने को योग कहते हैं।"[4] इस स्थल पर दयानन्द का न तो पातंजलि से मतभेद है और न व्यास से। विचार करने पर पता चलता है कि चित्त की वृत्तियो के निरुद्ध होने मे जीवात्मा का परमात्मा से स्वय ही मेल हो जाता है।

---

१ योग सूत्र, १—२

२ योग सूत्र, १—१ पर व्यास भाष्य

३ योग सूत्र, १—३

४. दयानन्द ग्रन्थमाला. भाग २, पृ० ४६६।

परमात्मा के सर्वव्यापक होने से जहाँ कहीं भी जीवात्मा होगा वहाँ परमात्मा पहिले से ही विद्यमान है अत. स्थान विशेष पर जीवात्मा व परमात्मा के मिलन का प्रसग ही नही उत्पन्न होता । परन्तु चित्त में स्थित वृत्तियें परमात्मा के साक्षात्कार में बाधक हैं । शुद्ध जीव ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है । इससे पातजलि ने योग को चित्त की वृत्तियो का निरोध कहा है । और यदि जीवात्मा की स्वरूप-स्थिति ही योग मानी जाय तब इसके दो ही अर्थ हो सकते हैं । एक तो यह कि जीव ही ब्रह्म है जो योग से अविद्योपाधि के नष्ट होने पर अपने स्वरूप में स्थित हो ब्रह्म हो जाता है और या दूसरे कि पातजलि जीव के द्वारा ब्रह्म के साक्षात्कार को नही मानते । परन्तु ये दोनो ही बातें पातजलि को मान्य नही हैं । प्रकृति व पुरुष का द्वैत मानने से वे अद्वैतवादी नही हैं तथा अपने शास्त्र ईश्वर का वर्णन करने से अनीश्वरवादी भी नही हैं। इसके अतिरिक्त श्रुति कहती है कि "परमात्मा को जाने बिना मृत्यु से नही छूटा जा सकता"[1] और पातजलि श्रुति को प्रमाण मानते हैं, अत यह भी नही माना जा सकता कि पातंजलि जीव का ब्रह्म से साक्षात्कार नहीं मानते । इससे यही प्रतीत होता है कि दयानन्द द्वारा बताया गया योग का अर्थ ठीक है कि "वृत्ति निरोध होकर परमेश्वर में स्थित हो जाता है ।" इससे योग शब्द निरोध व सयोग दोनो अर्थों में लिया जा सकता है।

कुछ विद्वान् निरोध शब्द का "दबाना" (Suppression) अर्थ करते हैं । इससे वह आरोप लगाते हैं कि योगशास्त्र वृत्तियो का दमन करना बताता है जीतना नही । इससे पातंजलि का योग मार्ग हठयोग का मार्ग है । परन्तु विद्वानो का इस प्रकार का कथन योगदर्शन को न समझने के कारण ही है। दयानन्द जी के विचार से निरोध का तात्पर्य वृत्तियो पर विजय प्राप्त करना है । वे कहते हैं कि मनुष्य को अपने को सत्य से विचलित करने वाले दुर्गुणो से हटा लेना चाहिये तथा सत्य मे मन का समाधान करना चाहिये । इससे निरोध का अर्थ दबाना (Suppression) नही होता । स्वय पातजलि मुनि ने कहीं भी वृत्तियो को दबाने की बात नही कही

१ यजुर्वेद, ३१-१८ ।

पातंजलि मुनि वृत्तिक्षय के लिये अष्टांग-मार्ग, यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि को बताते हैं। इस मार्ग मे यम और नियम विचार व कर्म की शुद्धि को बताते हैं तथा पातञ्जलि मुनि का उन्हे प्रारम्भ मे रखने का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि वे चित्त-संयम के लिये विचारो व कर्मो की शुद्धि अत्यावश्यक समझते थे। इसके अतिरिक्त योग दर्शनकार अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वृत्ति-निरोध को बताते हैं। इस पर व्यास मुनि कहते हैं कि चित्त की दो धाराएं कल्याणवाहिनी व पापवाहिनी होती हैं। इनमे कल्याणवाहिनी धारा विवेकविषया है जिसका फल कैवल्य है इनमे विवेक ज्ञान के अभ्यास से विवेक का स्रोत खोला जाता तथा वैराग्य से विषयो के स्रोत नष्ट किये जाते हैं। इन दोनों के अभ्यास से ही चित्त वृत्ति निरोध होता है।[1] इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि योगदर्शन वृत्ति निरोध को विवेकपूर्ण वैराग्य से बताता है। यहा पर वृत्तियो को शक्तिपूर्वक दबाना उनका तात्पर्य नहीं है। यही गीता भी मानती है कि अभ्यास और वैराग्य से मन शान्त हो जाता है।[2] दूसरे अध्याय के पहले सूत्र मे तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान ये तीन क्रियायोग के आवश्यक अंग बताये हैं। तप की व्याख्या मे व्यास कहते हैं कि तपहीन व्यक्ति योग को प्राप्त नहीं कर सकता क्योकि अनादि कर्म व क्लेश बिना तप से समाप्त नही सकते। वाचस्पति कहते हैं कि तप से भाष्यकार का तात्पर्य वही तक है जहा तक वे पापो को नष्ट करते हैं परन्तु शरीर को हानिकारक नही है।[3] तप के साथ स्वाध्याय एव ईश्वर प्रणिधान हैं इनमे स्वाध्याय का तात्पर्य शुद्धता की ओर ले जाने वाले ग्रन्थो का अध्ययन है तथा ईश्वर प्रणिधान का अर्थ सब कर्मो व फलों

---

१. 'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध.'। योग सूत्र, १—१२। इस पर व्यास भाष्य।

२. गीता ६—३५।

३ 'The meaning is that so much . as does not cause the disturbance of the equilibrium of Physiological forces' Vachaspati Gloss on Vyas Bhashya 1/12 Edt. by Maj B D. Basu

को परम गुरु परमात्मा के अर्पण करना है।[1] हम नही समझते कि इसमे और गीता के कर्मयोग मे क्या अन्तर है। अत निरोध का अर्थ दबाना नही हो सकता वरन् जीतना तथा परिवर्तन करना (Transformation) ही अधिक युक्तिसगत है और यही शास्त्र का तात्पर्य भी है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिये मन को एक विशिष्ट प्रकार की साधना करनी पडती है और वह है सत्य प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा का सतत् रहना। वैसे तो मन को अनेक रास्तो से वश मे किया जा सकता है जिनमे से कुछ का दिग्दर्शन पातंजलि ने किया भी है। सत्य को जानने की उत्कट अभिलाषा तथा उसके लिये किये गये सम्यक् कर्म, सत्य के द्वारो को साधक के लिये खोल देते हैं और साधक को यथाशक्ति सत्य के वातायान मे विचरने की स्वतन्त्रता भी दे देते हैं। प्रकृति जन-साधारण के लिये वन्द अपने द्वारो पर दस्तक देने वाले को पूरी तरह पहिचानती है कि कौन उसके अलौकिक प्रांगण मे प्रवेश पाने का अधिकारी है और अधिकारी के लिये उसके द्वार तुरन्त खुल जाते हैं। साख्यो का वताया प्रकृति-पुरुष-विवेक का मार्ग भी एक मार्ग है इसे ही ज्ञानमार्ग कहते है। तथा प्राणायाम द्वारा भी मन सयमित किया जा सकता है। परन्तु मन को सयमित करने के लिए ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर की उपासना को स्वामी दयानन्द सर्वोत्तम मार्ग मानते हैं। वह कहते हैं कि ईश्वर मे विशेष भक्ति होने से मन का समाधान होके मनुष्य समाधियो को शीघ्र प्राप्त हो जाता है।"[2]

योग के अन्तराय—मन संयम के मार्ग मे, जैसा कि पातजलि कहते हैं विघ्न बाधायें आती हैं क्योकि साधना से पूर्व मन व शरीर का निर्माण जगत् मे उस व्यवहार के अनुरूप होता है जिसे साधक साधना से पूर्व करता था। परन्तु साधना-काल मे, जवकि एक नये प्रकार का जीवन बनाने की दिशा मे कार्य किया जाता है तव उस व्यवहार के अनुकूल शरीर व मन भी बनना चाहिए। साधना मे वासनामय जीवन से दैवी जीवन तक पहुँचने के

---

१. 'ईश्वर प्रणिधान सर्व क्रियाणा परमगुरावर्पण।' योग सू० २–१ पर व्यास भाष्य।

२. दयानन्द ग्रंथमाला, भाग २, पृ० ४६७।

काल को परिवर्तन का काल कहा जा सकता है। वासनाएं अपनी सत्ता छोड़ने में झिझकती हैं और उपासक के मन को बार-बार वापस अपनी ओर खींचती हैं। वासना और साधना के इस संघर्ष में अनेक प्रकार की व्याधिएं शरीर में हो जाती हैं जिन्हें योग दर्शन के अनुसार स्वामी दयानन्द ने भी नौ माना है। जो इस प्रकार हैं, व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-आलस्य-अविरति-भ्रान्तिदर्शन-अलब्धभूमिकत्व व अनवस्थितत्त्व। साधना के मार्ग में ये अन्तराय मन को एकाग्र होने से रोकते हैं। इनके अतिरिक्त पांच चित्त-विक्षेप दु:ख-दौर्मनस्य-अंगमेजयत्व-श्वास-प्रश्वास भी अन्तरायों के साथ ही उत्पन्न होते हैं। ये भी साधना में विघ्न डालते हैं[१]। पातंजलि कहते हैं कि इन व्याधियों को जीतने का एक ही मार्ग है[२] और वह है एक तत्त्व का निरन्तर अभ्यास। एक ही विषय की निरन्तर साधना से व्याधिया स्वयं ही नष्ट होजाती हैं। व्यास चित्त विक्षेपों के नाश के लिये बताये एक तत्त्व अभ्यास को बताते हैं कि जिससे चित्त एक ही तत्त्व का अभ्यासी हो जाय लेकिन वाचस्पति मिश्र ने एक तत्त्व का अर्थ ईश्वर से लिया है। स्वामी दयानन्द भी एक तत्त्व से ईश्वर को ही बताते हैं कि वही (ईश्वर) एक उन विघ्नों के नाश करने को वज्ररूप शस्त्र है अन्य नहीं। साधना मे ईश्वर साधक की सहायता करता है तथा उसे कुमार्ग से बचने की निरन्तर प्रेरणा देता रहता है। इस पर प्रश्न उठता है कि ईश्वर को न मानने वाले बौद्ध व जैन क्या सिद्धि की प्राप्ति नहीं कर सकते ? हमारे विचार से ऐसी बात नहीं है। हम देखते हैं कि इतिहास में महावीर व बुद्ध सरीखे ऐसे बहुत से सिद्ध हो गये हैं जो बिना ईश्वर को मानते हुये भी परमपद को प्राप्त कर गये हैं। साख्यो के मार्ग मे भी ईश्वर-प्रणिधान का कहीं उल्लेख नहीं है। साख्य प्रकृति व पुरुष के विवेक के द्वारा ही कैवल्य को सम्भव बताते हैं। इससे यही पता चलता है कि बिना ईश्वर को माने भी साधना में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। अत. यहा पर एकतत्त्व का अर्थ केवल ईश्वर ही नहीं है।

---

१. (i) ऋ० भाष्यभूमिका, पृ० १८१ ले० महर्षि दयानन्द।
(ii) योग सूत्र, १-३० व ३१।

२. तत्प्रतिषेधार्थमेक तत्वाभ्यास.। योगदर्शन १, ३२

एकतत्त्व के अभ्यास से महर्षि पातजलि का तात्पर्य एक ही ध्येय मे अविराम तन्मयता से है। यही योग का वैज्ञानिक स्वरूप है। वह एकतत्त्व ईश्वर भी हो सकता है। परन्तु योग द्वारा प्राप्त परम सिद्धि एक ही है और वह ईश्वर की प्राप्ति है।

इसके अलावा शरीर, मन व कर्मों को साधने तथा उपासना योग्य वनाने के लिये स्वामी जी योगदर्शन के अष्टांग मार्ग यम, नियम, आसन' प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि को ही कहते हैं। परन्तु दयानन्द के दर्शन मे इनकी तह मे ईश्वर प्रणिधान् अर्थात् ईश्वर की उपासना व आश्रय मुख्य हैं। इसी से वह इसे उपासना योग कहते हैं।

९

नीतिशास्त्र

(ETHICS)

जीव की कर्म स्वतन्त्रता

प्रश्न—जीव स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?

(दयानन्द) उत्तर – अपने कर्त्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र । 'स्वतन्त्र कर्त्ता" यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है, जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है वही कर्त्ता है । सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६०

नीतिशास्त्र में यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्व का है कि जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है या नहीं । कुछ धर्मज्ञ पण्डितों का कहना है कि संसार का सारा व्यापार परमात्मा की इच्छा से होता है । उसकी इच्छा के विरुद्ध एक पत्ता भी नहीं हिल सकता । नियतिवाद की यह धारणा जन साधारण के साथ-साथ अनेक विद्वानों पर भी अपनी छाप जमाये हुये है । श्री निवासाचारी जैसे विद्वान् गीता में भी इसी नियतिवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि परमात्मा को कर्त्ता समझो तथा सारे कर्म उसी के द्वारा पूर्व नियोजित हैं ।[१] यद्यपि विद्वान् लेखक आगे कहते हैं कि जीवात्मा को पशुवृत्तियों पर विजय पाने और कर्मेन्द्रियों को अपने अधिकार में करने की स्वतन्त्रता है, परन्तु इस संसार में वास्तविक कर्त्ता ईश्वर ही है और जीवात्मा अपने को परमात्मा की इच्छा के अनुरूप बनाने में स्वतन्त्र है । किन्तु आगे वह स्वयं इस बात को अस्वीकार करते हैं कि स्वतन्त्रता एक वास्तविक

---

१ "Regard all your actions as determined by Bhagwan or God as the ultimate subject or Karta." (The Ethical Philosophy of the Gita, P 100 by Shri P. N. Shri Nivasachari)

सम्भावना है तथा व्यक्ति अपने को दैवी रूप की ओर भी ले जा सकता है और पाप मे भी डुबा सकता है ।[1]

एक बार कर्मों को परमात्मा द्वारा निश्चित किये जाना, मान लेने पर कर्म करने मे जीव को स्वतन्त्र कहना केवल शब्द जजालमात्र है, क्योकि फिर चाहे जीवात्मा दैवी गुणो की ओर अग्रसर हो या पापवृत्ति मे लगे, यह सब कर्म हैं जो फल पैदा किये बिना नही रह सकते । और यही कर्म स्वतन्त्रता मानने वालो का कथन है । स्वामी दयानन्द ऐसे काल मे पैदा हुए थे जबकि जन साधारण के मन मे यही भावना थी कि 'होवत वही जो राम रच राखा' तथा 'सकल पदार्थ हैं जग माही । बिना भाग्य नर पावत नाही ।।' उन्होने इस दैववाद व भाग्यवाद के विरुद्ध वेदो, उपनिषदो तथा दर्शनग्रन्थो के आधार पर यह सिद्धान्त रक्खा कि जीवात्मा कर्म करने मे स्वतन्त्र है परन्तु कर्मों के फल भोगने मे परमात्मा के आधीन है, जैसा कोई प्राणी इस ससार मे करता है परमात्मा एक सच्चे न्यायाधीश की भाँति उसके कर्मों का वैसा ही फल उसे प्रदान कर देता है । इनके मत मे परमात्मा जीवात्मा के कर्मों का कर्त्ता नही किन्तु कर्मफल का नियामक है ।

ससार मे जितने भी सुख-दु ख हैं वे सब जीव केइन्ही स्वतन्त्र कर्मो के फलस्वरूप पैदा होते हैं । इससे परमात्मा में वैषम्य (विषम-बुद्धि) न नैर्घृण्य (निर्दयता) आदि दोष नही लगते । क्योकि परमात्मा स्वय अपनी इच्छा से किसी को सुख-दुख नही देता । कर्म-स्वातन्त्र्य को न मानने वाले तथा ससार को परमात्मा की लीला स्थली मानने वाले अन्य मतो मे यह दोनो ही दोष लगते हैं । दयानन्द के मत मे परमात्मा राग-द्वेष से रहित होने से न किसी को क्षमा करता है और न किसी को व्यर्थ दण्ड देता है । वह तो गीता के शब्दो मे प्राणियो के कर्मों मे समबुद्धि है ।[2] और जो हठ-पूर्वक यही माने कि परमात्मा ही कर्त्ता है तो इसके उत्तर मे दयानन्द कहते हैं कि यह सिद्धान्त ठीक नही है 'क्योकि जो परमेश्वर कर्म करता तो कोई

१. Ibid, P 102

२ 'समोऽहं सर्वभूतेषु' । गीता ९–२९

जीव पाप नहीं करता क्योंकि परमेश्वर पवित्र व धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्रेरणा नहीं करता।"[1]

इसके अतिरिक्त कर्म-स्वातन्त्र्य को न मानने पर हमारे सामने नियतिवाद का ही सिद्धान्त शेष रह जाता है जिसके पालन करने पर प्राणियों में पुरुषार्थहीनता का फैलना स्वाभाविक है। स्वामी दयानन्द पुरुषार्थहीनता को मनुष्यों का सबसे बड़ा दुर्गुण व शत्रु समझते हैं। सांख्य शास्त्र मोक्ष की प्राप्ति पुरुषार्थ ही से मानता है। और तो क्या तप स्वयं परम पुरुषार्थ का ही दूसरा नाम है। अत. यदि नियतिवाद से पुरुषार्थ की मान्यता समाप्त हो जाय—जैसा कि देखा भी जाता है—तो मानव जाति उन्नति नहीं कर सकती। इससे दयानन्द ने मानव जाति की मूल निर्बलता के सही-सही कारण को समझकर कर्म करने का उपदेश देकर उपनिषदों की नीति-शास्त्र सम्बन्ध मूल भावना का फिर से प्रचार किया कि "मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न हो।"[2] वेदों व उपनिषदों में मनुष्य के लिये अनेक विधि-निषेध हैं जिन पर चल कर मनुष्य को उन्नति करने का आदेश दिया गया है। गीता रहस्य के विद्वान् लेखक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक कहते हैं कि यदि कर्म स्वातन्त्र्य को न माना जाय तब "अमुक प्रकार से बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये, अमुक कार्य करना चाहिए, अमुक नहीं करना चाहिये, अमुक धर्म्य है, अमुक अधर्म्य है इत्यादि विधि-निषेध शास्त्र के सब झगड़े ही आप ही आप मिट जायेंगे।'[3] और फिर वेदान्त शास्त्र सब निरर्थक हो जायेंगे। कान्ट ने नीतिशास्त्र में कर्म-स्वतन्त्रता के प्रश्न को भली-भाँति समझा था, इसलिए नीति की तीन मान्यताओं में उसका भी स्थान है।

स्वामी दयानन्द जीवात्मा को परमात्मा के आधीन तो कहते हैं परन्तु कर्म में नहीं वरन् भोग में। नियतिवाद जीव को कर्म और भोग दोनों में परतन्त्र मानते हैं। दयानन्द के दर्शन में मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं

---

१. सत्यार्थप्रकाश, पृ० १६१

२ सत्यार्थप्रकाश, पृ० १८३

३. गीतारहस्य, पृ० २६९–२७० (१९५०)

निर्माता है।[1] भाग्यवादियो के मत मे वह ईश्वर आधीन है। दयानन्द अपने ही पुरुषार्थ मे मोक्ष-प्राप्ति को बताते है जबकि भाग्यवादी दैव-कृपा से।

कर्म-स्वातन्त्र्य को मानने पर कर्मफल का सिद्धान्त स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। परन्तु कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय हैं जो सही रूप से नियतिवाद के अन्तर्गत नही आते। इससे उन्हे नियतिवादी कहने के स्थान पर दैव-कृपावादी कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। ईसाई सम्प्रदाय के अनुसार ईसा मसीह पर ईमान लाने से ईश्वर पापो को क्षमा कर देता है। मुस्लिम सम्प्रदाय का कथन है कि मोहम्मद पर ईमान रखने वाले दोजख की भयानक आग से बच जायेंगे और अल्लाह उनके पापो को क्षमा कर देगा। स्वामी दयानन्द इन दोनो ही मतो की तीव्र आलोचना करते हैं तथा दार्शनिक रूप मे बताते हैं कि जीव के द्वारा किये हुए कर्म जीव को अवश्य भोगने पड़ेंगे। परमात्मा किसी के भी शुभाशुभ कर्मों को क्षमा नही करता।[2] दयानन्द के शब्दो मे "क्योकि जो (परमात्मा) पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाये और सब मनुष्य महापापी हो जायें। क्योकि क्षमा की बात सुनकर ही उनको पाप करने मे निर्भयता और उत्साह हो जाय।"[3] यहाँ स्वामी जी दर्शन के साथ-साथ मनुष्य की इस मानसिक दुर्बलता की ओर भी सकेत करते हैं कि मनुष्य प्राय वासना तृप्ति की ओर भागते है। और जब उनको विश्वास हो जायेगा कि केवल ईमान लाने मात्र से परमात्मा पाप क्षमा कर देता है तब नीति-नियमो का विधान किसके लिये? फिर शक्तिशाली का आदेश ही नीति के नियम रह जायेंगे।

---

१ "पुरुषार्थ प्रारब्ध से बडा इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधारने से सब सुधरते और जिसके बिगाडने से सब बिगडते हैं, इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बडा है।" स्वामी दयानन्द स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश स० २५।

२ प्रश्न— क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति प्रार्थना करने वाले के पाप छुडा देता है। (दया०) उ०—नहीं।' सत्यार्थ प्रकाश, पृ० १७९

३. वही पृ० १९०

माण्डूक्योपनिषद् पर गौणपादीय कारिकाओं में एक अन्य प्रकार के कर्म-उच्छेदवाद का विचार पाया जाता है। गौणपाद कहते हैं कि न प्रलय है और न उत्पत्ति, न कोई बद्ध है और न कोई साधक, न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त यही परमार्थ सत्य है।[1] इसमें जब कोई बद्ध नहीं है तब फिर किसी के कर्त्ता-भोक्ता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये न कर्म है और न कर्मफल। इस तरह का प्रचार करने वाले परमार्थवादियों के लिये सारा का सारा नीति-शास्त्र ही निर्मूल है। इनके विरुद्ध दयानन्द का दृष्टिकोण यथार्थवादी है जिसमें संसार की सत्ता से मुख नहीं मोड़ा जा सकता इसलिए कर्त्ता, कर्म व कर्मफल ये तीनों ही विद्यमान हैं। यही दयानन्द की महान् प्रतिभा है कि उन्होंने परमार्थ और व्यवहार दोनों ही को एक शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार करते हुए भी दर्शन शास्त्र में इनके विरुद्ध उठने वाले समस्त आक्षेपों का अत्यन्त ही तर्कपूर्ण व व्यावहारिक रूप में उत्तर दिया है।

नीतिशास्त्र का आधार तत्त्व शास्त्र

नीतिशास्त्र का विषय मनुष्य के स्वतन्त्र कर्म हैं। इस शास्त्र में इस बात का विवेचन किया जाता है कि कर्म किस प्रकार करने चाहियें? तत्त्वशास्त्र ईश्वर, जीव, प्रकृति इत्यादि विषयों का तात्त्विक विवेचन करता है। परन्तु इन दोनों शास्त्रों में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। विशेषतः भारतीय दर्शन में इन्हें पृथक नहीं किया गया है। गीता कर्मयोग शास्त्र है, परन्तु उसमें भी ईश्वर की सत्ता, जीव की अमरता एवं प्रकृति की सत्ता इत्यादि विषयों का विशद् विवेचन किया है। कान्ट के नीतिशास्त्र का आधार उनकी तीन मान्यतायें—जीव की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व तथा कर्म-स्वातन्त्र्य हैं और ये तीनों तत्त्व शास्त्र की समस्यायें हैं। जब नीतिशास्त्र किसी अमुक प्रकार के कर्म को करने को कहता है, तब उस कर्म की उपयोगिता की जाँच कि इस प्रकार के कर्म क्यों किये जायें तथा शुभ एवं परम शुभ की हमारी अमुक धारणा ही क्यों हो, के लिये प्रायः सभी दार्शनिकों को तत्त्व शास्त्र की शरण में आना पड़ता है। क्योंकि ईश्वर

---

१. माण्डूक्योपनिषद् पर गौणपादीय कारिका, २–३२

का अस्तित्व, जीव की सत्ता एव परम शुभ का विचार तत्त्व शास्त्र ही निश्चित करता है। उदाहरण के लिये चारवाक दर्शन मे प्रकृति के अतिरिक्त ईश्वर व जीव की कोई सत्ता नही है अतः कर्मफल, पुनर्जन्म, मोक्ष इत्यादि का प्रश्न ही नही उठता। इसलिए चारवाको ने सीधे-साधे "जब तक जियो सुख से जियो और ऋण लेकर भी त्यौहार मनाओ" का उपदेश किया। इसके ठीक विपरीत जैन दर्शन मे दिगम्बर साधुओ को आत्म स्वातन्त्र्य के लिये कर्म-त्याग का ही उपदेश नही वरन् वस्त्र धारण को भी परिग्रह की श्रेणी मे रख पूर्ण अपरिग्रही बन आत्मशुद्धि का आदेश दिया है। परन्तु साथ ही बिना ईश्वर को फलप्रदाता माने जैन दर्शन मे कर्मफल को माना गया है। यह भी तत्त्वशास्त्र मे बिना व्यवस्था के नही है। जैन दर्शन मे अदृष्ट को ही फलप्रदाता मान लिया है स्वामी दयानन्द कर्म व्यवस्था के सम्बन्ध मे कि परम शुभ क्या है ? जीवात्मा का क्या उद्देश्य है ? एव उसे प्राप्त करने के लिये क्या करना चाहिए ? इत्यादि नीति-विषयक सिद्धान्तो का विवेचन विशुद्ध दार्शनिक आधार पर करते हैं।

ब्रह्माद्वैतवादियो की मोक्ष—जो कि परम शुभ है—की आलोचना स्वामी दार्शनिक आधार पर ही करते हैं कि अद्वैतवाद मे अन्त करणोपाधि से ब्रह्म जीव होता है। इसका तात्पर्य हुआ कि अन्त करण जिस-जिस स्थान को जाता है। वहा-वहा का ब्रह्म जीव हो जाता है तथा पूर्व स्थानी ब्रह्म मुक्त होता जाना है। इस तरह से जीव का क्षण-क्षण मोक्ष हो रहा है फिर मोक्ष के लिये प्रयत्न की क्या आवश्यकता है।[1] "ज्ञानन्मुक्ति" अर्थात् सत्य ज्ञान मे ही मुक्ति होती है। इस उक्ति मे भी यही प्रतिपादित किया गया है कि जीवन के परम शुभ की प्राप्ति करने की इच्छा वाले को सत् ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। परन्तु दृष्टिगोचर होने वाले जगत् मे क्या सत् है और क्या असत् इसका निर्णय तो तत्त्वशास्त्र के आश्रय मे ही होगा। और यदि कोई हठपूर्वक यह कहे कि हमे तत्त्वशास्त्र मे सतासत् का निर्णय करने से क्या तात्पर्य, तो उन लोगो की स्थिति ऐसी समझनी चाहिये जो जीवन के सफर मे तो जा रहे हैं परन्तु यह पता नही कि कहा और क्यो जा रहे हैं, एव उनका मार्ग सही भी है या नही। मोक्ष के साधन

---

१. सत्यार्थप्रकाश पृ० १९७

चतुष्टय में स्वामी शंकर ने प्रथम ही सत्य-असत्य वस्तु-विवेक पर बल दिया और दयानन्द के दर्शन में इसे वैराग्य में लिया गया है।[1] और ठीक भी है कि जब हमें यही पता नहीं कि सत्य क्या है, कहीं हमारा स्वय का अस्तित्व भी हो या न हो ? अथवा हो सकता है कि संसार और हम दोनों ही सत्य हों, इन दोनों अवस्थाओं में हमारी समस्यायें एक दूसरे से नितान्त भिन्न होंगी। बौद्ध दर्शन निरीश्वरवादी व अजीववादी है तथापि कर्मफल व पुनर्जन्म तथा निर्वाण को स्वीकार करता ही है। इसी को देखकर तिलक व राधाकृष्णन् सरीखे विद्वानों को यह संशय हो जाता है कि निर्वाण व पुनर्जन्म आदि को मानने वाला दर्शन क्योंकर उच्छेदवादी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नीतिशास्त्र का आधार तत्त्वशास्त्र है और इस रूप में दयानन्द जो बार-बार नैतिक समस्याओं का तात्त्विक विवेचन करते हैं, ठीक ही हैं।

दयानन्द निम्नलिखित तत्त्वों को, तत्त्वशास्त्र से प्रमाणित कर कान्ट की तरह नीति की मान्यताओं के रूप में मानते हैं। केवल अन्तर इतना है कि कान्ट ने तीन मान्यताओं को स्वीकार किया है जबकि दयानन्द के दर्शन में हम इन्हें पाँच रूप में मान सकते हैं।

(१) जीवात्मा अमर है तथा इच्छा, प्रयत्न व ज्ञान उसके स्वाभाविक गुण हैं।

(२) जीवात्मा कर्म करने में स्वतंत्र तथा फल पाने में परतन्त्र है।

(३) जीवात्मा स्वकर्मों से उन्नति व अवनति दोनों ही दिशा में चल सकता है।

(४) जीवात्मा का परम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। वही परम शुभ तथा-ब्रह्म साक्षात्कार है।

(५) ईश्वर कर्मफल प्रदाता है।

---

१. वैराग्य अर्थात् जो विवेक से सत्यासत्य को जाना हो उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना विवेक है। जो पृथिवी से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के गुण कर्म स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञा पालन और उपासना में तत्पर होना · ·· विवेक कहलाता है।'

सत्यार्थप्रकाश, पृ० २४६

कान्ट ने कर्मशास्त्र की जो तीन पूर्व मान्यतायें कही हैं, उनसे स्वामी दयानन्द का कोई विरोध नही है, वरन् स्वामी जी ने तत्त्वशास्त्र के अनुरूप उन्हे और भी स्पष्ट कर दिया है। परन्तु इनसे यह निर्णय नही करना चाहिए कि कान्ट का स्वामी जी पर प्रभाव था। नही, बिल्कुल नही। स्वामी जी कान्ट को जानते भी न थे। इसके अलावा कान्ट का दर्शन अज्ञेयवाद की दीवार को नहीं भेद सका, इसलिये उन्होने जीव का स्वरूप, जीव का लक्ष्य एवं परम तत्त्वों का साक्षात्कार इन विषयो को अज्ञेय कहकर इनसे पीछा छुडाया। परन्तु दयानन्द तथ्य की पूर्ण गहरायी तक पहुचे तथा उन्होने वैदिक ऋषियो की परम्परानुसार ब्रह्म-साक्षात्कार तथा समस्त तत्त्वो को ज्ञेय कहा है। यदि हम सत्य को नही जान सकते तब तत्त्व शास्त्र निरर्थक है और मानव प्रयत्न तुच्छ व तथ्यहीन हैं। दयानन्द मानवीय प्रयत्नो की, यदि वे सही दशा मे किये जायें, पूर्ण सफलता मे विश्वास रखते हैं। नीतिशास्त्र मे मानवीय सफलता मे विश्वास अत्यन्त आवश्यक है।

परम शुभ अर्थात् मोक्ष परम शुभ है

यदि हमें, हमारे जीवन के समस्त दुखों का नाश होकर, सदैव रहने वाला आनन्द प्राप्त हो, तब इससे बढकर जीवन का क्या उद्देश्य हो सकता है। यद्यपि सुखवादी नीतिशास्त्र भी सुख की प्राप्ति का आदर्श ससार के सामने रखते हैं परन्तु उनका आदर्श शारीरिक एव वासनात्मक सुख तक ही सीमित है। जबकि शाश्वत आनन्द वासना तृप्ति से प्राप्त होने वाले सुख के त्याग से मिलता है। वासनाओ मे लिप्त व्यक्ति इन्द्रियो का दास, विषयो के सम्मुख दीन एव सकुचित वृत्तिवाला होता है। परन्तु मोक्षरूपी परमानन्द को प्राप्त करने वाला व्यक्ति इन्द्रियों का स्वामी अर्थात् इन्द्र, दृढ सकल्प-शक्ति का धनी एवं विशाल हृदय वाला होता है।

स्वामी दयानन्द मानव जीवन के परम शुभ को सदैव रहने वाले परमात्मसुख मोक्ष मे ही देखते हैं।

स्वामी जी कहते हैं—

प्र०— (जीव) किससे छूटना चाहते है ?

उ०— दयानन्द) – दुख से।

प्र०— दुःख से छूटकर किसको प्राप्त होते तथा कहाँ रहते हैं ?

उ०— (दयानन्द) "सुख को प्राप्त होते और ब्रह्म में रहते हैं।"[1]

जीव-जगत् के समस्त प्राणी दुःख से छूटने की कोशिश करते हैं और जैसे कि महाभारत कहता है कि प्राणियों की समस्त क्रियायें सुख प्राप्ति के लिये ही होती हैं।[2] सांख्यदर्शनकार महर्षि कपिल अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह प्रतिज्ञा करते हैं कि प्राणियों को होने वाले तीन प्रकार के दुःखों से दूर करने के लिये यह शास्त्र निर्मित किया गया है।[3] योग, न्याय, जैन व बौद्ध आदि सब सम्प्रदाय दुःख दूर कर सुख की प्राप्ति करना मानवजीवन का सर्वोच्च पुरुषार्थ कहते हैं। और तो क्या कर्तव्याकर्तव्य के लिये कहने वाले कान्ट भी यही कहते हैं कि इस आदर्श पर चलने वाला व्यक्ति ही वास्तविक अर्थों में सुखी रह सकता है।[4] और यह ठीक ही है। हम मानव स्वभाव की इस वास्तविकता से मुख नहीं मोड सकते कि सब प्राणियों की तरह मानव भी दुःख से कतरा कर सुख की खोज करता है। परन्तु इससे सुखवादियों को प्रसन्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि प्राणियों द्वारा सुख की खोज का स्वाभाविक होना मनुष्यों को आवश्यक रूप से ऐपिक्यूरियनों या चारवाकों की तरह सुखवादी बनाना नहीं है। स्थूल रूप से सुख का विवेचन करने वाले चारवाक मानव स्वभाव की अपरिमित सुखाभिलाषा की गहराई तक नहीं पहुँचते वरन् उनका लक्ष्य केवल वासनात्मक अबौद्धिक व सहज में प्राप्त होने वाला ऐन्द्रिक सुख ही है। उनके मत में यही सुख मानवीय पुरुषार्थ का परम फल है। सुखवादी मनोविज्ञान के इस तथ्य को भूल जाते हैं कि भोगेच्छा भोगने

१— सत्यार्थ प्रकाश, पृ० २४१

२— दुःखादुद्विजते सर्वं सर्वस्य सुखमभीप्सितम्। महाभारत शान्ति १३९-१६

३— अथ त्रिविध दुःखात्यन्त निवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः। सांख्यसूत्र १।१

४— "Further Kant considers that though the virtuous man does not aim at happiness, yet the complete well being of a human being includes happiness as well virtue".

A Manual of Ethics P 192 by J. S, Mackenjie, VI Ed. 1929.

से अधिक बलवती होती है, जो प्राणियो को निरन्तर भोगो मे प्रवृत रखती है और अन्त मे जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे प्राणी शक्तिहीन हुआ भी भोगो को अत्यन्त कातर व दीन-दृष्टि से देखता ही रहता है। जैसा कि महाराज भर्तृहरि कहते हैं कि भोगो को भोगने मे प्राणी वास्तव मे भोगो को नही भोगता, वरन् स्वय भोगो द्वारा भोग लिया जाता है।[1] स्वामी दयानन्द सुखवादियो द्वारा प्रतिपादित भोगवाद को अत्यन्त तुच्छ एव मूर्खतापूर्ण मानते हैं[2] जिसमे कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति फसना पसन्द नही करेगा।

इसके अलावा कुछ विद्वान् अधिक व्यक्तियो के अधिक सुख का विचार कर्मशास्त्र मे रखते हैं। उनका कहना है कि सुख प्राप्त करना मनुष्य का उद्देश्य है, परन्तु हमे सदैव उस सुख को प्राथमिकता देनी चाहिए जिसमें अधिक लोगो का अधिक सुख निहित हो। यह सिद्धान्त मानव जीवन के परम शुभ के रूप मे सुखवादियो से कुछ अच्छा अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु है यह भी स्वार्थ पर आधारित। इसके अतिरिक्त यह नीतिशास्त्र के स्थान पर सामाजिक सगठन के सिद्धान्त के रूप मे अधिक उपयुक्त है। यद्यपि यहाँ भी यह सार्वभौम नियम नही बन सकता। क्योकि यह हो सकता है कि अधिक लोग किसी ऐसी बात के पक्ष मे हो जो अन्यायपूर्ण हो और अल्पसख्यक न्यायपूर्ण हो तब क्या यहाँ पर यह नियम खरा उतरेगा? मानव जीवन के परम शुभ के रूप मे हमे मनुष्य के जीवन के हर पहलू से विचार करना पडेगा। जीवन के किसी भाग को छोडा नही जा सकता।

बुद्धिमान व्यक्ति हर वस्तु या सिद्धान्त की उपयोगिता का निर्णय करते समय उसकी भली प्रकार जांच कर लेता है और फिर उसको जीवन में यथायोग्य स्थान पर लागू करता है। दुखो को दूर करना जीवन का उद्देश्य है, परन्तु क्षणिक सुख के मुकाबले सदैव बना रहने वाला सुख

१– 'भोगानभुक्ता वयमेव भुक्ता-स्तपो न तप्त वयमेव तप्त। कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्ण। वैराग्य शतकम्।१२।

२. 'विषय रूपी सुख मात्र को पुरुषार्थ का फल मानकर विषय दुख निवारण मात्र मे कृतकृत्यता और स्वर्ग मानना मूर्खता है।'

सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४२३

निश्चय ही उत्तम है। शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये यदि वासना-तृप्ति से उत्पन्न क्षणिक सुख का त्याग करना भी पड़े तो भी क्या है। उच्च कोटि के उदात्त सुखवादी क्षणिक सुख से कुछ देर रहने वाले सुख को अच्छा समझते हैं और कुछ देर वाले सुख से अधिक देर तक रहने वाले सुख को। लेकिन दयानन्द तो ऐसे सुख की बात करते हैं जो सदैव रहने वाला है। दूसरी तरफ स्थूल सुखवादी हो या उदात्त सुखवादी दोनों का सुख इन्द्रिय सुख है। किन्तु दयानन्द उस सुख को मानव जीवन का उद्देश्य कहते हैं जो इन्द्रियों के क्षेत्र व विषय से बाहर है। अतीन्द्रिय होने से यह सुख न रहकर आनन्द की संज्ञा धारण कर लेता है। जैसा कि उपनिषद् कहता है कि वह, वो स्थान है जहाँ वाणी भी नहीं जा सकती, जहा चक्षु इत्यादि किसी शारीरिक व मानसिक इन्द्रियों का प्रवेश नहीं है। वह ऐसा इन्द्रियातीत सुख है। शास्त्रों में इसकी संज्ञा आनन्द है। उस आनन्द का वर्णन वाणी नहीं कर सकती क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण में ग्रहण करता है।[1] स्वामी जी कहते हैं कि इस अवस्था में जीवात्मा का परमात्मा से साक्षात्कार हो जाता है और मर्त्य अमृतमय हो जाता है। यही मोक्ष की अवस्था है। यहाँ जीवात्मा अपनी संकल्प शक्ति से ही आनन्द का भोग करता है।

आत्म-साक्षात्कारवादी नीतिशास्त्री सुख से अतिरिक्त आत्मा की शक्तियों अर्थात् व्यक्तिगत शक्ति व सामाजिक शक्तियों के साक्षात्कार को आत्मा का परम लक्ष्य मानते हैं। सर्वन मूल्यों के सिद्धान्त का निरूपण भी आत्म-साक्षात्कार से करते हैं कि शारीरिक, सामाजिक व आध्यात्मिक मूल्यों का समन्वय एवं उनका सम्यक् प्रकार धारण करना ही आत्म-साक्षात्कार है। लेकिन इन लेखकों ने आत्म-साक्षात्कार को मानव जीवन में एक अच्छे सामाजिक इन्सान के सफल व्यवहार से अधिक कुछ नहीं समझा। क्योंकि जब तक आत्मा का स्वरूप व इस संसार में उसका उद्देश्य नहीं समझा जायेगा तब तक हम आत्म-साक्षात्कार से कुछ नहीं समझ सकते। जीवन का परम शुभ समझने के लिए हमें पहले तत्त्वज्ञान प्राप्त करना होगा फिर

१. 'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्त करणेन गृह्यते'। सत्यार्थ प्र०, पृ० १८४

हम जान सकते हैं कि जीवन वास्तव मे किसलिए बना है। पाश्चात्य आत्म-साक्षात्कारवादी अभी इस स्तर पर नही गये हैं। किन्तु दयानन्द अन्य वैदिक दार्शनिकों के ही समान मुक्ति या परमानन्द अर्थात् प्रकृति के गुण बधनो से मुक्ति प्राप्त कर परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करना ही जीवन का वास्तविक उद्देश्य बताते हैं।

आत्म-साक्षात्कारवादियो के विरुद्ध प्राय. यह आरोप लगाया जाता है कि यह मत केवल अपनी ही उन्नति मे सतुष्ट रहने वाले विचारकों का है। इससे यह भी स्वार्थपरता का एक उदात्त उदाहरण है। यह आरोप यूरोप के किन-किन विचारको के विरुद्ध ठीक बैठता है इस पर हम यहां विचार नही करेंगे। परन्तु स्वामी दयानन्द व वैदिक विचारको के आत्म-साक्षात्कारवाद के विरुद्ध तो यह बिल्कुल नही लगता। क्योकि आध्यात्मिक उन्नति मे किसी से किसी का कोई विरोध नही हो सकता और न ही यह बाँटी जा सकती है जिससे कम होने का भय हो। तथा प्रत्येक आध्यात्मिक पुरुष सत्य को जानने के बाद परोपकार के लिए स्वभाव से ही उद्यत होता है। और फिर स्वामी दयानन्द तो स्पष्ट कहते हैं कि "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सतुष्ट नही रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिये।"[1] इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि दयानन्द द्वारा वर्णित मानव जीवन का ध्येय ही नीतिशास्त्र मे निरापद है जो कि वेद, उपनिषद् व सर्वशास्त्र सम्मत है तथा जिसमे एक स्वस्थ समाज को बनाने की क्षमता के साथ-साथ परम सत्य को प्राप्त करने का विधान भी है। इस दर्शन मे परम शुभ और परम सत्य एक ही है जो कि प्राणीमात्र का परम शिव (Highest Good) है।

जीवात्मा का दुखो से छुटकारा बिना सत्यज्ञान के नही हो सकता। अविद्या के कारण जीव विषय-वासनाओ की तृप्ति मे प्राप्त होने वाले सुख को ही जीवन का परम पुरुषार्थ समझ लेता है। इसलिए अविद्या के क्षय एव सत्य के ज्ञान, जिसमे परमात्मा का ज्ञान भी सयुक्त है, से ही मुक्ति अर्थात् दुखो से छुटकारा प्राप्त होता है। शरीरजन्य सुखो की अनित्यता ज्ञान से ही

१ आर्य समाज का नवा नियम, दयानन्द द्वारा निर्मित।

जानी जाती है। इस प्रकार दयानन्द मानव जीवन के परम शुभ के विषय में स्पष्टतया उपनिषदों से सहमति रखते हैं, तथा उपनिषदो के मन्त्रो के हवाले से कहते हैं कि 'जब जीव की अविद्यादि बन्धन की गाठें छिन्न-भिन्न होके टूट जाती हैं तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है" तथा ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है वही मोक्षपद कहाता है और मुक्त पुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं।

सुखवाद-तपश्चर्यावाद व कर्म-सन्यास-मार्ग

सुखवादी बुद्धि को इन्द्रियो के सुख प्राप्त करने में सहायक मानते हैं। चारवाकों से भी गया बीता तथा इन्द्रिय सुख को ही प्रधान मानने वाला एक वाममार्गी सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के अनुसार मद्य, मांस, मीन, मुद्रा व मैथुन इन पाच मकारो के सेवन से मुक्ति कही गई है। कुछ विद्वान् इन पाच मकारों के आध्यात्मिक व मनोवैज्ञानिक अर्थ करते हैं परन्तु वे उनके ग्रन्थों मे वर्णित उन प्रकरणो की, जिनमें स्पष्टत. वाममार्ग है, क्या व्याख्या करेंगे? यह समझ मे नहीं आता। ऐसा ही एक सम्प्रदाय कुलार्णव तन्त्र मे दिया हुआ है कि भैरवी चक्र के प्रवृत्त होने पर सब व्यक्ति एक वर्णस्थ हो जाते है फिर माता को छोडकर कन्या, बहिन व पत्नि सभी रमण के योग्य हैं। अत्यधिक मद्यपान करने वाले का पुनर्जन्म नही होता।¹ स्वामी दयानन्द ने ऐसे सम्प्रदायों की अपने सत्यार्थ प्रकाश मे कड़ी भर्त्सना की है। एक बार केवल इन्द्रिय-सुख को सब कुछ मान लेने पर फिर सामाजिक व्यवस्था को नष्ट करने वाले ऐसे वाममार्गियों से बचना असम्भव है।

सुखवाद के दूसरी तरफ तपश्चर्यावाद का कठिन मार्ग है कि हर कीमत पर धर्म का आचरण करो और इसके लिए हर प्रकार के कष्ट सहने के लिये तैयार रहो। यहा तक तो इसमें कठोरता की बू नहीं आती परन्तु ये लोग बुद्धि की श्रेष्ठता के पीछे इन्द्रियों को पशु-जीवन का चिन्ह बताकर उनके दमन पर बल देते हैं। स्वामी जी इन्द्रियो के शक्तिपूर्वक दमन को

---

१. (i) 'पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत्पतति भूतले। पुनरुत्थाय वै पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।' (१) कुलार्णव तन्त्र ७।१००

(ii) 'मातृयोनि परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु।' महानिर्माण तन्त्र।

नही मानते। उनका कहना तो यह है कि शरीर को उत्तम पौष्टिक भोजन से स्वस्थ रखना चाहिये और ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिससे आरोग्य बढे। वे इस बात को जानते थे कि इन्द्रियो के वेग को और विशेषत काम के वेग को रोकना बडा कठिन कार्य है।[1] इसलिए युवावस्था मे भोग प्राप्ति के लिए गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने का आदेश देते हैं। उनका यह निश्चित मत है कि गृहस्थ मे रहने वाला व्यक्ति अपनी ही भाया से ऋतुगामी होकर सन्तुष्ट होवे, इस प्रकार वह ज्ञान-विज्ञान को बढाकर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

परन्तु गृहस्थ जीवन का अर्थ असयत जीवन नही है। सयम और दमन इनमे काफी अन्तर है। दमन किसी शक्ति की वास्तविकता से मुख मोडना है जबकि सयम उस पर विजय प्राप्त करना है। दमन बुद्धिहीन क्रिया है परन्तु सयम बौद्धिक है। सयत जीवन ससार के हर रहस्य को समझने की शक्ति रखता है। चक्राकित वैष्णवो का विश्वास हैशरीर पर विष्णु आदि की मूर्ति आग मे तपाकर अकित करने से विष्णु लोक प्राप्त हो जाता है। कुछ व्यक्तियो का विचार है कि विभिन्न तीर्थ करने से छुटकारा मिल जाता है, गगा इत्यादि नदियो मे स्नान करने से अपनी ही नही वरन् पूर्वजो की भी मुक्ति हो जाती है। हिन्दू स्त्रियो मे प्रचलित विश्वास है कि मुख्य तिथियो एव पर्वो पर व्रत रखने से सब कामनायें पूर्ण होती हैं। तथा मीमासको का मत है कि वैदिक विधि-विधानो से यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है। स्वामी जी शरीर को सुखाने वाले साधनो से मुक्ति को नही मानते। होम करना स्वामी जी के विचार से शुभ कार्य हैं क्योकि इससे वायुमण्डल शुद्ध होकर आरोग्य बढता है, परन्तु केवल यज्ञ करने से मुक्ति प्राप्त होती है, इसे वे नही मानते। काम्य कर्म चाहे वे स्वर्ग की प्राप्ति के लिए किए गए हो उनका कर्मफल तो भोगना ही पडेगा और उनके लिये जन्म-धारण करना पडेगा। इसलिए मीमासको द्वारा फल की भावना से किए गये कर्म मोक्ष के देने वाले नही हो सकते इसके अतिरिक्त विधि-विधानो द्वारा किए गये यज्ञ से पापो के क्षय की भावना से अधर्म को बढावा मिलेगा क्योकि हर कोई जो यज्ञ करने व करवाने मे समर्थ होगा, इसलिये पाप-

१. बृहद सत्यार्थप्रकाश, पृ० ४८

कृत्य करेगा कि यज्ञों द्वारा उनके प्रभाव को नष्ट किया जा सकता है। इस पर प्रश्न उठता है कि तो फिर क्या कर्म छोड़ दिये जायें। परन्तु यह बिल्कुल असम्भव है क्योंकि कोई भी पुरुष एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता। और तो क्या पलकों को उठाना व गिराना भी तो कर्म ही है। यही नहीं बल्कि स्वभाव से होने वाले इन कर्मों का भी कोई उद्देश्य होता है यथा चक्षुओं पर किसी सम्भावित विपत्ति आने पर पलक स्वयमेव झुक जाती हैं। इसी प्रकार मनुष्य के सब कर्म चाहे नित्य कर्म हों या विशिष्ट सबके पीछे आवश्यकता अर्थात् उनसे उत्पन्न शुभ फल की कामना होती है। दयानन्द कर्मों में निहित इस मनोवैज्ञानिक तथ्य व मनु के श्लोक के हवाले से स्वीकार करते हुये कहते हैं कि "निष्काम पुरुष में नेत्र का सकोच-विकाश का होना भी सर्वथा असम्भव है, इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ भी (कोई) करता है वह चेष्टा कामना के बिना नहीं है।"[१] फिर कर्मों का पूर्ण सन्यास सम्भव हो यह मुमकिन नहीं। कर्म आवश्यक हैं और इनसे छूटा नहीं जा सकता। इससे दयानन्द मनुष्यमात्र को उपदेश करते हैं कि मनुष्य सौ वर्ष पर्यन्त अर्थात् जब तक जीवे तब तक कर्म करता हुआ जीने की इच्छा करे, आलसी कभी न बैठे। तथा कर्म कर्मफल की भावना को त्यागकर करे।

कर्म व ज्ञान समन्वय

गीता में मोक्ष प्राप्ति के दो मुख्य साधन सांख्ययोग व कर्मयोग का वर्णन है कि ये दोनों ही मार्ग एक ही लक्ष्य तक पहुँचाते हैं चाहे इनमें से किसी का भी पालन कर लिया जाय। परन्तु एक गृहस्थी के लिये कर्म छोड़ कर जंगल में निष्कर्म बैठ ज्ञान-मार्ग का अवलम्बन करना नितान्त असम्भव है इसलिए गीता में कर्मयोग के मार्ग को ही श्रेष्ठ बताया है, परन्तु ज्ञान का कर्म में नितान्त अभाव नहीं। स्वयं श्री कृष्ण ने कर्मयोग के महत्व को समझाते हुए तत्वशास्त्र का ज्ञानपूर्वक विवेचन किया है कि जीव अमर है प्रकृति के गुण हमारे लिए बन्धनकारी है अतएव त्रिगुणातीत होकर फलाशा का

१. अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यपि कुरुत किंचित तत्तत्कामस्य चेष्टम्। (मनु० २-४) सत्यार्थप्रकाश पृ० ४७

त्याग करने मे कर्मों मे बन्धन पैदा करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। बिना ज्ञान के कर्मयोग का अवलम्बन नही किया जा सकता। एक अज्ञानी के मस्तिस्क मे कर्मयोग की उपयोगिता कभी नही बिठाई जा सकती है। फिर वह उस पर आचरण ही क्या करेगा। स्वामी दयानन्द ज्ञान और कर्म दोनो को ही आवश्यक समझते हैं।[1] उपनिषद, सांख्य व अन्य दर्शनो का भीय हो मत है कि ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं।[2] और जिसे बौद्ध व जैन सम्प्रदाओ ने भी यथावत् स्वीकार किया है। यहा ज्ञान का अर्थ है तत्वो का सम्यक ज्ञान तथा सृष्टि विद्या एव सृष्टि के पदार्थों का यथावत ज्ञान।[3] तत्व ज्ञान होने पर जीवात्मा सुख-दुख आदि विकारो की वास्तविकता जानकर उनकी अनित्यता व तुच्छता का ज्ञान कर लेता है। उस अवस्था मे उसके कर्म स्वार्थ बुद्धि मे उत्पन्न काम्य कर्म नही होते वरन् लोकोपकार के निमित्त कर्त्तव्य समझकर किये गये कर्म होते हैं। इसमे सन्देह नही कि इन कर्मों का भी कोई लक्ष्य होता है परन्तु लक्ष्यो की प्राप्ति अथवा अप्राप्ति इन दोनो पर ही योगी समबुद्धि रहता है। यही कर्मयोग है। इस मार्ग का पालन स्वार्थ बुद्धि को जीतने वाला जितेन्द्रिय पुरुष ही कर सकता है। जितेन्द्रियता का अर्थ स्वामी दयानन्द की भाषा मे केवल इन्द्रियो का सयम ही नही वरन् मन का भी सयम है। मन के सयम के बिना इन्द्रियें काबू मे नही आ सकती। दयानन्द कहते हैं "जितेन्द्रिय उसको कहते हैं जो स्तुति सुन के हर्ष और निन्दा सुन के शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुख, सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्ट रूप देख के अप्रसन्न उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुखित, सुगन्ध मे रुचि और दुर्गन्ध मे अरुचि नही करता।[4] स्वामी दयानन्द के जितेन्द्रिय पुरुष व गीता के समबुद्धि मे कोई भेद नही है। कर्मों के रहस्य को बुद्धि से जानने वाला तथा ज्ञानपूर्वक कर्मों

१ "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है वह विद्या अर्थात् कार्मोपासना से मृत्यु को तर के विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।' सत्यार्थप्रकाश पृ० २३६

२ 'ज्ञानान्मुक्ति।' सांख्य सूत्र ३–२३

३. 'यथार्थ दर्शन ज्ञानमिति।' सत्यार्थप्रकाश पृ० १८६

४. सत्यार्थप्रकाश, पृ० २६६–२६७

का आचरण करने वाला ही वेदो मे विद्या व अविद्या दोनो का अधिकारी कहा गया है। स्वामी जी कहते हैं कि "जो मनुष्य विद्या और अविद्या के स्वरूप को साथ-साथ जानता है वह विद्या अर्थात् कार्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त होता है।[1]

नैतिक धर्म (*Moral Virtues*)

वही नीतिशास्त्र सफल नीतिशास्त्र कहा जा सकता है जो मानव जीवन के सासारिक व अध्यात्मिक दोनो पहलुओ का विवेचन करता हो। स्वामी दयानन्द अपने दर्शन में मायावाद के विरुद्ध जगत की सत्यता को स्वीकार करते हैं इसी प्रकार उन्होने अपने नीतिशास्त्र मे सांसारिक जीवन यथावत् समझा है। उनका उद्देश्य था कि मनुष्य सांसारिक उन्नति भी करे और पारलौकिक जीवन को भी सुधारे। इन्हीं को अभ्युदय और निःश्रेयस कहा है। वैशेषिक दर्शन अभ्युदय और नि श्रेयस दोनो की सम्यक् प्राप्ति को धर्म कहता है।[2] स्वामी जी वैशेषिक धर्म की इस परिभाषा को पूर्णत मानते हैं। उनका कहना है कि जिन कर्मों के आचरण से इच्छित सम्यक् सासारिक सुख एव जिनसे मोक्षरूपी पारमार्थिक सुख प्राप्त हो उसे ही धर्म मानना चाहिये, इसके विपरीत आचरण अधर्म है।[3]

चार लक्षण वाला धर्म— लेकिन धर्म का उपरोक्त प्रकार से वर्णन वर्णन कर देने मात्र से नीतिशास्त्र से छुटकारा नही मिल सकता क्योंकि, शास्त्र में उन आचरणो का प्रतिपादन होना चाहिये जो अभ्युदय और नि श्रेयस को प्राप्त करा देने की सामर्थ्य रखते हों। मनुस्मृति से सहमत होकर स्वामी जी धर्म के चार लक्षण बताते हैं "(पहला) वेद (दूसरा) स्मृति, वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृत्यादि शास्त्र, (तीसरा) सत्पुरुषो का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म और (चौथा) अपने आत्मा में

१ सत्यार्थप्रकाश पृ० २३७

२. यतोऽभ्युदय नि श्रेयस सिद्धि स धर्म । वै० १। १। २

३ "यस्याचरणादभ्युदय सांसारिकमिष्ट सुखं सम्यक् प्राप्त भवति, येन नि श्रेयस पारमार्थिक मोक्ष सुख च, स एव धर्मो विज्ञेय । अतो विपरीतोऽह्यधर्मश्च" । दयानन्द ग्रयन्माला भाग१, पृ० ३९९

प्रिय अर्थात् जिसको आत्मा चाहता हो जैसा कि सत्य भाषण, ये चार धर्म के लक्षण हैं।"[1] स्वामी दयानन्द के लिये वेद परमेश्वर प्रदत्त उच्चतम सदाचार व विद्या के ग्रन्थ हैं इसलिये इनमे वर्णित आचार धर्म दयानन्द के नीतिशास्त्र मे सर्वोपरि है। दयानन्द द्वारा मान्य वेदो मे नीति धर्म व आचारशास्त्र के नियमो को खाजने के लिये हमे महीधर व उव्वट अथवा मैक्समूलर इत्यादि के भाष्यो को अपना मार्ग-दर्शक नही बनाना चाहिये। वेद मे उच्च कोटि के आचारशास्त्र के नियम, प्राचीन ऋषियो व उनकी प्रणाली का अनुसरण करने वाले दयानन्द की व्याख्या मे ही मिल सकते हैं। दयानन्द के लिये मनुस्मृति के कुछ प्रक्षिप्त श्लोको को छोडकर जो वेदो व सत्य के विपरीत हैं बाकी सब आचार-शास्त्र मे प्रमाण हैं। इसके अलावा सत्पुरुषो के आचरण पर चलना जैसा कि वे धर्म के सम्बन्ध मे वर्तते है तथा सबस अधिक आत्मा के अनुकूल आचरण करना ही सदाचार के लक्षण है। मनुष्य का आत्मा असत्य व्यवहार करते हुए हिचकिचाता है।[2] यदि मनुष्य स्वार्थ का परित्याग कर आत्मा के आदेशो के अनुकूल चले तब वह शायद ही गलत मार्ग पर चले। इसी प्रकार कांट भी हमे शुद्धबुद्धि की शरण मे जाने का आदेश देते हैं। कांट की शुद्धबुद्धि स्वार्थरहित बुद्धि है और यही उनके नीतिशास्त्र का आधार है। परन्तु दयानन्द ने आत्माचरण अर्थात् शुद्धबुद्धि के अतिरिक्त धर्म के तीन अन्य लक्षण भी किये है, जिससे व्यक्ति यदि कही भी भ्रमित हो तो उसे सही मार्ग का सरलता से पता चल जाय।

ग्यारह नैतिक धर्म (Moral Virtues)—यद्यपि सत्य व्यवहार स्वामी दयानन्द के कर्मशास्त्र मे मुख्य धर्म कहा गया है तथापि मनु के दस लक्षणो में अहिंसा और सयुक्त करके दयानन्द धर्म के ग्यारह लक्षण बताते है।

---

१ सत्यार्थप्रकाश पृ० ४८ व मनु० २।१२

२ "मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषो से सत्य को छोडके असत्य मे एक झुक जाता है।" सत्यार्थप्रकाश की भूमिका, पृ० २।

(१) अहिंसा—किसी से वैर बुद्धि करके उसके अ नष्ट करने मे कमी न वर्तना।

(२) धृति—सुख-दुःख हानि-लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य मे स्थिर रहना।

(३) क्षमा—निन्दा, स्तुति, मानापमान का सहन करके धर्म ही करना।

(४) दम—मन को अधर्म से हटाकर धर्म ही मे प्रवृत्त रखना।

(५) अस्तेयम्—मन कर्म, वचन से अन्याय और अधर्म से पराये द्रव्य का स्वीकार न करना।

(६) शौचम्—रागद्वेषादि के त्याग से आत्मा और मन को पवित्र और जलादि से शरीर को शुद्ध रखना।

(७) इन्द्रियनिग्रह—श्रोत्रादि बाह्य इन्द्रियो को अधर्म से हटा कर धर्म ही में चलाना।

(८) धी—वेदादि सत्य विद्या, ब्रह्मचर्य, सत्सग करने, कुसग, दुर्व्यसन, मद्यपानादि त्याग से बुद्धि को सदा बढाते रहना।

(९) विद्या—जिससे भूमि से लेके परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों का यथार्थ बोध होता है उस विद्या को प्राप्त करना।

(१०) सत्यम्—सत्य मानना, सत्य बोलना, सत्य करना।

(११) अक्रोध—क्रोधादि दोषो को छोड़कर शान्त्यादि गुणो का ग्रहण करना धर्म कहाता है।[1]

'सत्य" मुख्य धर्म (Cardinal Virtue) है—इसके विपरीत आचरण अनाचार व व्यसन है जो जीवात्मा को दु खादि के बन्धन में ले जाता है। उपरोक्त धर्मों में भी स्वामी जी सत्याचरण को मुख्य धर्म (Cardinal Virtue) मानते है। मन, वचन व कर्म मे सत्य का पालन करना सबका वास्तविक धर्म है। मुण्डकोपनिषद् कहता है कि 'सत्य के पालन तप व ब्रह्मचर्य से आत्मा परमात्मा को जान लेता है।[2] 'सत्य ही से विजय मिलती है असत्य से नही।"[3] स्वामी जी कहते हैं कि 'ऋत" भी इसी का नाम है

१. दयानन्द ग्रन्थमाला, शताब्दी सस्करण, भाग २ पृ० २१०-२११

२ मु० उ० ३-१-५ ३. वही ३-१-६